Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन

डॉ॰ सच्चिदानन्द मिश्र

7143

पूर्वा-संस्थान
गोरखपुर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन

पूर्वा-संस्थान
गोरखपुर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

308

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

State Museum Library Lucknow
7149

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
लखनऊ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन के कतिपय पक्ष

(आदिम जन-सन्निवेशों की स्थिति एवं जीवन)

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी संग्रह
लखनऊ

डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र
प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

State Museum Library
7149
Lucknow

प्रकाशक
पूर्वा-संस्थान
गोरखपुर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकाशक :

पूर्वा-संस्थान
११, हीरापुरी
विश्वविद्यालय परिसर
गोरखपुर—273 001

यह ग्रन्थ भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रदत्त अनुदान से प्रकाशित है। ग्रन्थ में अभिव्यक्त विचार लेखक के हैं। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् उनके लिए उत्तरदायी नहीं है।

© 1984, सच्चिदानन्द मिश्र

प्रथम संस्करण 1984
मूल्य : 80.00

मुद्रक :

हिन्दुस्तानी आर्ट काटेज,
लखनऊ—226 018

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वातंत्र्ये समरे च शस्त्रविधिना तर्कैस्तथा संसदि ।
धर्मे चार्थविधौ च लोकचरितं येषां समं शोभते ॥
तेषां गौतम-गोत्र-मिश्र बदरीनारायणाख्यावतां ।
पुत्रोऽहं तु समर्पये कृतिमियं तत्पादपाथोजयोः ॥

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आलोक

ज्योतिर्यदह्ने अकृणोदु लोकम् ।

ऋ० 9.92.5

आधुनिक इतिहास-चिन्तन केवल 'व्यावहारिक सत्ता' के विवेचन तक ही सीमित है, पारमार्थिक सत्ता के बोध के लिये आज के इतिहासकार के पास न तो साधन है और न उसकी अभिरुचि ही । इस व्यावहारिक सत्ता के ज्ञान के लिये उसके प्रमाण प्रमुखत: लौकिक प्रत्यक्ष, उपमान और अनुमान ही हैं—और अनुमान भी उन वस्तुओं और घटनाओं का जो प्रत्यक्ष-गम्य हों, जो दृश्य हो सकें । अदृष्ट एवं अदृश्य—इन्द्रियानुभूति के क्षेत्र को अतिक्रांत करने वाला सम्पूर्ण क्षेत्र—, आधुनिक इतिहासकार की चिन्तन-परिधि के बाहर है । इसलिये लौकिक जगत् की अलौकिक व्याख्या, अथवा 'अदृष्ट' 'अपूर्व' कारण-परम्परा उसको स्वीकार्य नहीं ।

इससे प्राचीन भारतीय समाज के अध्ययन में एक विसंगति उत्पन्न हो जाती है । प्राचीन भारतीय समाज दर्शन की प्रमुख धारा जगत् की अलौकिक तत्त्व के संदर्भ में व्याख्या करती है, समाज-राज्य को अखण्ड, अविभाज्य परमतत्त्व, पुरुष अथवा विराट् का प्रतिफलन मानती है, प्रकृतिजन्य व्यवस्था, नैतिक-व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था को 'ऋत' का प्रतिरूप स्वीकार करती है । किन्तु यह अलौकिक दृष्टि आधुनिक इतिहास को ग्राह्य नहीं । अत: इतिहासकार प्राचीन भारतीय समाज के विविध विधानों का—वर्ण, आश्रम, राज्य-प्रकारों का तत्कालीन व्याख्यागत मूल्यों और आदर्शों के संदर्भ में उस आधुनिक व्याख्या-पद्धति से विवेचन करता है जो प्राचीन पारम्परिक संस्कृति से भिन्न ही नहीं अपितु मूलत: विरोधी है ।

इस क्रम में यह भी कह दिया जाय कि प्राचीन समाज की व्याख्या के इस आधुनिक दर्शन में अनेक दृष्टियाँ और पद्धतियाँ हैं और उनमें भी वैषम्य है । यदि आङ्ल साम्राज्य-वादी इतिहासकारों ने प्रशासक की दृष्टि से प्रशासितों के पुरातन दाय को हेय के रूप से व्याख्यापित किया तो उदीयमान राष्ट्रीयता ने उसमें अनेक उदात्त गुणों का समन्वय देखा । मार्क्सवादी इतिहासकारों ने एंगिल्स और मॉर्गन के वन्यता, बर्बरता और सभ्यता के क्रमिक विकास की मर्यादा में उत्पादन अधिशेष के आधार पर सामाजिक इतिहास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिखा । समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रतिक्रियाओं के समझने के लिये 'प्रमुख परम्परा' (मेजर ट्रेडीशन) गौण परम्परा, (माइनर ट्रेडीशन), साधारणीकरण (यूनीवर्सलाइ-जेशन) विशेषीकरण (पेरोकियलाइजेशन), संस्कृतीकरण (संस्कृताइजेशन), ग्राम्य-नागर-सन्दर्भों आदि सिद्धान्तों का सहारा लिया । सारांश में इन ऐतिहासिक अध्ययनों में प्राचीन समाज के शरीर में आधुनिक मानस की प्रतिष्ठा दिखायी देती है ।

मानव और उसके पर्यावरण के क्रमिक विकास का अध्ययन आधुनिक इतिहासकार करता है । पर्यावरण द्विविध है—भौतिक एवं सांस्कृतिक । भौतिक पर्यावरण भौगोलिक तथा सामाजिक-आर्थिक संगठनों के तत्त्वों से निर्मित होता है । सांस्कृतिक पर्यावरण उन पारम्परिक आदर्शों और प्रतिमानों से—उन मानस संस्कारों से बनता है जो पर-म्परागत रूप में प्रवहमान रहते हैं । कुछ ऐसा हुआ कि प्राचीन भारतीय समाज के सन्दर्भ में—इतिहासकार भौतिक पर्यावरण के प्रति ही दत्तावधान रहा;—सम्भवतः इसलिये कि आधुनिक भौतिकवादी दर्शन में सांस्कृतिक पर्यावरण के निर्माण का आधार ही भौतिक पर्यावरण है, अतः मूलरूप से भौतिक पर्यावरण का अध्ययन अपेक्षित है; सम्भवतः इस-लिये भी कि स्थूल होने के कारण भौतिक पर्यावरण के प्रकारों का अधिक स्पष्टता और दृष्ट साक्ष्यों की संगति में विवेचन हो पाता है, किन्तु सूक्ष्म सांस्कृतिक पर्यावरण का निस्सन्दिग्ध क्रम-विकास-पूर्वक विवेचन दुरूह है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाय कि सांस्कृतिक पर्यावरण का अध्ययन मूल्यों की सार्वभौमिकता और सनातनता में आस्था की अनिवार्य रूप से अपेक्षा नहीं रख सकता । विभिन्न संस्कृति-परम्पराओं में आदर्शों और प्रतिमानों की विभिन्नता रहेगी ही, विशेषतः उनकी अभिव्यक्ति के पक्ष में । किसी विशिष्ट संस्कृति के मूल्यों को सार्वभौम और सनातन निर्धारित कर दूसरी संस्कृति के मूल्यों को हेय और हीन मानकर विवेचन करने पर सांस्कृतिक पर्यावरण का अध्ययन समीचीन नहीं हो सकेगा, इसलिये कि सनातन मूल्य-व्यवस्था को सार्वभौम रूप से निर्धारित करने की प्रतिभा इतिहासकार के पास नहीं ।

इतिहासकार का कार्य संस्कृति के मूल्यों का व्यावहारिक सत्ता में प्रतिफलन का अध्ययन मात्र है, सनातनता की कसौटी पर मूल्यों की परीक्षा करना नहीं । इतिहासकार को अपने कार्य और शक्ति की सीमाओं को स्वीकार करने की विनम्रता रखना आवश्यक है । इतिहास में सनातन मूल्यों की गवेषणा अथवा विकास के सार्वभौमिक और सनातन प्रक्रिया का अन्वेषण कुछ इतिहासकारों और अनेक आध्यात्मिक चिन्तकों ने किया है,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किन्तु देश-काल से परिसीमित इतिहास का ढाँचा सनातनता का बोझ अभी तक सफलता-पूर्वक वहन नहीं कर सका। भविष्य में क्या होगा यह दैवज्ञ ही बता सकेगा, सम्भवतः इतिहासकार नहीं। फिलहाल, अध्येतव्य युग के मूल्यों के साथ सामाजिक संगठन को व्याख्यात कर दे इतना ही इतिहासकार से अपेक्षित है। मानस संस्कारों से निर्मित सांस्कृतिक पर्यावरण तथा भौगोलिक, प्राविधिक एवं सामाजिक संगठन से प्रणीत भौतिक पर्यावरण में एक अन्तरावलम्बन रहता है, जिसकी समीक्षा इतिहासवृत्त के अन्तर्गत है।

प्राचीन भारत में सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करने के लिये कतिपय संकेत-ग्रहों का निर्माण किया गया। विराट्, पुरुष, यज्ञ, हृदय, पुष्कर आदि बहुसंख्यक संकेत न तो अभिधा के रूप में समझे जा सकते हैं जहाँ अप्रस्तुत पूर्णरूप से तिरोहित रहता है और न अन्योक्ति के रूप से जहाँ प्रस्तुत पूर्णरूप से आच्छादित रहता है; किन्तु ये ऐसे अर्धप्रतीक थे जिनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत ताने-बाने की तरह सम्बद्ध रहते थे। इनमें रूपक पद्धति से विचार और भाव सम्मिलित रहता है। इन संकेतों का निर्वचन वैदिक साहित्य और निरुक्त-परम्परा में मिलता है। यह संकेत पद्धति सांस्कृतिक पर्यावरण का हृदय है। इन निर्वचनों का अध्ययन सांस्कृतिक पर्यावरण के बोध के लिये आवश्यक है।

वर्तमान युग के प्रारम्भ में इस प्रतीक-पद्धति के अध्ययनों का आधार ही भ्रामक हो गया। भारोपीय तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने वैदिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण के लिये एक नवीन विधा का द्वार खोल दिया। इसमें व्युत्पत्ति के आधार पर शब्दों का वैज्ञानिक पदावली के समान निश्चित अभिधापरक अर्थ के अनुसन्धान का प्रयास था। संस्कृति के विशिष्ट पक्षों के उद्घाटन करने वाले वैदिक शब्दों की इस भाषा वैज्ञानिक पद्धति में वह अर्थ-परम्परा ग्राह्य नहीं हो सकी जो अभिधार्थ को अतिक्रान्त कर भाव-विचार-संवलित प्रतीक-विधान में रहती थी। इसलिये ब्राह्मण-ग्रन्थों और निरुक्त-परम्परा में जो प्रतीकों के अर्थ का विवेचन हुआ, उसको 'काल्पनिक व्युत्पत्तियाँ', 'पूर्णतः कृत्रिम' आदि कहकर तिरस्कृत कर दिया। प्रतीकार्थ को छोड़ भी दें, अभिधेय अर्थ भी भारतीय संस्कृति के परिवेश में अधीत न होकर यूनानी-रोमानी संस्कृतियों तथा उससे प्रसूत आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के सन्दर्भ में व्याख्यात हुये।

भारतीय इतिहास के प्रसंग में सांस्कृतिक पर्यावरण के अध्ययन में एक अतिरिक्त कठिनाई भी है। सांस्कृतिक पर्यावरण भी एक प्रवहमान परम्परा से बनता है। आदर्शों और प्रतिमानों की देश और काल के सन्दर्भ में जो अभिव्यक्ति क्रमशः होती रहती है

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उसमें परिवर्तन के साथ ही एकतानता रहती है । इस एकतानता से सांस्कृतिक पर्यावरण का स्वरूप स्पष्ट होता है और उसमें जो परिवर्तन होता है, उससे वैविध्य और वैचित्र्य का बोध होता है । सांस्कृतिक पर्यावरण के बोध का प्रमुख साधन साहित्य है और साहित्य शब्द और अर्थ के अविनाभाव सम्बन्ध पर स्थिर है—'गिरा अरथ जल-वीचि सम' अथवा 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' के समान शब्द एवं अर्थ 'कहियत भिन्न न भिन्न' ।

जिस प्रकार शब्द का अर्थ के साथ अविनाभाव सम्वन्ध है उसी प्रकार अर्थ का संस्कृति के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है । इसलिये जब दूसरी संस्कृतियों से आयातित शब्दों का व्यवहार भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में करते हैं तो उन संस्कृतियों की विचार-परम्परा अनायास और अवज्ञात रूप से भारतीय इतिहास पर आरोपित कर देते हैं, इससे भारतीय इतिहास का स्वरूप आच्छादित हो जाता है । यहाँ उदाहरणार्थ सिविलिजेशन शब्द पर विचार किया जा सकता है ।

अंग्रेजी भाषा में अठारहवीं शती से सिविल के दो अर्थ प्रचलित हुये (1) विनम्र सुरुचिपूर्ण एवं (2) नागरिक । इस शब्द का स्रोत है लेटिन 'सीविस' जिसका प्राथमिक अर्थ है 'सहवासी'—एक निश्चित भूभाग के निवासी और उनके राजनीतिक अधिकार । ऑगस्टस के राजत्वकाल में विट्रुवियस ने सर्वप्रथम 'सिविटास' का अर्थ नागरिक किया । इसके साथ ही 'सिविटास पेरेग्रिनस' की अवधारणा विकसित हुयी । पेर-एग्रिनस में एग्रॉस (लेटिन) अज्र (वैदिक) का अर्थ खेत है—पेरेग्रिनस का शाब्दिक अर्थ है अज्र-पार निवासी; खेतों की सीमा के वाहर रहने वाले । सिविटास रोमन नागरिक थे और सिविटास पेरेग्रिनस विदेशी थे । सिविटास को सुरुचिपूर्ण माना गया और सिविटास पेरेग्रिनस को सुरुचिविहीन । इसलिये क्रमशः सिविटास सभ्यता का द्योतन करने लगा और जो नागरिक नहीं थे वे बर्बर माने गये । इसीलिये पुरातत्त्वविदों ने वैदिक जनों को पहले बर्बर कहा और पुनर्विचार के पश्चात् अर्ध-बर्बर कहा । यह इतिहास की एक विचित्र त्रासदी है । सिविटास का मूल रूप 'सीविस' का स्रोत वैदिक शब्द 'शेव' है । वैदिक 'शेव' शिवत्व की भावना से पारस्परिक मंगल-कामना से सम्बद्ध जन समूह था । जर्मन भाषा-वर्ग में यही 'हीव' गृह का अभिधान बना । यह पारस्परिक मंगल-कामना के बन्धन से एकीकृत वर्ग एक सहस्राब्दि के पश्चात् भूभाग से सम्बद्ध होकर रोमन संस्कृति में 'सिविटास' बन गया, और सभ्यता का द्योतन करने लगा । आज दुर्भाग्य से यूरोपीय केन्द्रित इतिहास की अवधारणा आयातित करने के कारण शेव-सीविस-सिविटास-सिविलिजेशन के क्रमशः विकसित अवधारणा में केवल रोमन-लेटिन अंश को परिग्रहीत कर शेव के मंगलकारी रूप का परित्याग कर वैदिक 'शेव्यों' को 'अनसिविलाइज्ड' घोषित कर दिया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया। यहाँ शेव के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं को उद्धृत करता हूँ, विस्तृत व्याख्या के लिये तो अवकाश नहीं—

'शेव' शिवत्व की भावना से, पारस्परिक मंगल-कामना से, सम्बद्ध जन-समूह था।

जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवमुत ब्रह्नस्य शासने रणन्ति। ऋग्वेद 3, 7, 5.

'शेव' जन-समूह अरुष (शत्रु रहित) हो कर महान् (ब्रह्म) अग्नि के शासन में मोद करते हैं।

जिस प्रकार 'जन' में 'शेव' आदर पूर्वक बुलाया जाता है और दुरोण (घर) में बैठाकर उसके साथ विनोदकारी वार्त्तालाप होता है वैसे अग्नि भी आह्वनीय है।

जनेनः शेवः आहूर्यः सन्मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे। ऋ० 1.69.3

इस जन-समूह के सदस्य 'शेव्य' कहलाते थे––

भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर्विभूतद्युम्न एवया उ सप्रथाः। ऋ० 1.156.1

मित्र देवता के समान ही 'शेव्य' सुखकारी है, प्रभूत अन्न का विभाजन करने वाला है, घृत को लाने वाला है।

शेव जन-समूह का एक सामान्य कोष 'शेवधि' हुआ करता था। यह 'शेव' निश्चय ही लेटिन सीविस और गॉथिक हीव का जनक है। सामाजिक संगठन का आदिमकालीन रूप ऋग्वेद में मिलता है। यह इतिहासकारों की ऐसी निधि है जो अन्यत्र किसी देश के साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। किन्तु दुर्भाग्य से 'सीविस्' की सन्तति सिविलिजेशन को हमने सभ्यता के रूप से स्वीकार कर लिया, उसके पिता को, जो हमारे साहित्य में विद्यमान था, उपेक्षित कर दिया। इसलिये अप्रतिम मूल्यवान पुरातन दाय का हमने तिरस्कार कर दिया, जानबूझकर नहीं अपितु अज्ञान के कारण।

यह विषय महत्त्वपूर्ण है और पुरातत्त्व एवं इतिहास दोनों में इसकी विशिष्ट भूमिका है। अतः स्थल-संकोच के होते हुए भी किंचित् विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

जिस प्रकार रोमन सीविस से सिविटास तथा सिविटास पेरेग्रिनस की नागरिक और इतर मनुष्यों की द्विविध परम्परा प्रारम्भ हुई, उससे कुछ मिलती-जुलती व्यवस्था आदिम-कालीन अनेक भारोपीय शाखाओं में दिखाई देती है। यूनानी शब्द एगर से (जिसके सगोत्र भारतीय अज्र और लातीनी एकर हैं) एग्रोई का अर्थ युगपत रीति से 'खेत में काम करने वाला' और 'बाह्य-व्यक्ति' है जिसका विलोम प्रायः 'पालितिस्' अथवा नागरिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन यूनानी साहित्य में मिलता है। इसी प्रकार लिथुआनी लॅउके (संस्कृत लोक) भी निवास-भूमि से बहिर्गत खेत और निवास-हीन भूमि के साथ ही साथ 'बाह्य व्यक्ति-समूह' का द्योतन करता है।

इस प्रसंग में वैदिक शब्द कृष्टि का अर्थ-विकास विचारणीय है। कृष् धातु से व्युत्पन्न कृष्टि शब्द का प्राथमिक अर्थ है जुते हुए खेत। द्रष्टव्य है——

"यः स्नीहितीषु पूर्व्यः संजग्मानासु कृष्टिषु अरसद्दाशुषे गयम्"। ऋग्वेद 1.74.2——

'जिस पूर्वज (अग्नि) ने अपने दाता उपासक के लिए परस्पर संसक्त आर्द्र खेतों में उत्पन्न अन्न (गय) की रक्षा की। इसी प्रकार निम्नोक्त ऋचा में——

"उत्ते शतान्मघवन्नुच्च भूयस

उत्सहस्राद्रिरिचे कृष्टिषु श्रवः।" ऋ01.102.7

'कृष्टियों (खेतों) में अन्न सौ गुना, इतना ही नहीं हजार गुना बढ़ा'।

कृष्टि ऐसे खेतों की श्रृंखला थी जो निवास-भूमि के समीपवर्ती थी। निवास-भूमि चतुर्दिक् खन्दक, (वव्रि) से घिरा हुआ रहता था। इस वव्रि के पार चरागाह और खेत रहते थे। पञ्चम मण्डल की एक ऋटचा है——

"प्राचोदयत्सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा

संवृत्तमोऽवः" ऋ0 5.31.3.

जब सूर्य का प्रकाश हुआ तो 'उन पशुओं को जिनको अच्छी तरह से दुह लिया है, वव्रि (खन्दक) के बाहर हाँक दिया, क्योंकि ज्योति ने चारों तरफ घिरे हुए अन्धकार अपसारित कर दिया है।'

कृष्टि का अर्थ विकसित होकर 'खेत' से 'खेतिहर' हो जाता है और वव्रि के आवरण में रहने वाले 'वर्ण' कहलाने लगते हैं। कुछ ऋचाओं से इन वैदिक वास-स्थलों का स्वरूप किंचित् उन्मीलित होता है। निम्नोक्त ऋचा में सोम का अभिषव के अनन्तर पवित्रा (छन्नी) से छानने के पश्चात् कलश में संकलन के प्रसंग में रूपक के द्वारा इस विषय में सूचना मिलती है——

"प्रकृष्टिहेव शूष एति रोरुवदसुर्यं वर्णं निरिणीते अस्य तम्।

जहाति वव्रिं"...॥ ऋग्वेद——9.71.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'कृष्टि के प्रध्वंस करने वाले शूरवीर के समान जो असुर्य (शक्तिशाली) वर्ण को पार कर वव्रि को छोड़ता है, सोम (पवित्रा से छनता हुआ कलश में) प्रवेश करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण और कृष्टियों के मध्य में वव्रि (खन्दक) होता था। यह स्पष्टतर हो जाता है, चतुर्थ मक्ण्डल की एक ऋचा से—

'मम द्विता राष्ट्रस्य क्षत्रियस्य विश्वायोः राजामि कृष्टेरूपमस्य वव्रेः' ॥
ऋ० 4.42.1.

मैं कृष्टि के पार्श्ववर्ती वव्रि तक क्षत्रिय तथा अन्य पुरुषों के रूप में द्विविध शासितों पर शासन करता हूँ।

यहाँ एक ऋचा में 'असुर्य वर्ण' और दूसरे में 'क्षत्रिय' शब्द का व्यवहार हुआ— यह महत्त्वपूर्ण है। वव्रि और वर्ण दोनों शब्द संस्कृत √वृ=आवरणे से व्युत्पन्न हैं। इतालवी, बाल्वो-स्लावी, ईरानी और संस्कृत भाषा में समाजशास्त्रीय दृष्टि से इस धातु का विशेष महत्त्व है। भारोपीय धातु रूप वेर से प्राचीन भारोपीय रूप वर्सोम की विभिन्न परम्पराएँ हैं। इतालवी वार्ति, लिथुआनी वर्तइ, रूसी वोरोत, सर्वो—क्रोटियन व्रत और ईरानी वर का प्राथमिक अर्थ 'घेरा, आवरण, द्वार' है और गौण अर्थों की परम्परा में ये 'निवास' और 'स्वजन' को अभिहित करते हैं। वेन्दिदाद में वीवउहत यिम के द्वारा 'वर' (आवरण) के निर्माण की कथा मिलती है, जो उन्होंने मनुष्यों के निवास और पशुओं के रहने के लिए बनवाया था—

अआत् तॅम् वॅरम् कॅरॅन ओत् चरतु द्राजो कॅम्चित् पइति चथ्रुषनॉम् नरॉम् अ इवि–क्षोइथ्रे ..... गवॉम् गावयनॅम्, वेन्दिदाद—2.33.

तब (यिम ने) उस वर को बनाया, जो चतुष्क वर्ग के रूप में था और जिसका प्रत्येक पार्श्व एक अश्व-चारिका के बराबर था, मनुष्यों के निवास (सोइथ्र=क्षेत्र) के लिए और पशुओं के रहने के लिए।

'वर' के समान वव्रि भी एक घेरा, एक आवरण था; किन्तु वव्रि एक खन्दक थी जो निवास स्थल के चतुर्दिक् खोद दी जाती थी। यह भी एक प्राचीन प्रथा प्रतीत होती है। यूनानी और लेटिन 'उर्वारे' शब्द का रूढ़ अर्थ वासस्थल की सीमा है, जबकि इसका यौगिक अर्थ 'हल से बनाया हुआ गड्ढा होता है' —उर्वारे एस्त अरत्रो डेफिनिरे (डाइजेस्टा, 50.16.239) 'हल (अरत्रुम्) से निर्मित सीमा उर्वारे है'। इसी प्रसंग में काष्ठा अथवा कृषि धातु से व्युत्पन्न सीमावाची कार्ष्म शब्द भी विचारणीय है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निवास-स्थल की सीमा की अवधारणा आदिम समाज के संगठन को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। कुछ भाषा-शास्त्रियों ने अन्य शब्दों के प्रसंग में इस विषय का पल्लवीकरण किया। यहाँ इस सन्दर्भ में दम् एवं द्वार के लातीनी रूप दोमी और फोरिस पर विचार किया जा सकता है। सिविटास और पेरेग्रिनस के पूर्व रोमन संस्कृति में इन दो शब्दों का द्वन्द्वात्मक रूप मिलता है। दोमी स्वजन थे, फोरिस विदेशी। दुर-दोर-फोर-फोरिस का अर्थ है द्वार तथा द्वार के बाहर के व्यक्ति और पदार्थ। लेटिन फोरेनस जिससे फ्रेंच, आंग्ल आदि भाषाओं में फोरेन (विदेश) तथा लेटिन फॉरेस्टा जिससे वनवाची फॉरेस्ट शब्द फोरिस (द्वार) से व्युत्पन्न हुये एवं द्वार-बाह्य व्यक्ति तथा पदार्थों को अभिहित करते हैं।

इसी प्रकार 'वर' के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्ति 'वर्ण' में अन्तर्भुक्त थे और 'वर' के बाह्य व्यक्ति जो खेतों के समूह के पास निवास करते थे, कृष्टि समूह में परिगणित हुए। दोमिस/फॉरिस से यह द्वन्द्व कुछ भिन्न था क्योंकि यहाँ द्वन्द्व स्वजन और वैदेशिक जन का न होकर विशिष्ट और साधारण स्थिति-सम्पन्न पुरुषों का था। वर्ण/।कृष्टि का यह भेद भारतीय था और सिविटास / पेरेग्रिनस से भिन्न और अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन। कृष्टि के सम्बन्ध में इस प्रबन्ध में विस्तृत विवेचन हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है कि वैदिक संस्कृति प्रधानतः गोपालन-परक थी। अतः भारत में वैदिक कालीन कृषि-व्यवस्था का विकास इसी निबन्ध में बाद में विवेचित किया गया है।

यही तो समाज के इतिहास की विडम्बना है। सोलहवीं शती में सोसायटी और इसका विशेषण सोशल फ्रेंच-स्पेनी भाषा से अंग्रेज़ी भाषा में आया। वहाँ सोशल का अर्थ था मिलनसार और सहयोगी एवं सोसाइटी का अर्थ था एसोसिएशन। रूसो के 'ल कन्त्रात सोशल' ग्रन्थ (1762) और ऑगस्त कोन्ते के 'सोशियालॉजी' (1830) ने इस शब्द को एक निश्चित वैज्ञानिक अर्थ प्रदान किया। इसके मूल रूप लैटिन 'सोखस्' का अर्थ वैवाहिक सम्बन्ध, पारिवारिक सम्बन्ध तथा सम्बद्ध व्यक्तियों का वर्ग था। इस 'सोखस्' का सगोत्र ऋग्वेदीय 'सखा' है; अवेस्ता और पुरानी फारसी में हखा है, जिसमें हखा-मनीष, हखा-गर्द शब्द मिलते हैं एव तुर्फानी में जो शा-गिर्द का रूप धारण करता है।

ऋग्वेद और अवेस्ता में एक स्वेच्छिक वरणीय वर्ग (Voluntary band organization) के सदस्यों को सखा कहते थे। इसका अध्ययन आदिम-कालीन वैदिक समाज के अध्ययन के लिये आवश्यक है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'सखा' का प्रयोग समास में अथवा असमस्त, कभी-कभी उपसर्ग के साथ, और विभिन्न कारकों—कर्ता, कर्म, सम्प्रदान आदि में मिलता है। समास में इन्द्र-सखा ऋ० 7.34.24; कवासखः ऋ० 5.34.3; कण्व-सखा 10.115.5 आदि रूप मिलते हैं। इसी प्रकार सु-सखा 1.173.9; 8.48.9; 10.31.1 तथा 10.91.1 में प्रयुक्त है—इसका ईरानी रूप हुश्-हखा 32.2.12-13; 46.13.26-27 अवेस्ता के प्राचीनतम ग्रन्थ गाथा भाग में है।

यास्क के अनुसार 'सखा' का अर्थ है 'समानाख्यानः' जो 'सदृश रूप से ख्यात हों', और यह ख्या = प्रथने धातु से व्युत्पन्न है। यास्क की व्युत्पत्ति भले ही अमान्य हो किन्तु उनके द्वारा किया हुआ अर्थ बहुत ही व्यञ्जक है। हम लोग बाद में देखेंगे, सखा समान लक्ष्म, चिह्न धारण करते थे जिससे उनकी वर्ग-बद्ध पहिचान हो सके। आधुनिक भाषा-शास्त्री इसकी व्युत्पत्ति भारापीय √सेक्व→संस्कृत √सच् समवाये→ फारसी √हच् धातु से करते हैं जिनके अर्थ हैं समवाय करना, वर्ग-बद्ध करना।

सच् और हच् धातुओं के विभिन्न रूप ऋग्वेद और अवेस्ता में मिलते हैं। 'सखा' शब्द के अर्थ निश्चित करने के उद्देश्य से अवेस्ता में 'हखा' और 'हख्मन्' के प्रयोगों की चर्चा करेंगे—

अषा हुश् - हख़ा रव्वॅन्वाता। स्पॅ ॅ ताँम् आर्मइतीम्।
वङुहीम् वरॅमइवी हा नॅ अङ्हत्॥

32.2

यहाँ आर्मइती देवी को हुश्-हखा = सु-सखा 'प्रकृष्ट रीति से उपासक से सम्बद्ध' (close associate) कहा गया। उपासक का कथन है कि 'हमने उन आर्मइती का वरण किया है' (√वृ वरणे से वरॅमइदी)। अन्त में वह आकांक्षा करता है, 'वे देवी हमारी हो जाए (हा नॅ अङ्हत्)। यहाँ 'हुश् हखा' का अर्थ तथा 'वरण' का कथन महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि ऋग्वेद के प्रसंग में हम देखेंगे कि सखा का वरण किया जाता था, स्वेच्छया चुना जाता था और उसके पश्चात् एक सामाजिक सम्बन्ध का प्रादुर्भाव होता था।

अवेस्ता के एक प्रयोग को और देखें—

अॅ ॅतरॅ वीस्पे ॅग् द्रॅग्वतो हख्ममॅ ॅ ग् अ ॅ तरॅम्रुये

49.3

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"मैं (अहुर मज़्दा) सभी मिथ्या-धर्म वालों के साथ सम्बन्ध (ह्ख्मँग्=सखा भाव, सामाजिक सम्बन्ध) का निषेध करता हूँ ।" ।

यहाँ ह्ख्मँग् व्यक्तिगत मैत्री-भावना का द्योतन नहीं करता है अपितु अहुर-मज़्दा के अनुयायियों को 'द्रुज् वर्ग' के व्यक्तियों के साथ सामाजिक सम्बन्ध रखने का निदेश किया गया है ।

ऋग्वेद में इस सखा-वर्ग के विषय में यथेष्ट सामग्री है, उसका संक्षिप्त और किंचित्-पक्ष का विवेचन ही यहाँ किया जा सकता है ।

सखा एक सामाजिक सम्बन्ध था जिसका वरण किया जाता था । इस 'वरण' करने की इच्छा का प्रख्यापन करना पड़ता था । इस प्रसंग में अनेकशः वृ=वरणे धातु का प्रयोग हुआ है, जैसे--

सखायस्त्वा ववृमहे ऋ० 6.51.14

आंगिरस-वंशीय सोम को सम्बोधन करके कहते हैं कि हम तुम्हारे सखित्व को स्वेच्छया चुनते हैं--**सखित्वमा वृणी महे** ऋ० 9.61.4

दशम मण्डल का 133 वां सूक्त अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक पुरुषों के द्वारा इसका समवेत ज्ञान होता था । इस सूक्त के सभी मन्त्र-- 'अन्येकेषां ज्यां का अधि धन्वसु' से समाप्त होते हैं । इसके षष्ठ मन्त्र में इन्द्र के साथ सखित्व सम्बन्ध के प्रारम्भ होने का उल्लेख है--

वयमिन्द्रः त्वायवः सखित्वमा रभामहे । ऋ० 10.133.6

हे इन्द्र, हम तुम्हारी इच्छा करते हैं, हम तुम्हारे साथ सखित्व सम्बन्ध को प्रारम्भ करते हैं ।

सखा के 'वरण' के अनेक उल्लेख हैं। इसी प्रकार सखा के सम्बन्ध में सच्=समावाय, कृ=करणे और धृ=धारणे धातुओं का प्रयोग मिलता है । इसका अध्ययन 'सखा' वर्ग के स्वरूप के लिए महत्त्वपूर्ण है; किन्तु इससे विषय का विस्तार बहुत हो जावेगा ।

यहाँ यह इंगित कर दूं कि सखा का उन शब्दों के साथ उल्लेख हुआ जो ऋग्वेदीय सामाजिक संगठन से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, जैसे 'व्रात' (समूह, 1.163.8) और शिव-शेव (वर्ग लेटिन सीविस्, 1.187.3; 2.20.3; 8.55.1) ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दशम मण्डल में (215.5) अर्य शब्द सखा के साथ आया है। अन्यत्र इस तथ्य का विवेचन किया जा चुका है कि आर्य-समाज का प्रारम्भिक स्तरीकरण अर्य (स्वामी) और कृष्टि (सामान्य जन) के द्विविध वर्गों में हुआ था। इसी प्रकार 'सखा ऋभूभिः पुरुहूत प्रियेभिः' ऋ० 3.54.17 में प्रिय शब्द अवेस्ता में फ्र्या, जर्मन भाषा वर्ग में फ्रिजोन → फ्रिजान्द → फ्रिउण्ट (फ्रेण्ड, मित्र) तथा Freis (गाँथिक आंग्ल फ्री, स्वतन्त्र) के द्विविध रूप में विकसित हुआ; यह अशोक के अभिलेखों में देवानां पिय, अर्धमागधी में देवाणुप्पिय और लौकिक संस्कृत में 'देवानां प्रियः' में मिलता है। इसका अर्थ केवल 'प्यारा' ही नहीं है, अपितु वह पारस्परिक कल्याणकारी वर्ग-बद्ध सम्बन्ध का द्योतन करता है।

अवेस्ता और ऋग्वेद के इन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि सखा शब्द मनुष्य-वर्ग के पारस्परिक सम्बन्धों को द्योतित करता था। इस सम्बन्ध का ख्यापन करना पड़ता था। इस पारस्परिक सम्बन्ध का सूत्र एक देव अथवा ऋषि हो सकता था जिसके साथ सभी सदस्य साधारण रूप से सम्बद्ध हो सकते थे। इन्द्रा-वरुण का युग्म सखा-सम्बन्ध पर आधृत था ऋ० 7.34.24, कण्वों का सखा अग्नि था ऋ० 10.115.5, और आंगिरसों ने इन्द्र को अपने सखा के रूप से वरण किया (ऋ० 9.61.4)। सदृश कार्यों के कारण भी सखा-सम्बन्ध का निर्माण होता था—

पुरः पुरोहा सखिभिः सखीयन्
दृव्ळहा रुरोज कविभिः कविः सन्।
ऋ० 6.32.3

आंगिरसों के सखा-वर्ग का उल्लेख है—

सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वै रभि इवा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
ऋ० 3.39.5

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि 'सखा' शब्द वैवाहिक सम्बन्ध भी द्योतित करता था—

मक्षू केनायाः सख्यं नवीयो
ऋ० 10.61.11

यह अधिक स्पष्ट होता है, यम-यमी-सम्वाद में जहाँ यमी के दाम्पत्य-भाव को अस्वीकार करता हुआ यम कहता है कि यद्यपि सलक्ष्म होने के कारण वे लोग सखा हैं,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किन्तु सखा-सम्बन्ध भिन्न प्रकार का होता है; दाम्पत्य-भाव रूपी सख्य की मैं कामना नहीं करता हूँ--

न ते सखा सख्यं वष्टयेतत्
सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवन्ति

ऋ० 10.10.2

इसी भाव की लाक्षणिकता संभवतः 'शिशुमन्तः सखायः' ऋ० 10.100.6 में मिलती है।

सखाओं का पारस्परिक सामाजिक उत्तरदायित्व रहता था। ये प्रमुखतः दो थे-- आपत्ति आने पर अथवा युद्ध के अवसर पर सहायता--

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन।

अनेक ऋचाओं (1.17.18; 1.72.5; 6.34.4) में परित्राण की अपेक्षा सखा से की गई है।

इसी प्रकार प्रधन (युद्ध) में प्राप्त धन एवं अन्यथा उपलब्ध धन में सखाओं का हिस्सा होता था--

न सा सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सत्वमानाय पित्वः।

ऋ० 10.117.4

सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः सूनुर्दाधारशवसा सुदंशाः।
आभासु चिद्दधिषे पक्वमन्तः पयः कृष्णासु रुशद्रोहिणीषु।। ऋ० 1.62.9

किन्तु इस विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह था कि वे सभी एक चिन्ह धारण करते थे, वे सलक्ष्म होते थे, जिससे वे 'समानाख्यान' सदृश रूप से ख्यात थे।

यह लाक्षणिक चिह्न 'अंजि' कहलाता था। इसी अंजि (अञ्ज् धातु) की अवधारणा का विकास व्यञ्जन, अनुव्यञ्जन में हुआ जो व्यक्तित्व के साधारण लक्षण माने गये--

समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्त्वमानश। ऋ० 10.62.1

यह स्पष्ट रूप से यम-यमी-सम्वाद-सूक्त में व्यक्त है--

न ते सखा सख्यं वष्टयेतत् सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवन्ति। ऋ० 10.10.2

"मैं तुम्हारा इस प्रकार सख्य-दाम्पत्य भाव की याचना करता हूँ; सलक्ष्म होते हुए भी (सखा-भाव) भिन्नरूपों के (विषुरूपा) होते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सलक्ष्म-सखा इन शब्दों के सादृश्य के आधार पर प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों ने सलक्ष्म को गोत्र से सम्बद्ध माना, जो अंशतः ही मान्य है। सामाजिक गोत्र के समान 'सखा' भी एक सामाजिक सम्बन्ध था।

इस प्रकार सोसायटी के मूल रूप लेटिन 'सोखस्' का सगोत्र ऋग्वेदीय शब्द 'सखा' आदिमकालीन, सम्भवतः भारतेरानीकालीन सामाजिक संगठन द्योतित करता था। दुर्भाग्य से 'सोसायटी' के ऋग्वेदीय पितामह इस 'सखा' का परित्याग कर, सखा के अवान्तर कालीन विकास वर्ग का तिरस्कार कर सोसायटी का अनुवाद 'समाज' कर दिया गया जिसका न तो कोई सम्बद्ध अर्थ में ऐतिहासिक विकास हुआ और न परम्परा में इसका पारस्परिक सम्बन्धों में प्रयोग हुआ। इन अनूदित निरर्थक शब्दों के प्रयोग से पारम्परिक इतिहासकार के चिन्तन में विसंगति उत्पन्न होती है।

प्राचीन इतिहास के अध्ययन का क्रम इस प्रकार से संयोजित हुआ कि विभिन्न संस्कृतियों का विकास यूरोपीय संस्कृति, विशेषतः यूनानी-रोमानी इतिहास संस्कृति के आधार पर नियोजित कर दिया। रोमन सिविटास-सिवलिजेशन को आधार मान कर पूर्व के इतिवृत्त में वन्यता और बर्बरता की स्थितियां निश्चित कर लीं। भाषा विज्ञान इसके विपरीत यह द्योतित करता है कि सिवलिजेशन का विकासक्रम रोमन, गॉथिक, भारतीय आदि धाराओं में विभिन्न प्रकारों से हुआ। इस वैविध्य का हृदयंगम न करने के कारण भारतीय आदिम इतिहास का स्वरूप विकृत रूप से आधुनिक इतिहास में दिखाई देता है। इसी प्रकार सखा-सोसाइटी के विकास के अध्ययन की स्थिति है। 'सोखस्' से सोसाइटी के विकास के विभिन्न चरणों का क्रम यूरोपीय इतिहास में परिभाषित हुआ, और उसी दृष्टि से भारतीय समाज के विकास के क्रम को व्याख्यात कर दिया गया। किन्तु वरण-सिद्धान्त पर आधृत सखा किस प्रकार वर्ण में परिवर्तित हुआ, यह भारतीय समाज के इतिहासकार नहीं देख सके। अर्य/कृष्टि-चर्षणी के रूप में सामाजिक स्तरीकरण भी इसीलिये समाज के इतिहास में कोई स्थान प्राप्त नहीं कर सका। सारांश में, आदिम भारतीय समाज का आधुनिक इतिहास पाश्चात्य संस्कृति एवं इतिहास के साँचे में ढल गया है।

अर्य और कृष्टि/चर्षणी भारतीय संस्कृति के सामाजिक और आर्थिक पक्ष को युगपत रीति से उद्घाटित करते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए किंचित् विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बाल्ट-स्लाव वर्ग और भारतेरानी आर्यों के पृथक होने के पूर्व ही भारोपीयों को खेती का ज्ञान हो गया था[1] किन्तु खेती का यह बिल्कुल आदिम रूप था जिसमें अर से, एक तीक्ष्णाग्र-दण्ड से भूमि को खोद कर बीज-वपन किया जाता था। इस अर्थ में 'अर' सभी भारोपीय भाषाओं में, यूनानी, लेटिन, जर्मनीय, केल्टी स्लावी, तुखारी आदि में उपलब्ध है।

संभवतः इस 'अर' का ही रूप 'केशक्रोम' ब्रिटेन में उपलब्ध पिट रिवर्स संग्रहालय में सुरक्षित है।[2] वेल्श परम्परा में इसका अभिधान 'अरद अरसंग' 'पद-अर' है। इसमें एक तीक्ष्णाग्रदण्ड में नीचे की तरफ एक खूंटी लगी रहती थी जिस पर पैर रख कर दण्ड को भूमि में दबाया जाता था और फिर पीछे हटकर उसको खींचा जाता था। इस प्रकार भूमि में बीज-वपन करने के लिये क्यारियां बनाई जाती थीं। इसी अर से 'वक्र-अर्द' और 'खनिज-अर्द' आदि कर्षण-यंत्रों का विकास हुआ। लेटिन 'अरत्रुम्' और यूनानी 'अरॉत्रान्' इसी के वंशधर हैं।[3]

'अर' की खूंटी के स्थान पर लकड़ी की चकियों का प्रयोग भी हुआ होगा और प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित धन-लक्ष्मी की आकृतियों से अंकित चकियां इसी स्मृति का कर्म-काण्डीय रूप प्रतीत होती हैं।

1—जे. हरमात्ता, "प्रोटो ईरानियंस ऐण्ड प्रोटो इण्डियंस इन सेण्ट्रल एशिया इन सेकेन्ड मिलीनियम बी. सी. पृ० 76; एथनिक प्राब्लम्स आफ दी हिस्ट्री आफ सेण्ट्रल एशिया इन दी अर्ली पीरियड, दोशाम्बे सेमिनार का विवरण। हरमात्ता का कथन है कि पञ्चम सहस्राब्दी में जब बाल्टो-स्लॉव और भारतेरानी जनों का अलगाव हुआ तब कृषि-कर्म का विकास होना प्रारम्भ हो गया था। इसी संगोष्ठी में वी. इ. अब्बायेव का शोध पत्र था, जिसमें उन्होंने भारतेरानी और फिनो-उग्रीभाषा के अनेक शब्दों का साम्य बतलाया जो कृषि-कर्म से सम्बद्ध थे (वही पृ० 85)। इसमें अज्ज़ (मॉर्डीवियन) अइषा (अवेस्ता) ईषा (वैदिक); ज्यव (फिनी) यव (अवेस्ता, वैदिक) आदि। किन्तु इस फिनो-उग्रीय साक्ष्य का सतर्क उपयोग ही हो सकता है क्योंकि फिनो-उग्रीय और ईरानियों का सम्बन्ध बहुत बाद तक होता रहा।

2—ई. सेसिल कुर्वेन, प्रिहिस्टॉरिक एग्रीकल्चर इन ब्रिटेन, एण्टीक्विटी, 1927, जिल्द 1, पृ 270-271.

3—ई. सेसिल कुर्वेन, अर्ली एग्रीकल्चर इन डेनमार्क, एण्टीक्विटी, 1938, पृ० 144.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भारतेरानी वर्ग को 'अर' विरासत के रूप में मिला किन्तु शीघ्र ही खेती की अधिक विकसित प्रक्रिया से परिचित हो जाने के कारण 'अर' का परित्याग कर दिया गया। अतः भारतेरानी काल के प्रारम्भ में ही अर के इस अर्थ का विलोप हो गया। ऋग्वेद में खनन-दण्ड के रूप में इसका एक बार ही प्रयोग मिलता है, किन्तु 'अर' से सम्बद्ध संस्थाओं के अभिधानों में यह शब्द पड़ा ही रह गया। अरि→अर्य→आर्य शब्द परम्परा में तथा खेती की अधिष्ठातृ देवी अरमइति (अवेस्ता), अरमति (ऋग्वेद) में इस 'अर' के दर्शन होते हैं। 'अर' की फलोत्पादक शक्ति अरं तथा √अरं-कृ √अरं-गु √अरं-ध्रुष् आदि में भी यह विद्यमान है। यह संदिग्ध है कि अर्वरा (उरु-अर) में 'अर' का गुणीभूत रूप दिखाई देता है।

इसी प्रकार खनन-यन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त वृक (वैदिक) इयलूक (यूनानी) और वरॅक (अवेस्ता) शब्द खेती की प्राचीन परम्परा का वहन करते हैं। ये खींचने के अर्थ में भारोपीय वेल्क धातु से व्युत्पन्न हैं जो यूनानी और स्लाव भाषाओं में सुरक्षित हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में 'वृक' के द्वारा यव का वपन करते हुए, अन्न (इषं) को दुहते हुए तथा खेत की क्यारी को मशक से सींचते हुए अश्विनीकुमारों का उल्लेख है।[1]

यूनानी लेखक हेस्कियॉस 'वृक' के सगोत्र शब्द 'इयुलक' का उल्लेख कर्षण-यन्त्र के रूप से करता है। किन्तु उस उल्लेख से कर्षण-यन्त्र का स्वरूप ज्ञात नहीं हो पाता है। पुनः हेसियाद के ग्रंथ में दो प्रकार के कर्षण-यन्त्रों का उल्लेख है—'अरॉत्रान् आतोगुआन्' और 'अरॉत्रान् पेक्तान्'। सेसिल कर्वेन ने कर्षण-यन्त्रों के पुरातात्त्विक अन्वेषण से यह निष्कर्ष निकाला कि भूमध्यसागरीय देशों में 'अर्द' प्रकार के हलों के दो भेद थे—प्रथम वक्र-अर्द जो वृक्ष की तिकोनी शाखा में एक काष्ठ-दण्ड लगाकर बनाया जाता था और शाखा का तीक्ष्णाग्र अंश जमीन में धंस कर उसको फाड़ता था; द्वितीय खनिज-अर्द जो खनित्र अथवा खनन-दण्ड के ऊपरी सिरे पर काष्ठ-दण्ड लगाया जाता था तथा खनन-दण्ड का तीक्ष्णाग्र अंश भूमि में प्रवेश कर लीक अथवा सीता का निर्माण करता था। कर्वेन के अनुसार हेसियाद के 'अरॉत्रान् आतोगुआन्' और 'अरॉत्रान् पेक्तान' के दो भेद इन्हीं द्विविध कर्षण-यन्त्रों के अभिधान हैं।

1—दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं देवि यवं वृकेणकर्षधः। ऋ०-8.22.6.
यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥
1.117.21.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हेस्क्रियस का 'इयुलक' भी इन्हीं दोनों प्रकार के कर्षण-यन्त्रों में कोई एक होगा और सम्भावना यह है कि इसका तात्पर्य वक्र अर्द से ही होगा। 'इयुलक' का वैदिक सगोत्र वृक है। भारतीय वैयाकरण 'वृक' और 'वृक्ष' दोनों शब्दों को √वृश्च, ओव्रू छेदने से व्युत्पन्न करते हैं।

'वृक' ऋग्वेद में एक प्राचीन स्मृति के रूप में सुरक्षित है। "प्राचीन काल में (पूर्व्य) स्वर्गलोक में (दिवि) मनु के लिए अश्विनीकुमारों ने 'वृक' के माध्यम से यव का कर्षण किया—ऋ० 8.22.6"। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का उल्लेख भी प्राचीन स्मृति का अनुगुंजन करता है—

यवं वृकेणाश्विना बपन्तेषं दु हन्ता मनुषाय दस्रा।
अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।। ऋ० 1.117.21.

इसमें 'दस्यु' और 'बकुर' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। 'बकुर' अत्यन्त विरल है केवल इसी स्थल में इसका प्रयोग हुआ। इसके पश्चात् इसका प्रयोग संस्कृत अथवा प्राकृत भाषाओं में नहीं मिलता है। नवम मण्डल में प्रयुक्त 'बाकुरं दृतिं' की सहायता से इसका अर्थ किया जा सकता है। 'दृति' का अर्थ 'चमड़े से निर्मित पात्र' मशक जो 'आधमन्त:'—द्रव प्रवाहित करते हुये (तुलनीय ऋ० 4.45.3; 9.1.8 आदि) के अर्थ से सुसंगत है। वैसे ही, दस्यु शब्द प्राचीन अर्थ 'क्षेत्र' का वहन करता है और आवेस्तिक दह्यु का समानार्थक है। अत: मशक से (बकुरेण) क्षेत्र को (दस्युं) जल-प्लावित करते हुये। दस्यु का प्राचीन अर्थ यह द्योतित करता है ही। इस मंत्र में प्राचीन स्मृति सुरक्षित है।

'अर', और 'वृक' कर्षण-यंत्रों के रूप में विरासत के रूप से भारतीय आर्यों को मिले, उसी प्रकार 'उर्वरा' और 'अज्र' खेतों के रूप में भारोपीय विरासत ऋग्वेद में सुरक्षित हैं। अवेस्ता के गाथा भाग में तथा ऋग्वेद के अनेक मण्डलों में 'उर्वरा' शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्लाख, थीमे, टर्नर, बरो आदि विद्वानों ने 'उर्वरा' शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ दी हैं; किन्तु यह प्राय: निश्चित है कि यूनानी 'अरोर' और लेटिन 'आर्वोर' (वनस्पति) तथा 'अर्वम्' (खेत) इसके सगोत्र शब्द हैं। अवेस्ता में 'उर्वरा' का अर्थ वनस्पति है। गाथा भाग में और अवान्तर अंश 'वेन्दिदाद' आदि में भी। इसके विपरीत ऋग्वेद में इसका अर्थ 'वनस्पति युक्त क्षेत्र' अथवा खेत प्रतीत होता है। यस्न 51.7 में दाइदी मो इ' य गॉम् तषो। अपस्या उर्वणेस्या। तू जिसने पृथिवी का निर्माण किया (√तष्= √तक्ष्) "मुझे अपस् (जल) और उर्वरा (वनस्पति, अन्न) दें।" इसी प्रकार अवपस्तोइश कॅ अपो उर्वणेस्या (यस्न, 44, 4) "कौन जल और उर्वरा को पृथक (रखता) है ?"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अत् अख्याइ अषा मज़्दो उर्वणे वक्षत् । (यस्न, 48, 6) "मज़्दा ने उसके लिये अष के द्वारा उर्वरा को प्ररोहित भी किया।" इसी प्रकार वेन्दिदाद (2.28) में हथ्र वीस्पनाँम उर्वरनॉम् तओख्म उप-वर यो इ हॅं ति "वीवड़् हन यिम के वर में सभी उर्वरों के वृक्षों-पौधों के बीज संकलित थे।" अतः अवेस्ता परम्परा में आद्यन्त 'उर्वर' का अर्थ वनस्पति, वृक्ष दिखाई देता है।

ऋग्वेद और अवेस्ता के गाथा-भाग में उर्वरा-सम्बन्धी उल्लेखों में कतिपय महत्त्वपूर्ण समानतायें हैं; जैसे अपस् और उर्वरा का साथ-साथ कथन। गाथा के उपर्युक्त उद्धरण ऋग्वेद के निम्नोक्त उद्धरणों से तुलनीय हैं—'अप्सु स्वासु उर्वरासु' 10, 50.3; 'यदप्सु वि क्रन्दसी उर्वरासु' 6, 25, 4; किन्तु ऋग्वेद में उर्वरा का अर्थ निश्चय ही ऐसी भूमि है जिसमें वृक्ष-पौधे प्ररोहित हैं। अपाला की कथा 8.91.5-6. अप्नस्वती, उर्वरा-जित, उर्वरा-पति शब्दों का प्रयोग आदि व्यंजक प्रमाण हैं।

उर्वरा की सम्बद्ध शब्द-परम्परा उरु-उर्वा-उर्वी-उर्विया ऋग्वेद और अवेस्ता में सुरक्षित है। उरु (वैदिक) वोइरुसॅ (अवेस्ता) इयूरोस् (यूनानी) का प्राथमिक अर्थ विशाल और श्रेष्ठ है। उरु-उर्वी पृथिवीवाची शब्दों के भूमि, क्षा, पृथिवी के निवासवाची शब्दों के शर्म, वरूथ, क्षय, क्षिति, लोक, तथा चरागाह से सम्बद्ध शब्दों के—अज्र, व्रज, गव्यूति के विशेषण के रूप से ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। उर्वी शब्द एक स्थल पर (ऋग्वेद 10, 79, 3) 'वीरुध' का विशेषण है। उर्विया भी विशाल-विस्तृत के अर्थ में है और ऋग्वेद में खेती के प्रसंगों में उल्लिखित है—

ये ते शुक्रासः सुचयः सुचिष्म क्षां वपन्ति विषितासो अश्वाः।
अधभ्रमस्त उर्विया विभाति या तय मानो अधि सानुपृश्नेः। ऋ० 6.6.4

उरु से उर्वरा तक का अर्थ-विकास उरु √कृ के माध्यम से समझा जा सकता है—

उरु करण का अर्थ है अधिक करना, वढ़ाना और उर्वर (उरु+अर) वह है जो प्रविधान करे। उरु √कृ का प्रयोग 'उरु कृत उरुणस्कृधि' ऋ० 8.75.11 है—'तुम विस्तीर्ण बनाये गये हो, हमारे लिये धन (रयि) को विपुल बनाओ।'

संभवत. इस उरु-करण की आन्तरिक जीवन-शक्ति अवेस्ता में 'उर्वा' के अभिधान से ज्ञात है—

क्षमइब्या गॅडश उर्वा गॅरॅज्दा।
कहनाई मा थ्व़रोज्दूम कॅ मातषत्॥

यस्न 29.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"आप से गो (पृथ्वी) की उर्वा (जीवशक्ति) गर्हणा की; किसलिये मेरा तक्षण हुआ; किसने मुझे निर्मित किया ?"

उर्वरा के समान वैदिक 'अज्र' और आवेस्तिक 'अज्र' भी प्राचीन विरासत है। अज्र के सगोत्र एग्रोस् (यूनानी), एगर (लेटिन) और एकर (आंग्ल) खेत का अर्थ वहन करते हैं। ऋग्वेद में अज्र का प्रमुख अर्थ पर्वत की उपत्यकाओं में तृणों से आच्छादित चरागाह है—अज्राः इन्द्रस्य गिरयः ऋ० 6.24.8.,गिरयो न अज्रानं ऋ० 10.57.3, गिरीनज्रान् ऋ० 10.45.8; गिरि अज्र गिरिव्रज से तुलनीय है, किन्तु कुछ स्थलों पर अज्र में खेती के संकेत हैं; यथा—

'धन्वान्यज्रां अपृणक्तृषाणां अधोगिन्द्र स्तर्यो दंसुपत्नी' : ऋ० 4.19.7

अज्रों का जल से प्लावित हो जाना और अपनी स्तर्य (स्टराइल, वन्ध्या) गृह-पत्नियों का इन्द्र के द्वारा दोहन करना खेती को द्योतित करता है। पृथ्वी (गाय) का दोहन करना ऋग्वेद तथा अवान्तर साहित्य में एक प्रचलित अभिप्राय (मोटिफ) है, और वन्ध्या गाय का दोहन अकृष्ट भूमि के कर्षण का संकेत है।

'वृषभ इन्द्र ने वज्र को युक्त कर गाय (पृथ्वी) का दोहन किया'[1] ऋ० 1.33.10. 'स्तेग (फारसी तेग लुडविग; हल का फाल, ह्विटने) का पृथ्वी पर प्रयोग और जल वर्षण के पश्चात् कथन—स्तरीर्यत्सूत सद्यो अज्यमाना ऋ० 10.31.9–10 'वन्ध्या गाय का सिंचित हो जाने पर शीघ्र प्रसव करना' अकृष्ट भूमि पर खेती करना ही इंगित करता है। पुनः ऋग्वेद 10.27.9 में 'यवसाद' घास खाने वालों और 'यवाद' यव खाने वालों के साथ ही विस्तीर्ण अज्र में पशुओं के जोतने का उल्लेख है जो अज्र में खेती की संभावना व्यंजित करता है। इस प्रकार अज्र गिरि की उपत्यकाओं में स्थित चरागाह और खेत का मिश्रित रूप है और सम्भवतः उन लिंचेट का द्योतन करता है जिनका यूरोप के संदर्भ में प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वज्ञों ने अध्ययन किया। इस विरासत के शब्दों के पश्चात्, भारतीय आर्य साहित्य में नवीन युग का प्रवेश होता है जिसमें कृष् धातु से व्युत्पन्न शब्द कृषि, कर्षण, कर्षु, कृष्टि-कृष्टी, कार्ष्म आदि तथा क्षि धातु से व्युत्पन्न क्षेत्र (खेत) शब्द कृषि-कर्म में केन्द्रीय स्थान ग्रहण कर लेते हैं। यह सच है कि भारोपीय धातुओं से व्युत्पन्न सीर और सीता तथा अनार्य भाषा से परिगृहीत 'लांगल' के कृषि-कर्म से सम्बद्ध महत्त्व-

1—यस्चा वस्त्रा वीवापत। यस्चा बदर वोइज्दत् अषाउने॥ यस्न, 32.10.
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो ··· गां अधुक्षत्। ऋ0 1.33.10

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पूर्ण उल्लेख ऋग्वेद में है, किन्तु जिस प्रकार कृष् धातु से व्युत्पन्न विभिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है वैसे इन शब्दों के सगोत्रों का प्रयोग उपलब्ध नहीं। यह भी सच है कि स्तेग, तेजन, वज्र (वैदिक) वदर (अवेस्ता) कर्षण के लिये प्रयुक्त हुये किन्तु ये 'अर' के समान ही कर्षण-यन्त्र प्रतीत होते हैं और या तो अपने प्राचीन अर्थों का क्रमशः परित्याग कर देते हैं अथवा विलीन हो जाते हैं, किन्तु √कृष् और √क्षि निस्सन्देह कृषि-कर्म में एक युगान्तर उपस्थित करते हुए दिखाई देते हैं।

कृष् धातु के विभिन्न रूप कृणतु, कृषन्तु, कृषन्, कर्ष, कर्षथः कर्षथ, कृषस्व, तथा उससे व्युत्पन्न शब्द-राशि कृषि, कृष्टि-कृष्टी, कृष्टिहा, कृष्टिप्र, अकृषीबल, कार्ष्म ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों में प्रयुक्त हैं। वैसे कृष् धातु का प्रयोग अवेस्ता में भी है किन्तु गाथा भाग में इसका प्रयोग नहीं मिलता है, वहाँ खेती के लिये वॅरॅज धातु है जिसका सामान्य अर्थ है 'काम करना'—गवोइ वॅरॅज्यताँम् (यस्न 48.5)। अवान्तरकालीन वेंदिदाद में खेती के लिये कृष् धातु का प्रयोग अवश्य मिलता है—

नो इत् ज़ी ईम्, ज़ो षो या दरॅघ अकरंश्त सअेत या करष्य करषिवत (3.24)

'पृथ्वी वह नहीं जो दीर्घकाल तक बिना कृषि के (अकरशत) पड़ी रहे अपितु हलवाहे (करषि-वत) के द्वारा कर्षण के योग्य (करश्य) है। किन्तु यह स्मरणीय है कि वेंदिदाद में भी कृषि के लिये वॅरॅज् धातु का भी प्रयोग चलता रहता है—

या इमाँम् ज़ॉम अइवि—वॅरॅज्येति (2.25)

—'जो इस पृथ्वी की खेती करता है।'

इस प्रकार खेती करने के अर्थ में कृष् धातु वैदिक और आवेस्तिक साहित्य में मिलता है। यह सम्भावना व्यक्त की गई कि रेखांकन करने के अर्थ में स्लावी धातु च्रे छ्र का सम्बन्ध कृष् धातु से हो। यह भी परिकल्पना की जाती है कि यूनानी टेलास=विचरण करना और टेलेटॉस=दीक्षित करना चर→चृष्→कृष् से सम्बद्ध है। समर्थन में कहा जा सकता है कि सामी शब्द मसीहा का अनुवाद ख्रीष्ट तथा उससे सम्बद्ध शब्द-राशि क्रिश्चियन, कृष्टि शब्द यूनानी-स्लावी भाषा में उपलब्ध हैं। किन्तु कृष् धातु का ऋग्वेद और अवेस्ता में कहीं भी कदाचित् भी विचरण करने अथवा दीक्षित करने के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ। अतः यदि यह मान भी लिया जावे कि क्वेल→टेल् > चर् < चृष् > कृष् व्युत्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से सम्बद्ध हैं तो भी वे भारतेरानी √कृष् का प्रागितिहास ही निर्दिष्ट कर सकेंगे; भारतेरानी काल में कृष्=खेती करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस धातु का यह अर्थ भारतेरानी काल में ही विकसित हुआ, यह साक्ष्यों से अवगत होता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

खेती तथा संस्कृति के इतिहास में कृष् धातु का महत्त्वपूर्ण अवदान है । यह विशेषत: अवधारणीय है कि खेत और हल के लिये प्रयुक्त सभी भारोपीय शब्दों में केवल कृष् धातु अर्थत: कर्षण, खींचने से सम्बद्ध है । उन अर्द, अरॉत्रान्, अरत्रुम् आदि शब्दों का जो 'अर' से व्युत्पन्न हैं तीक्षणाग्रदण्ड का मूलार्थ ही केन्द्र है । जर्मन-स्लाव मूल का प्लोगर—प्लॉग-प्लाउ तो प्लॉग (क्षेत्र-खण्ड) की मौलिक अवधारणा से जुड़े हैं । इसी प्रकार खेती करने के लिये आवेस्तिक ए इवि वॅरॅज्, वॅरॅज (काम करना) एर्गान (काम करना) और कोलेरे (चलना, निवास करना) क्रियाओं से व्युत्पन्न हैं । इनके विपरीत कृष् धातु कर्षण-ट्रेक्शन की नवीन विधा से सम्बद्ध है ।

इस प्रकार 'अर' और √कृष् खेती की दो विभिन्न पद्धतियों को इंगित करते हैं । इन दोनों प्रक्रियाओं ने अर्य और कृष्टि के वर्गों को उत्पन्न किया । अर्य-कृष्टि इस प्रकार आदिम सामाजिक स्तरीकरण को भी व्यक्त करता है जिसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में है ।

जन-व्यवस्था ने सर्वप्रथम मानवों में वर्ग-बद्धता को प्रारंभ किया । जन-व्यवस्था भारोपीय है । यूनानी 'गेनोस्' लातीनी 'जीन्स', पारसीक 'ज़न', आवेस्तिक 'जन्तु' और भारतीय 'जन' सगोत्र शब्द हैं ।

'जन' का प्राथमिक अर्थ मानव-समुदाय है । यूनानी काव्यों में उल्लिखित 'एन्थ्रोपिनॉन गेनॉस्', सिसरो की रचना (देफिनिबस 5.23-24) में उसका समानान्तर 'जीन्स ह्ययूमेना', दारायवौष के नक्शेरुस्तम 'अ' अभिलेख (व 10.11) में दह्युनावीस्प ज़नानां और ऋग्वेद 1.45.1 में 'मनुजातं जनं' समानार्थक हैं और सम्बद्ध मनुष्यों के समूह का द्योतन करते हैं । कालान्तर में गेनोस् और जींस में अन्तर्विभाजन हुआ ।

गेनोस् यूनानी समाज के त्रिविध वर्गीकरण में सबसे छोटी इकाई बन गई—गेनोस्, फ्रात्रिया और फूले । गेनोस् का अर्थ है रक्त संबंध से जुड़े हुए व्यक्तियों का वर्ग अथवा कुल । अनेक कुलों का संकलन फ्रात्रिया था । फ्रात्रिया (फ्रात्र-सं0 भ्रातृ) का शाब्दिक अर्थ है भ्रातृवर्ग । यहां उल्लेखनीय है कि यूनान में भ्रातृ के लिए फ्रातर का प्रयोग न होकर एडेल्फॉय (सहोदर) शब्द प्रचलित है । फ्रातर शब्द साधारणत: फ्रात्रिया वर्ग के सदस्यों के लिए चलता है तथा स्लाव शब्द ब्रातस्तवो और फारसी बिरादरी (बिरादर=भ्रातृ) के समान सम्बद्ध मानवों के वर्ग का अभिधान है । अंतिम विभाजन फूले था । यूनानी फू धातु (संस्कृत भू) से उत्पन्न फूले का शाब्दिक भाषान्तर भव है जो लातीनी ट्राइबस (त्रिभव) में भी उपलब्ध है ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लातीनी समाज भी त्रिधा विभक्त था। अनुश्रुति है कि रोमन संस्कृति के जन्मदाता रोमुलस ने रोमन समाज को तीन भागों में बाँटा—जेन्ति, क्यूरिया और ट्राइबस। जन् धातु से सम्बद्ध जेन्ति समाज का वह वर्ग था जो किसी सामान्य पूर्व पुरुष से उत्पन्न होने के कारण परस्पर सम्बद्ध रहा। दश जेन्ति का सम्मिलित समूह क्यूरिया था जिसकासंकलन ट्राइबस था।

अवेस्ता के गाथा भाग में विभाजन किंचित् भिन्न था—न्मान (दमान), वीसो, षोइथ्र और दख्यू।

आ जी दॅमानॅम् वीसॅम् वा। षोइथ्रंवा। दख्यूं वा आदात्। यश्न 31.18

दमान और वैदिक दम्, लातीनी दोयस् और यूनानी 'दोम' का सगोत्र हैं और इनका अर्थ गृह है। वीस्पो भी भारोपीय शब्द है—यूनानी ओइको (घर), लातीनी वीशुस् (ग्राम), स्लाविक विसि (ग्राम) और संस्कृत विश् इसके सगोत्र शब्द हैं। तीसरा शब्द षोइथ्र महत्त्वपूर्ण है। इसका वैदिक रूपान्तर क्षेत्र है। षोइथ्र शब्द फारसी में शहर बन जाता है। दख्यु देशवाची है। इस प्रकार दमान (गृह), विश (ग्राम), षोइथ्र (शहर) और दख्यू (देश) के रूप में समाज के चतुर्विध रूप हैं।

मनोरंजक तथ्य यह है कि अवान्तरकालीन यस्नों में यह चतुर्विध विभाजन किंचित् परिवर्तन के साथ मिलता है—

न्माननाँम् च वीसाँम् च ज़ँतुनाम् च दख्युनाँम् च। यश्न 9.1

अथवा

मान हे न्मानोपतोइश् रतूम् आ वीस्पो वीस्पतोइश् रतूम् आ जँतउश् जँतुपतोइश् रतूम्, आ दञ् छुउश् दञ्हुपतोइश् रतूम् 1.3

यहाँ दमान, वीस्प, ज़ँतु और दञ्हु तथा दमान-पति, वीस्पपति, ज़ँतुपति और दख्युपति एक क्रम से मिलते हैं। गाथाओं के वर्गों का 'षोइथ्र' कालान्तर में ज़ँतु हो जाता है।

भारतीय जन में इस प्रकार का अन्तर्विभाजन नहीं दिखाई देता है। मानव-जन, भरत-जन, याद्व जन आदि एक जनक से प्रजात मानव-समूह के रूप में विद्यमान रहा। प्रसंगात् गृह, विश् आदि के साथ जनों का उल्लेख मिलता है किन्तु वह अन्तर्विभाजन के रूप से नहीं; उदाहरणार्थ—

"स दर्शतश्रीरतिथिर्गहे गृहे वने वने शिश्रिये तक्वरीरिव।

जनं जनं जन्ये नाति मन्यते विश आसेति विश्यो विशं विशम्"।। ऋ० 10.91.10.—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'दर्शनीय विभूति अतिथि के रूप में अग्नि घर-घर में, वन-वन में आश्रय लेता है। जन सम्बन्धी अग्नि जन-जन में शीघ्र गमनशील बन्धु के समान छोड़कर जाता नहीं है, विश् के सदस्य के समान विश् विश् में आता है।'

यहाँ जन, विश् और गृह तीनों का एक साथ उल्लेख है और यह कहा जा सकता है कि अवेस्ता में उल्लिखित ज़ंतु, वीस्प और न्मान के समान यहाँ भी त्रिविध अन्त-र्विभाजन दिखाई देता है। किन्तु यह समीचीन नहीं। ऐसे युगपत उल्लेख अत्यन्त विरल हैं और भारतीय जन के संगठन के अध्ययन से जन और विश् के अन्तर्विभाग का अनुमान समर्थित नहीं।

अन्तर्विभाजन के पूर्व रोमन जींस के समान भारतीय जन कुलों में विभक्त था। यह प्रमाण व्यक्तिगत नामों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन रोमन जींस के समान ही भारतीय जनों के व्यक्तियों के भी त्रिविध नाम हुआ करते थे। ईसा की प्रथम शती में क्विण्टिलियेनस का कथन है कि प्रत्येक रोमन नागरिक के तीन नाम होते थे; जन-नाम (नोमेन जेण्टाइल), जो एक जींस का दूसरे जींस से विभेद करता था, दूसरा सहनाम (काग्नोमेन) जो जन के अन्तर्गत एक वंश का दूसरे वंश से अन्तर प्रदर्शित करता था और तीसरा प्राङनाम (प्रेइ-नोमेन) जो व्यक्तिगत नाम था और वंश के एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से विभिन्नता द्योतित करता था—जैसे क्विण्टस तूलियस सिसरो अभिधान में तूलियस तो नोमेन जेण्टाइल है, सिसरो काग्नोमेन और क्विटस व्यक्तिनाम।

भरत-जन में भी त्रिविध नाम हुआ करते थे जैसे—

"शतानीकः समन्तासुमेध्यं सात्राजितो हयम्।
आदत्त यज्ञङ्काशीनाम्भरतः सत्वतामिति।।"

शा०ब्रा० 1.1.4.21

'शतानीक सात्राजित भरत' में शतानीक व्यक्तिगत नाम, सात्राजित पैतृक नाम और भरत जन नाम था। प्रायः लघु सन्दर्भों में जन नाम का उल्लेख न होकर पैतृक और व्यक्तिगत नाम का सन्दर्भ रहता था।

जन का नाम प्रजनन से सम्बद्ध होता है। भारोपीय गेन् धातु=संस्कृत जन्=जनने से व्युत्पन्न है; जन, प्रजा, (संस्कृत) फ्रज़ेन्ति (अवेस्ता) प्रो-जेनीस (लातीनी) का समुदाय जन, ज़न, जेन्ति, जींस है। जन नाम का आधार जन के प्रवर्तक जनक का नाम था। भरत-जन अथवा भारत-जन का प्रवर्तक भरत था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्युत्पत्ति के आधार पर जन (भारतीय) ज़न्तु (आवेस्तिक), गेनोस् (यूनानी) और जींस (लातीनी) सदृश होने पर भी और मूलतः मानव-समुदाय के रूप में समानार्थक होने पर भी समाज में अन्तर्विभक्त वर्ग के रूप में भिन्नार्थक हैं। पुनः यह अवधेय है कि विश्, वीस्प, वीशुस् और ओइकुस् मौलिक रूप से अभिन्न थे किन्तु कालान्तर में भारतीय, ईरानी, लातीनी और यूनानी परम्पराओं में विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं का द्योतन करने लगे।

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जन और विश् की धाराएँ एक दूसरे से स्वतंत्र और निरपेक्ष रीति से प्रवाहित होती रहीं। विश्-परम्परा वर-निवासी वर्णों के विशेषतः क्षत्रियों और अर्यों के प्रभाव से विभक्त हुई। जन से जनपद और महाजनपद का विकास हुआ। विश् कालप्रवाह में ब्रह्म, क्षत्र और विश् में परिवर्तित हो गए।

इस परिवर्तन के पूर्व की स्थिति अर्य-कृष्टि एवं चर्षणी के स्तरों के निरूपण से इस ग्रन्थ में विवेचित है।

इसी प्रकार गोपा, शर्ध, क्षत्र, राजा के अर्थ-विकास से राजनीतिक स्वरूप का उद्घाटन किया गया। किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है––जन सन्निवेशों का रथक्षय, पस्त्य, व्रज, व्रजन, अर्म आदि का विवेचन।

सारांश में, आर्यों के आदिम जन सन्निवेशों की स्थिति एवं जीवन के उद्घाटन का यह एक महत्त्वपूर्ण एवं पथिकृत प्रयास है। इसमें अनेक नवीन उपस्थापनाओं का प्रतिपादन तो है ही, किन्तु इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है शब्दों के अर्थ-परिवर्तन और उसकी प्रक्रिया के अध्ययन से सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अवधारणाओं और स्थितियों के संरचन की एक नवीन शोध-विधा का प्रयोग। भारतीय इतिहास के क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के रूप से इस दिशा में कुछ प्रयास अवश्य हुआ था, किन्तु उस समय इसका प्रमुख लक्ष्य आर्य-भाषाओं के वंश-वृक्ष के विभिन्न शाखाओं की पहचान थी। प्रसंगतः इतिहास-संरचना के लिये भी इसका कुछ अवान्तर काल में उपयोग हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस पद्धति का विस्तार पूर्वक प्रयोग हुआ है और इस माध्यम से आर्यों के आदिम जन सन्निवेशों की स्थिति के अध्ययन और संरचना में इसका अवलम्बन किया गया है। यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान है और इससे भारतीय इतिहास के आदिम स्वरूप का उन्मीलन एवं नवीन आयाम का निर्माण होगा—ऐसी आशा है। यह भी मेरी धारणा है कि इस नवीन विधा से उन भ्रान्तियों का निराकरण होगा जो पाश्चात्य संस्कृति एवं पुरातत्त्व के सन्दर्भ में निर्मित साँचे में ढले हुये आदिम भारतीय इतिहास के लेखन में आ गई हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विदेह माधव के समान शोध की सदानीरा की बाधाओं का अतिक्रमण कर डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र ने एक नवीन क्षेत्र को आलोकित किया है। आलोक से ही लोक का प्रतिभान होता है—ज्योतिर्यदह्ने अकृणोदु लोकम्। आलोक जितना स्वच्छ होगा, लोचन जितने निर्मल होंगे, लोक-दर्शन उतना ही स्पष्ट होगा, लौकिक इतिहास उतना ही सुसङ्गत होगा। इस भावना से यह अभिनव प्रयास विद्वानों के कर-कमलों में समीक्षा के लिये अर्पित है।

पूर्वायतन, **विश्वम्भरशरण पाठक**
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विषय-सूची

	पृष्ठ
आलोक	(५)—(२८)
विषय-सूची	1
चित्र-सूची	2
संकेत-सूची	3–4
कृतज्ञता-ज्ञापन	5
स्वस्ति	7–10
प्रथम अध्याय—प्रवेशक	11–33
द्वितीय अध्याय—जन-सन्निवेश	35–90
तृतीय अध्याय—समाज : स्तरों के प्राग्रूप	91–148
चतुर्थ अध्याय—राजनीतिक संगठन का प्राग्रूप	149–186
पञ्चम अध्याय—कृषि-दर्शन	187–210
षष्ठ अध्याय—उपसंहार	211–217
परिशिष्ट :	
(1) ग्राम एवं ग्राम-जीवन के अद्यावधि शोध का सर्वेक्षण	221–226
(2) वैराज्य-अराजक स्थिति का विवेचन	227–236
(3) प्रशासन आदि कारणों से ग्रामों के अवान्तरकालीन विकास का विवरण	237–255
सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची	257–279
अनुक्रमणिका	281–308

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चित्र-सूची

1. नग्न-स्त्रियों एवं वनस्पति से अलंकृत चकिया, ई० पू० द्वितीय शती
2. जमालपुर (मथुरा) से प्राप्त दुग्धधारिणी की मूर्ति
3. दुग्धधारिणी मूर्ति का पृष्ठभाग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संकेत-सूची[1]

अथर्व०	=अथर्ववेद
अ०का०	=अयोध्या काण्ड
अष्टा०	=अष्टाध्यायी
आप०श्रौ०सू०	=आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आश्व०श्रौ०सू०	=आश्वलायन श्रौतसूत्र
ई०आई०	=एपिग्राफिआ इण्डिका
ऐ०ब्रा०	=ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ०	=ऋग्वेद
का०सं०	=काठक संहिता
कौ०अर्थ०	=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०सू०	=कौषीतकी सूत्र
गो०ब्रा०	=गोपथ ब्राह्मण
जे०बी०बी०आर०ए०एस०	=जनरल आफ दी बाम्बे ब्राँच आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
जै०उ०ब्रा०	=जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
ता०ब्रा०	=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तै०सं०	=तैत्तिरीय संहिता
तै०ब्रा०	=तैत्तिरीय ब्राह्मण
बौ०ध०सू०	=बौधायन धर्मसूत्र
महा०भा०	=महाभारत

---

1. इस सूची में उन ग्रन्थों के संकेत चिह्न दिये गये हैं जिनका इस ग्रन्थ में संक्षिप्त नाम से उल्लेख है । शेष ग्रन्थों का उल्लेख उनके पूर्ण नाम से हुआ है ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

म०भा०शा०प०	=महाभारत शान्ति पर्व
म०स्मृ०	=मनुस्मृति
मै०सं०	=मैत्रायिणी संहिता
ला०श्रौ०सू०	=लाटायन श्रौतसूत्र
बृ०उ०	=बृहदारण्यक उपनिषद्
वा०रा०	=श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
वाज०सं०	=वाजसनेयी संहिता
शत०ब्रा०	=शतपथ ब्राह्मण
शां०श्रौ०सू०	=शांखायन श्रौतसूत्र
शु०यजु०	=शुक्ल यजुर्वेद
सी०आई०आई०	=कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इंडिकेरम्

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रस्तुत प्रकाशन मेरे शोध-प्रबन्ध का पुस्तकाकार रूप है। वास्तव में मेरे शोध-कार्य की पूर्णता का श्रेय स्वर्गीय पूज्य पिताश्री को है जिनके प्रश्नों से बचने के लिये मन्द गति से ही सही, मैं इस कार्य में निरन्तर लगा रहा। अपने निर्देशक डॉ० विश्वम्भर शरण पाठक, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के स्नेह एवं मेरे कार्य के प्रति रुचि के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु मेरे पास शब्द नहीं हैं। वास्तव में उनके ज्ञानार्णव से ग्रहीत कतिपय कण ही इस ग्रन्थ के प्राण हैं। परमादरणीय गुरुवर प्रोफेसर गोवर्द्धन राय शर्मा, भूतपूर्व निदेशक, एडवांस्ड सेण्टर आफ आर्क्योलॉजी, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, से समय-समय पर प्राप्त परामर्श से शोध-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान सम्भव हो सका। प्रोफेसर ब्रजनाथ सिंह यादव तथा स्वर्गीय डॉ० महावीर प्रसाद लखेरा, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, ने प्रबन्ध के कुछ अंश देखकर अनेक उपयुक्त सुझाव दिये। प्रोफेसर सिद्धेश्वरी नारायण राय, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय तथा डॉ० वी० एन० मिश्र, सर गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट, प्रयाग, ने पुस्तकें उपलब्ध कराने में मेरी बड़ी सहायता की। पितृव्य आचार्य केशव चन्द्र मिश्र की प्रेरणा मेरा सम्बल रही है। विभागीय मित्रों, विशेष रूप से डॉ० शैलनाथ चतुर्वेदी, डॉ० जयमल राय तथा डॉ० विजय बहादुर राव की अहैतुकी सहायता मुझे साधिकार सुलभ होती रही। शिष्य-परम्परा में श्री माता प्रसाद त्रिपाठी, डॉ० गोरखनाथ एवं डॉ० हृदय नारायण सिंह विविध रूपों में सहायक रहे। सन्दर्भों की पुष्टि के प्रसंग में चि० मधुसूदन एवं राममनोहर ने पर्याप्त श्रम किया। मैं इन सभी के प्रति हृदय से अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पुनः, इस ग्रन्थ का प्रकाशन हमारे निर्देशक प्रोफेसर पाठक की प्रेरणा और उत्साह-वर्धन से ही सम्भव हो सका है। उन्होंने विभिन्न व्यस्तताओं के होते हुए भी 'आलोक' लिखकर मुझे उपकृत किया है। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, ने इसके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता प्रदान की है जिसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। पूर्वा संस्थान, गोरखपुर तथा हिन्दुस्तानी आर्ट काटेज, लखनऊ के व्यवस्थापक इस ग्रन्थ को अत्यन्त अल्प समय में सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिए हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अत्यन्त शीघ्रता में छपने के कारण ग्रन्थ में यत्र-तत्र मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गई हैं। इसके लिए मैं सुविज्ञ पाठकों से क्षमा-याचना करता हूँ।

सच्चिदानन्द मिश्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वस्ति

'स्वस्ति नः इन्द्रो वृहस्पतिः'

ऋग्वेद 1.89.6

जब मैंने ग्राम-सन्निवेश और ग्राम्य जीवन के सामाजिक परिवेश पर शोध-कार्य प्रारम्भ किया था, तब यह नहीं सोच पाया था कि प्रस्तुत अध्ययन आर्य-जीवन के आदि-कालीन स्वरूप के उद्‌घाटन में परिणत हो जायेगा । किन्तु धीरे-धीरे जब वैदिक साक्ष्य संकलित हुए, उनके अर्थ-विनिश्चय के लिए निरुक्त और व्याकरण के साथ ही साथ भारोपीय भाषाओं में सगोत्र शब्दों के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ तो शोध का परिप्रेक्ष्य ही बदल गया और ज्यों-ज्यों शोध-कार्य आगे बढ़ा त्यों-त्यों इस परिप्रेक्ष्य में भी परिवर्तन आता गया । अब गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर देखता हूँ कि प्रस्थान-बिन्दु ही तिरोहित-सा प्रतीत होता है । अब यह ग्राम-सन्निवेश और ग्राम-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और दार्शनिक परिपार्श्वों के आदिम रूप का अध्ययन हो गया है ।

यह यात्रा निश्चय ही दुरूह थी । मैं भाषाशास्त्री नहीं, इतिहास का एक विद्यार्थी हूँ । संस्कृत भाषा का भी मेरा ज्ञान 'विन्दु-द्वन्द्व-तरंगिताग्र-सरणि' तक ही सीमित है । किन्तु इस शोध-प्रबन्ध में भाषा-शास्त्र का प्रेत मेरे सिर चढ़ गया और काल के परिच्छेद को तोड़ता हुआ अतीत के विस्मृत अन्तराल में, एक अदृष्टपूर्व लोक में ले गया। उसी की कहानी इन पृष्ठों में वर्णित है ।

इस प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में यायावरीय जीवन से स्थायी निवास, 'ध्रुवा-क्षिति', तक की क्रमिक यात्रा को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है । विस्तार से इस यात्रा-विवरण को आप प्रस्तुत प्रबन्ध में शायद पढ़ें ही । यहाँ आपके मनोविनोद के लिए कुछ मनोरंजक घटनायें सुनाऊँ। वैदिक 'क्षि' धातु, जिसके रूप यूनानी, प्राचीन फारसी आदि भाषाओं में भी मिलते हैं, वह साथ ही साथ निवास और गति का द्योतन करती है । उसके अन्तराल में झाँकने पर संचरणशील निवास की स्थितियों का पता चला—'रण्वः क्षयः' (चलने वाले निवास) से 'ध्रुवा-क्षिति' (स्थिर निवास) के विभिन्न विकास-चरण ज्ञात हुए । इसमें 'अर्म', 'गर्त्त' आदि भी सहायक थे । कौन जानता था, कम से कम मैं तो नहीं जानता था, कि 'गड्ढा' और 'गाड़ी' एक स्थिर, दूसरा जंगम—दोनों का पिता वैदिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'गर्त्त' था, जिसने 'यार्ड' और 'कार्ट' का भी प्रजनन किया था। वैदिक 'व्रजन' तो 'अनेक रूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे' के समान ही प्रणम्य है। वैदिक 'व्रजन' अवेस्ता में 'वॅरॅज़ॅन', प्राचीन फारसी अभिलेखों में 'वरदन', मध्यकालीन यूरोपीय भाषाओं में 'वार्डेन' और फिर संस्कृत में प्रविष्ट होकर 'वर्धन' हो गया। विचित्र है उसकी यात्रा।

प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में 'अर्य' का उत्थान-पतन 'पतन-अभ्युदय बंधुर-पंथा युग-युग धावित यात्री' के समान ही शिक्षाप्रद है। केवल अन्तोदात्त 'अर्य' आद्योदात्त हुआ कि स्वामी से वह वैश्य बन गया और अमरसिंह उसकी याद में रटता रहा 'अर्यः स्वामि-वैश्ययोः'।

चतुर्थ अध्याय का 'शर्ध' भी मनोरंजक है। कुछ दिनों पूर्व मैं एक राजस्थान-निवासी मित्र के यहाँ साग्रह निमंत्रित होकर भोजन करने गया। वहाँ उसकी अत्यन्त स्नेहमयी पत्नी ने अनेक व्यंजन बनाये। जब मैंने भोजन की प्रशंसा की तो वह कहने लगीं, "मुझे बुखार-सा आ रहा है, बनाया है पर कोई 'सरधा' नहीं। आप भोजन करें।" 'सरधा' का सीधा अर्थ श्रद्धा लगाया और सारे भोजन का स्वाद तिक्त हो गया। आज जब यह पता चला कि वैदिक 'शर्ध' शक्तिवाची शब्द है और राजस्थानी 'सरधा' का अर्थ श्रद्धा नहीं, शक्ति है तो मुख की वह तिक्तता हटी। यही शर्ध अवेस्ता और फारसी में सरॅद बना और वहाँ इसका अर्थ हुआ लश्कर, सेना। फारसी के मत्वर्थीय 'आर' प्रत्यय से युक्त होकर शर्ध सरदार बन गया। इसलिए जब दिल्ली की सड़कों पर कृपाण-उष्णीष-धारी श्मश्रु-विलसित-मुख के सरदार पंजाबी लहजे में 'गल्ल' करते हुए दिखाई देते हैं, तो शर्ध के इस परिवर्तन को देखकर जगत् के प्रतिक्षण-परिणाम का दर्शन प्रत्यक्ष रूप से ही दृष्ट हो जाता है। गौ का त्राण-कर्ता गोपा काल के प्रभाव में 'भुवनस्य गोपा' बन जाता है। काल की महिमा अकथ्य है। इसी के साथ 'गण', 'व्रात' और 'क्षत्र' की कथा है। 'परम-भट्टारक महाराजाधिराज' के पितामह 'राजा' का विकास भी कृपया देखियेगा— कैसे 'ऋजुनयन' करने वाला अन्ततः 'राजा' बन बैठा।

अन्तिम अध्याय में 'श्री' का दर्शन है। उज्ज्वल-हरितवसना शुभधरणी वधू-वेश में किस प्रकार प्रसवनशीलता की 'श्री' बन गई, उसकी कुक्षि से पादपों की विशाल हरीतिमा का वैसे ही उद्भव हुआ है, जैसे माता के उदर से शिशु का जन्म। यह तथ्य वैदिक ऋचाओं से तो ज्ञात हुआ ही कर्मकाण्ड में भी प्रतीक बनकर सजीव हो उठा।

आप आगे बढ़कर स्वयं पढ़ लें और देख लें कि ग्राम-जीवन के उषा-काल के इस वृत्तान्त में जन-सन्निवेश, सामाजिक स्तरीकरण, आर्थिक आधार, राजनीतिक संगठन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और धार्मिक विश्वास के मिले-जुले सूत्रों में एकतानता है, विभिन्न विन्दु एकोन्मुख होकर एक सम्बद्ध चित्र उपस्थित कर रहे हैं ।

इस प्रबन्ध में यत्र-तत्र पुरातात्त्विक, नृतत्त्वीय एवं वास्तु-शास्त्रीय साक्ष्यों का प्रयोग किया गया है, किन्तु जान-बूझकर पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों का सभी स्थलों पर और सर्वांग रीति से समन्वय का प्रयत्न नहीं किया गया है । इसके लिए एकाधिक शोध-प्रयासों की आवश्यकता होगी । फिर यह आवश्यक है कि जिस प्रकार पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर यायावरीय अथवा अल्पकालिक निवासी-जीवन का एक विकास-परक मानचित्र बन गया है, उसी प्रकार साहित्यिक साक्ष्यों के माध्यम से भी बने, इसके पहले कि दोनों का संयोजन हो । मेरी विनम्र धारणा है कि यह प्रयास––साहित्यिक प्रमाणों से परिपुष्ट यायावरीय अल्पकालिक निवास-गत जीवन का विकास––इस प्रवन्ध में उपलब्ध है ।

ग्राम और ग्राम्य जीवन पर अद्यावधि कृत शोध-कार्यों का एक संक्षिप्त विवरण प्रथम परिशिष्ट में दे दिया गया है, जिसकी पृष्ठभूमि में इस शोध की विधा और परिणामों का पार्थक्य स्पष्ट हो सके। द्वितीय परिशिष्ट में अराजक स्थिति का विवेचन किया गया है तथा तृतीय में परवर्ती काल में विकसित ग्रामों के प्रकारों की विस्तृत सूची दी गई है ।

महाभारत के अनुसार आत्मप्रशंसा आत्महत्या के ही समान है, इसलिए अपनी और अपने प्रबन्ध की तारीफ नहीं करूंगा किन्तु विनम्रतापूर्वक एक बात कहना चाहूँगा । तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर सांस्कृतिक संरचना का कार्य उन्नीसवीं शती में बहुत हुआ । होल्गर पेडर्सन ने 'लिग्विस्टिक साइंस इन दी नाइंटींथ सेंचुरी' पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इसका विस्तृत विवरण दिया है । ओ० श्राडर ने 1890 में 'प्री-हिस्टारिक एण्टीक्विटीज आफ दी आर्यन पीपुल्स' में भाषा-विज्ञान के माध्यम से आर्यों की सभ्यता का विवेचन किया था और उसमें यत्र-तत्र ऋग्वेदीय और आवेस्तिक साक्ष्यों का उपयोग भी था । किन्तु उसके पश्चात् यह विषय ही तिरोहित सा हो गया । दुमेजिल ने प्राचीन दन्तकथाओं का विश्लेषण किया तथा थीमे, बेली और बरो ने व्युत्पत्तिशास्त्र की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखी, पर सांस्कृतिक संरचना का प्रयास नहीं हुआ । बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में अवश्य पुनः इस विषय की जागृति हुई और इस क्षेत्र में जर्मनी के अतिरिक्त अमेरिका का भी योगदान रहा । लेकिन इस काल में यह विषय यूरोप को ही केन्द्र बना कर घूमता रहा है । उन्नीसवीं शती में ऋग्वेद और अवेस्ता की धुरी पर ही यह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विषय संचरित हो रहा था, बीसवीं शती में ये दोनों स्रोत—ऋग्वेद और अवेस्ता—केवल अवान्तरीय महत्त्व के ही रह गये। बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में जो विवेचन हुआ उसमें वैदिक साहित्य पर दृष्टि ही नहीं, भाषात्मक पुरातत्त्वशास्त्र का यह उत्थान यूरोपीय भाषाओं और यूरोप के क्षेत्र को धुरी बनाकर ही घूम रहा है। मैं संकोचशील शिष्ट व्यक्ति हूँ, इसलिए यह नहीं कहूँगा कि यह प्रबन्ध इस कमी को पूरा करने का प्रयास है। इतनी अवश्य आशा करता हूँ कि मेरे इस विनम्र प्रयास से विद्वान् शायद इस ओर पुनः दृष्टिपात करेंगे।

यहाँ मैं यह कह दूँ कि भाषाशास्त्र का ज्ञान और वैदिक वाङ्मय का अध्ययन मेरी निजी अनुभूतियों से स्वभावतः संवलित हुए। कलकलनिनादिनी सरयू, बौराये आम्र-कुंज, फैले हुए विस्तृत खेत और छोटे-छोटे झोपड़ों के सामने अपनी मस्ती में "चौपालों पर बैठ कृषक गाते कहं अटके बनवारी" यह मेरे शिशु-जीवन का परिपार्श्व था। यौवन की ऊष्मा के आगमन के साथ ही परिवेश बदला। विद्युत् से प्रकाशित उच्च अट्टालिकाओं और यंत्रचालित वाहनों के बीच एक ओर विलास-समृद्धि का आयाम विस्तृत करते हुए तो दूसरी ओर यांत्रिकता के बंधनों में ग्रस्त होते हुए मानव की महानगरी का वातावरण मेरे युवक-जीवन का पर्यावरण बना। इन्हीं दो प्रकारों की दोला में झूलता हुआ जीवन बीत रहा है। ग्राम-जीवन के मूल्यों और उसके उद्भव के विषय में स्वभावतः ही प्रश्न उठे, जिनमें से बहुत से तो इस प्रबन्ध में अनुत्तरित ही हैं। किन्तु कुछ पर अवश्य ही नवीन दृष्टि उपलब्ध हुई।

यह प्रयास एक साधारण, क्षुद्र और विनम्र है। विद्वानों की क्या प्रतिक्रिया होगी, इसको दैवज्ञ ही जाने, किन्तु रवि ठाकुर के निम्नोक्त शब्द मेरी सान्त्वना के लिए यथेष्ट हैं :—

"प्राचीरेर छिद्रे एक नामगोत्रहीन,
फूटियाछे छोटो पुष्प अतिशय दीन,
धिक् धिक् करे तारे कानने सवाई
सूर्य उठि स्वस्ति करे 'भालो आछे भाई' ?

सच्चिदानन्द मिश्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रवेशक : शोध-पद्धति का विवेचन एवं विश्लेषण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय इतिहास की संरचना में साधनास्वरूपा 'शाब्दी' एवं 'पदार्थी' परम्परायें मूलाधार के रूप में स्वीकृत हैं। साहित्य के रूप में उपलब्ध शाब्दी परम्परा मुखर एवं श्रव्य है तथा पुरातत्त्व द्वारा उद्घाटित पदार्थी परम्परा दृश्य है। ये दोनों ही परम्परायें अपनी सीमाओं और गुण-दोषों के कारण अपूर्ण हैं, क्योंकि यदि साहित्य परम्परा में हमको 'नाम' उपलब्ध होता है, तो पुरातत्त्व में हमें 'रूप' के दर्शन होते हैं। 'नामी' के बिना संकेतित अथवा अभिहित 'रूप' के अभाव में 'शब्द' स्वरमात्र है, निरर्थक है। इसी प्रकार 'नाम' के बिना 'रूप' अथवा 'नामी' अपने को मुखरित नहीं कर पाता। अतः इतिहास-संरचना में 'नाम' और 'रूप'—'शब्द' और 'पदार्थ' का समन्वय आवश्यक है।

'शब्द' और 'अर्थ'—'नाम' और 'नामी' के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्राचीन भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में अनेक प्रकार से विवेचन हुआ है। संक्षेप में, इन मतों के दो विभाग किये जा सकते हैं—आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ट। प्रथम परम्परा में प्रमुख रीति से अद्वयवादी तान्त्रिक दर्शन—प्रत्यभिज्ञा और अद्वैतवादी वेदान्त सम्प्रदाय आते हैं। ये 'शब्द' और 'अर्थ' में अभेद्य या तादात्म्य-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। अभेद से तात्पर्य है 'भेद-सहिष्णु-अभेद', जिसमें भेद तात्त्विक नहीं अभेद ही सत्य है अथवा अभेद की लीला ही भेद रूप में व्यक्त होती है। इसमें वाक् के चतुर्विध पाद—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—के माध्यम से शब्दार्थ का तादात्म्य सम्बन्ध विवेचित होता है। यह तादात्म्य सम्बन्ध भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन में भी स्वीकृत है, जहाँ शब्द ब्रह्म के स्फोट से विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति होती है।

वस्तुनिष्ठ परम्परा में नैयायिकों और मीमांसकों का मत विचारणीय है। इनके अनुसार 'शब्द' और 'अर्थ' में 'वाच्य-वाचक' सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध के अनुसार शब्द वाचक और अर्थ वाच्य होता है। इतिहासकार भी शब्द और अर्थ के इस वाच्य-वाचक सम्बन्ध को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ मीमांसक शब्द के अर्थ को नियत और अपरिवर्तनशील मानते हैं, वहीं इतिहासकार इसको परिवर्तनशील और अनियत मानते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इतिहास-संरचना के परिप्रेक्ष्य में शब्द और अर्थ को वाच्य-वाचक रूप से ही परि-ग्रहीत करना पड़ेगा। उत्खननों अथवा अन्य विधियों से प्राप्त पदार्थ एवं साहित्य-प्रयुक्त शब्द ही इतिहास-संरचना के साधन हैं। दोनों ही शेषवत् अनुमान की पद्धति से अतीत का परिचय देते हैं। किन्तु इनमें जहाँ पुरातत्त्व का बल 'रूप' पर होता है, वहीं साहित्य 'नाम' से सम्बद्ध होता है। 'नाम' और 'रूप' परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध तथा सतत परिवर्तनशील होते हैं। 'रूप' में होने वाले परिवर्तन के परिणामस्वरूप 'नाम' में भी परिवर्तन होता है। अतः नाम में होने वाले परिवर्तन के अध्ययन से 'रूप' के विकास का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। शब्दों के अर्थ-विकास के आधार पर विचार और वस्तु के परिवर्तन के क्रम को निर्धारित करने में सहायता मिलती है। इतना ही नहीं अपितु किसी काल विशेष के सामाजिक एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया का ज्ञान भी कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों के अर्थ-विकास के आधार पर किया जा सकता है।

शब्द और अर्थ (पदार्थ) के सामंजस्य से ही—शाब्दी परम्परा (साहित्य) एवं पदार्थी परम्परा (पुरातत्त्व) के योग से ही इतिहास को सर्वांगरीति से सुसज्जित किया जा सकता है। पुरातत्त्व के माध्यम से उपलब्ध पाषाण अथवा धातु के विभिन्न अस्त्र तथा उपकरण, मानव को अस्त्र-उपकरण-निर्माता के रूप से प्रतिष्ठित करता है—ऐसा मानव, जिसके हृदय की उल्लसित भावलहरियां और मस्तिष्क में स्पन्दित विचार की उर्मियां अज्ञात हैं। ऐसा मानव उस नर-कंकाल के समान है, जिसको अस्थियों से परिचय कराने के लिए शरीर-विज्ञान का प्राध्यापक अपने विद्यार्थियों के सामने रखता है, जिससे शारीरिक अस्थि-संस्थान का, दैहिक-संस्थान का, दैहिक-संगठन का, बोध तो हो जाता है, किन्तु देखने में भयावह हैं, बोध भी उसका सपाट और साधारण है—उस वैयक्तिक वैचित्र्यी के साथ नहीं, जो भाव, विचार और आचारों से निर्मित होती हैं और जो इतिहास का आधार है। यह ज्ञात नहीं होता है कि वह नर-कंकाल क्या कालिदास का है, जिसकी भावलहरियों से किसी समय भारत रसस्नात हो गया था, अथवा शंकराचार्य का है, जिसके वेदान्त-दर्शन ने आज तक विद्वानों को अभिभूत कर रखा है, या फिर उस समुद्र-गुप्त का है, जिसके प्रताप से किसी समय सम्पूर्ण भारत ने ऊष्मा पाई थी। इसके विपरीत साहित्य से जो इतिहास का ज्ञान होता है, वह उस सतरंगी इन्द्रधनुष के समान है, जिसमें भाव, विचार और आचार का रंग-बिरंगा दृश्य तो है, किन्तु जिसका भौतिक आधार सुदृढ़ नहीं, निर्बल है, जो स्पर्श मात्र से वाष्प बनकर उड़ जावेगा और जिस पर प्रत्यंचा चढ़ाकर बाण-सन्धान नहीं किया जा सकता।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्या यह सम्भव नहीं कि पुरातत्त्व से भौतिक आधार और साहित्य से वैचित्र्यी प्राप्त कर इतिहास का ऐसा कलेवर बनाया जा सके कि उसमें नर-कंकाल का दृढ़ अस्थि-संस्थान हो और इन्द्रधनुष का रंग-विरंगापन हो ?

अर्थ-निर्धारण से ऐतिहासिक स्थिति-निर्धारण—यायावरीय जीवन

इस प्रबन्ध में इस प्रश्न के उत्तर देने का विनम्र प्रयास किया गया है। एक उदाहरण लीजिये। पुरातत्त्व से हमें निरन्तर भ्रमणशील तथा पाषाण (और बाद में धातु) के औजार बनाने वाले उस मानव-समूह का ज्ञान होता है, जिसको पुरातत्त्वज्ञ बर्बर कहते हैं। पुरातत्त्व से इनके कुछ भौतिक परिपार्श्व का ही परिचय होता है। प्रश्न है कि क्या इनका कोई दर्शन नहीं था, क्या इनका कोई कर्मकाण्ड नहीं था और क्या प्राकृतिक सौन्दर्य और भावगत-सुषुमा से इनका हृदय कभी स्पन्दित नहीं हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर योरोपीय प्रागितिहास नहीं दे सकेगा क्योंकि उनके पास इतना प्राचीन साहित्य नहीं कि उसमें इस काल का क्षीण अनुगुंजन भी सुरक्षित हो। किन्तु यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि भारत में न केवल अत्यधिक प्राचीन साहित्य है, अपितु प्राचीनतम जीवन-पद्धति की परम्परा का अवान्तरकाल तक अनुवर्तन भी रहा, जो लेखबद्ध है।

अनुगुंजन

पहले अनुगुंजन की ही बात लें। आदिम संस्कृति का संचरणशील मानव क्रमशः निवास बनाकर रहने लगा। अन्न-संचयन की वृत्ति के पश्चात् उसने अन्नोत्पादन की वृत्ति अपना ली थी। क्रमशः ग्राम-नगर का विकास हुआ। किन्तु संस्कृति के विविध पक्ष विकसित होने पर भी धर्म के कतिपय पक्षों में आदिम मानव की संचरणशीलता की संस्कृति अविकसित रीति से प्रवहमान होती हुई धार्मिक चर्चा के रूप में उपलब्ध होती है। बौधायन धर्मसूत्र वानप्रस्थ के त्रिविध प्रकारों का उल्लेख करता है[1]—यायावर, चक्रचर और शालीन। इनमें अन्तिम शालीन तो गृह-निवासी है। किन्तु यायावर और चक्रचर निरन्तर संचरणशीलता की संस्कृति वहन करते हैं। एक विशिष्ट क्रम में चक्रानुरूप संचरण करने वाले वानप्रस्थ को चक्रचर कहते थे। किन्तु गोविन्दस्वामी के अनुसार चक्रचर भी यायावर का ही नाम है।

यायावर का उल्लेख तो अनेक वैदिक परम्पराओं के ग्रन्थों में हुआ है। मैत्रायणी

1. "शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्त्या वरया यातीति यायावरत्वम्। अनुक्रमचरणाच्चक्रचरत्वम्"। बौधायन धर्मसूत्र 3.1.3.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संहिता आदि ग्रन्थों में इसके विषय में विशिष्ट सूचनायें मिलती हैं।[1] बाद में इनके दर्शन और आर्थिक वृत्ति के विषय में विवेचन किया गया है। यहाँ केवल वानप्रस्थ के नियमों के संदर्भ में कुछ पक्ष अवलोकनीय हैं।

यह निश्चित है कि बौधायन धर्मसूत्र के काल तक सामान्य यायावरीय वृत्ति उच्छिन्न हो गई थी और नागर सभ्यता का विकास हो चुका था, किन्तु धार्मिक परम्परा में अविकसित रीति से प्रवहमान इस धारा के कुछ चिह्न बौधायन धर्मसूत्र में उपलब्ध होते हैं। बौधायन धर्मसूत्र में नौ वृत्तियों का उल्लेख किया गया है[2] जिनमें सात अन्न-संग्रहण से सम्बद्ध हैं और दो अन्नोत्पादन से। अन्न-संचयन की वृत्ति में भिक्षाटन से प्राप्त होने वाले अन्न से, अथवा जहाँ औषधियां और वृक्षादि हों, उन स्थानों पर झाड़ू से बुहार कर प्राप्त होने वाले अन्न से, अथवा एक-एक कण को एकत्र कर उसी के भक्षण से जीवन-निर्वाह का विधान दिया गया है। ठीक इसी प्रकार कापोता वृत्ति के अन्तर्गत मार्गों में अथवा खेतों में अथवा जिन स्थानों पर प्रवेश का मार्ग अवरुद्ध नहीं है, उन स्थानों पर विद्यमान औषधियों में से दो अंगुलियों के माध्यम से केवल एक-एक अन्न अथवा फल को ग्रहण कर कपोत के समान जीविकोपार्जन का निर्देश दिया गया है।

अन्नोत्पादन से सम्बद्ध जिन दो वृत्तियों का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र में किया गया है, वे हैं—षण्णिवर्तनी और कौद्दाली। इन दोनों वृत्तियों में कृषि-कर्म से सम्बन्धित कुछ नियमों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ 'षण्णिवर्तनी' वृत्ति के अन्तर्गत बिना जोती हुई छः निवर्तन भूमि में कृषि करने का विधान दिया गया है। इसमें ऐसे बैलों की सहायता से कृषि करने का विधान दिया गया है, जिनकी नाक में छेद कर रस्सी न पिन्हाई गई हो, जिन्हें बधिया न किया गया हो। इतना ही नहीं, इन बैलों को हाँकते समय कोड़े या डण्डे से न मारने का भी निर्देश दिया गया है। उन्हें केवल पुचकारते अथवा दुलारते हुए हाँकने का निर्देश दिया गया है। ठीक इसी प्रकार कौद्दाली वृत्ति में कृषि-कर्म से सम्बद्ध कतिपय उपकरणों और नियमों का भी उल्लेख किया गया है।

कौद्दाली वृत्ति का अनुसरण करने वाले व्यक्ति को किसी जलाशय के समीप स्थित

---

1. द्रष्टव्य, आगे पृ० 31-32
2. "षण्णिवर्तनी कोद्दाली ध्रुवा सम्प्रक्षालनी समूहापालिनी सिलोञ्छा कापोता सिद्धेच्छेति नवैताः"। बौ०ध०सू० 3.1.5.
इसके अतिरिक्त वन में निवास कर जीविका-निर्वाह करना दसवीं वृत्ति होती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भूमि को कुद्दाल से, फाल से अथवा किसी नुकीले काष्ठदण्ड[1] से खोद कर बीज बोकर कन्द, मूल, फल, शाक और औषधि उत्पन्न करने का विधान दिया गया है ।[2] यहाँ न केवल कृषि-कर्म में प्रयुक्त होने वाले कतिपय उपकरणों की ही चर्चा की गई है वरन् सिंचन-कार्य में सहायक होने वाले जलाशय की भी चर्चा की गई है । बौधायन धर्मसूत्र में प्रसंगतः वीवथ (बोझ उठाने का डंडा या वहंगी) और कुथहारि या हँसिया जैसे कृषि-कर्म से सम्बद्ध प्रारंभिक या आदिम उपकरणों का उल्लेख तो किया ही गया है,[3] इसके साथ ही अकृष्ट अन्न यथा श्यामक, तिल आदि जंगली अन्नों को खाकर जीविका-निर्वाह करने की भी बात की गई है और इस प्रकार जीवन-निर्वाह करने को वान्या वृत्ति कहा गया है ।[4] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में भी अरण्य में बिना कृषि के उत्पन्न होने वाले सुरभित अन्न की चर्चा की गई है ।[5]

इस प्रकार उपर्युक्त नियम हमको न केवल यायावरीय संस्कृति से लेकर शालीन स्थिति में आदिम कालीन कृषि-कर्म के विषय में सूचना देते हैं, अपितु एक निश्चित धार्मिक परिप्रेक्ष्य में उन व्यक्तियों और उनकी कृतियों की भी सूचना देते हैं । अन्न-संचयन की वृत्ति जहाँ संचरणशीलता का द्योतक है, वहीं अन्नोत्पादन की वृत्ति स्थायी-निवास अथवा शालेय जीवन की । यह एक मनोरंजक तथ्य है कि जिस प्रकार वैदिक साहित्य में यायावरीय जीवन को देवताओं से सम्बद्ध किया गया है,[6] उसी प्रकार बौधायन धर्मसूत्र में भी पशुओं के साथ विचरण करने, उनके साथ निवास करने तथा उन्हीं के समान जीविका-निर्वाह करने को स्वर्ग-प्राप्ति का प्रत्यक्ष लक्षण बतलाया गया है ।[7] इस प्रकार

1. इस ग्रन्थ में 'अर्य' शब्द के अर्थ-विनिश्चय के प्रसंग में 'अर' और 'अरम्' अर्थ का द्रष्टव्य है । देखिये, पृ० 104-113
2. "कौद्दालीति जलाभ्याशे कुद्दालेन वा फालेन वा तीक्ष्णकाष्ठेन वा खनंति बीजान्यावपति कन्दमूलफलशाकौषधीर्निष्पादयति । कुद्दालेन करोतीति कौद्दाली ।" बौ०ध०सू० 3.1.3.
3. वही, 3.1.8.
4. वही, 3.2.14.
5. ऋग्वेद 10.146.6, द्रष्टव्य, आगे पृ० 82
6. द्रष्टव्य—आगे, पृ० 40-42
7. "मृगैस्सह परिस्पन्दः संवासस्तेमिरेव च । तैरेव सदृशी वृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणं प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणमिति ।" बौ०ध०सू०, 3.3.16.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन जीवन-पद्धति के दोनों प्रकारों—यायावरीय और शालीन अथवा क्षेम्य—का अनुवर्तन हमें अवान्तरकालीन साहित्य में दिखाई देता है ।

बौधायन धर्मसूत्र में आदिमकालीन जीवन का प्रतिफलन हुआ, अन्यत्र भी कुछ ऐसे ही प्रसंग उपलब्ध होते हैं । किन्तु इस प्रबन्ध में प्रमुखतया प्राचीनतम साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-निर्धारण और अर्थ-विकास की सरणियों को स्थिर कर एवं तदनुरूप पदार्थ-परंपरा और विचार-परंपरा की शृंखला संयोजित कर इतिहास-संरचना का प्रयास किया गया है ।

यायावरीय जीवन--वैदिक साक्ष्य: योग-क्षेम दर्शन और कृत्य

प्राचीन भारतीय ग्राम्य जीवन से सम्बद्ध इस प्रबन्ध में शब्दों के विवेचन के आधार पर वैदिक ग्रामों के स्वरूप और विकास को निरूपित किया गया है तथा यायावरीय जन-समूहों और स्थायी जन-सन्निवेश की अन्तरालवर्ती कड़ियों को जोड़ने का प्रयास किया गया है । इस संदर्भ में 'योग' और 'क्षेम' शब्द उद्धरणीय हैं । वेदोत्तरकालीन साहित्य में 'योग' और 'क्षेम' शब्द क्रमशः 'संग्रह' एवं 'सुरक्षा' का अर्थ वहन करते हैं । किन्तु वैदिक साहित्य में इन शब्दों का प्रयोग क्रमशः 'संचरणशीलता' और 'क्षिति-निवास' के अर्थ में किया गया है । 'योग' शब्द अपने मूलार्थ में पशुओं को यान में नद्ध करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था । यह निश्चय ही रथों और गाड़ियों के साथ भ्रमणलील ग्राम का सूचक है । संचरणशील ग्रामों का स्पष्ट उल्लेख उत्तरवैदिक साहित्य में मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में शर्यात मानव के नेतृत्व में भ्रमणशील ग्राम थे । असम्भव नहीं है कि 'योग' शब्द का उद्‌गम भारोपीय युग में ही हुआ हो ।[1] अंग्रेजी भाषा का 'योक' (yoke) शब्द संस्कृत भाषा के 'योग' शब्द से तुलनीय है । इसी प्रकार 'क्षेम' शब्द में आधुनिक 'खेमा' का मूल रूप दिखाई देता है, जो अस्थायी निवास का सूचक है । संहिताओं में 'यायावरीय प्रजा' तथा 'क्षेम्या प्रजा' को परस्पर भिन्न बतलाया गया है ।[2] इस प्रकार ये दोनों ही शब्द वैदिक ग्रामों के संचरणशील अवस्था से अस्थायी निवास की ओर

---

1. लिथुआनी जुंगस्, यूनानी जुगोन् (जुगोअ) और लेटिन जुंगेरे आदि संभवतः भारोपीय जुगो-म् से निकले हैं ।
   सी०डी०बक—ए डिक्शनरी आफ सेलेक्टेड सिनानिम्स इन दी प्रिंसिपल इण्डोयोरोपीयन लैंग्वेजेज, पृ० 726.
2. मैत्रायणी संहिता 3.2.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अग्रसर होने की सूचना देते हैं। 'योग' और 'क्षेम' की स्थितियों की पुष्टि क्रमशः 'विष्णुक्रम' और 'वात्सप्र' शब्दों के विवेचन से भी होती है। 'विष्णुक्रम' जहाँ निरन्तर संचरण है, वहीं 'वात्सप्र' स्थायीकरण है। विष्णुक्रम 'योग' अथवा यायावरीय जीवन-पद्धति का सूचक है तथा 'वात्सप्र' क्षेम्य जीवन-पद्धति का।

जन-सन्निवेश—संचरणशील निवास से स्थायी निवास

'योग' द्वारा सूचित संचरणशील जीवन के सम्बन्ध में 'रथ' और 'गर्त्त' शब्दों की व्याख्यायें भी महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि 'रथ' और 'गर्त्त' शब्दों का प्रयोग अधिकांशतः वाहन के अर्थ में ही हुआ है, तथापि वैदिक साहित्य में अनेकत्र ये शब्द निवास के बोधक भी हैं। वैदिक साहित्य में 'रथ क्षयः' शब्द का प्रयोग रथ-निवास का बोधक है। संभवतः यायावरीय जीवन में रथ वाहन होने के साथ-साथ अस्थायी निवास भी था, जिसका उपयोग भ्रमणशील कबीले विश्राम के समय करते थे। ऐतिहासिक युग में रथाकार भवनों की परिकल्पना तथा तदनुकूल मन्दिरों के निर्माण में 'रथ क्षयः' के प्रचलन का अवशिष्ट चिह्न देखा जा सकता है। इस दृष्टि से महाबलिपुरम् के रथ तथा कोणार्क का सूर्य-मन्दिर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इनमें से एक में रथ निवास का 'नाम' दिखाई देता है, तो दूसरे में रथ-निवास का 'रूप'। 'रथ क्षयः' यायावरीय जीवन और स्थायी निवास के अन्तराल की संक्रमणकालीन विस्मृत कड़ी की ओर संकेत करता है।

'रथ क्षयः' (ऋ० 6.35.1.) के समानान्तर ही यायावरीय एवं क्षिति-निवास की मध्यवर्ती अवस्था में गर्त्त भी वाहन के साथ ही संचरणशील समूहों का अस्थायी निवास अथवा विश्राम स्थल था। यास्क ने गर्त्त का अर्थ वाहन के अतिरिक्त जन-सन्निवेश भी किया है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने जन-सन्निवेश को और स्पष्ट करते हुए 'गर्त्त इति गृहनाम'—व्याख्या देकर गर्त्त को गृह का पर्याय माना है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उल्लिखित 'त्रिगर्त्त' तथा काशिका में प्राप्त 'चक्रगर्त्त' और 'वृकगर्त्त' भी जन-सन्निवेश के ही सूचक हैं। इस प्रकार 'गर्त्त' शब्द के विभिन्न अर्थ यथा वाहन, जन-सन्निवेश, सभा-स्थान और गृह आदि में अर्थ-विकास की जो प्रक्रिया दिखाई देती है, उसके पीछे गृह-निर्माण के विकास की दिशा में मनुष्य के बढ़ते हुए चरणों की विभिन्न अवस्थाओं के पद-चिह्न भी अंकित हैं।

शाब्दी परंपरा से मनुष्य के यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास तक की स्थिति को समझने के लिए हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध 'व्रज' और 'वृजन' शब्दों से भी पर्याप्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सहायता मिलती है। यद्यपि ये दोनों शब्द संस्कृत के क्रमशः व्रज् धातु (गतौ) तथा वृज् धातु (वर्जने) से व्युत्पन्न हैं तथापि मूलतः ये दोनों शब्द एक ही प्रतीत होते हैं। प्रारंभ में इनमें संचरण का भाव विद्यमान था, किन्तु कालान्तर में इनका अर्थ-विकास विशिष्ट प्रकार के आवास के रूप में हुआ। भारोपीय भाषाओं में भी वृजन के सगोत्रीय शब्द उपलब्ध होते हैं—यथा प्राचीन पारसीक बर्दन[1] (कस्बा), वॅरॅजॅनॅ (अवेस्ता) वॅरॅज़ॉन (अनुवर्ती अवेस्ता) जिसका अर्थ समुदाय अथवा समूह होता है। यह शब्द संभवतः अवेस्ता के धातु रूप 'वर्ज़' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है अलग करना अथवा प्रवाह रोकना।[2] ये शब्द यूनानी 'एर्गो' के समानार्थी प्रतीत होते हैं।[3]

भारत के प्राचीनतम वाङ्मय ऋग्वेद के अनुशीलन से 'व्रज' शब्द की अर्थ-यात्रा को रेखांकित किया जा सकता है। व्रज का अर्थ क्रमशः पशु-समूह, गोचर-भूमि, पशुओं का बाड़ा, जन-सन्निवेश तथा नगर होता गया। यह अर्थ-परिवर्तन एवं अर्थ-विस्तार आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास का एक मनोरंजक इतिहास प्रस्तुत करता है। यह शब्द पशु पालक समाज के संचरणशील जीवन से लेकर स्थायी निवास तक की विकास-यात्रा पर प्रकाश डालता है। सारांशतः हम यह कह सकते हैं कि 'वृजन' शब्द का अर्थ-विकास क्रमशः पशु-समूह, गोचर-भूमि, पशुओं का बाड़ा, मानव-आवास, तथा मानव-आवासों के समूह के रूप में हुआ।[4] यह भी उल्लेखनीय है कि 'वृजन' के स्वरूप-परिवर्तन के साथ ही उसके स्वामी अथवा पालक के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। प्रारम्भ में 'वृजन' के रक्षक को जहां मात्र 'गोपा' कहा गया वहीं परिवर्तनशील परिस्थिति में उसको 'विश्पति', स्वराट् तथा राजा आदि शब्दों से अभिहित किया गया, जो 'वृजन' के आकार, स्वरूप और महत्त्व में होने वाले परिवर्तन एवं विस्तार का सूचक है।

---

1. वेहिस्तून अभिलेख, प्रथम पटल, पंक्ति 92.
2. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, पृ० 1309.
3. द्रष्टव्य, आगे, पृ० 69-71
4. रॉथ महोदय ने 'वृजन' शब्द का अर्थ निवास या ग्राम और उसमें रहने वाले लोगों का समूह किया है।

   मैक्डॉनेल ऐण्ड कीथ—वैदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 320.

   ज़िमर ने 'वृजन' शब्द का अर्थ सुरक्षित निवास (क्षिति-ध्रुवा) किया है जहाँ जन-जाति के लोग रहते थे। तत्रैव।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राज्य का प्राग्रूप

प्रस्तुत प्रबन्ध में शब्दों के अर्थ-विकास के अध्ययन के माध्यम से राजनीतिक संगठन के स्वरूप-बोध की भी चेष्टा की गई है। इस प्रसंग में 'राजा' शब्द उद्धरणीय है। यद्यपि अवान्तर भारतीय परम्परा में राजा शब्द को रञ्ज् धातु से व्युत्पन्न माना गया है और यह कहा गया है कि प्रकृति का रञ्जन करने वाला राजा है, तथापि मल्लिनाथ ने इस व्युत्पत्ति में संदेह व्यक्त करते हुए राजा शब्द को राज् धातु से व्युत्पन्न बतलाया है। ऐसी स्थिति में इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के पूर्वाग्रह-मुक्त विवेचन के लिए यह आवश्यक है कि वैदिक संदर्भों में राजा शब्द के विविध अर्थों के संकलन के साथ ही भारोपीय भाषाओं के सगोत्र शब्दों का तुलनात्मक विवेचन किया जाय। भाषाशास्त्री भारोपीय मूलधातु 'रेग्' से लैटिन 'रेक्स', यूनानी 'ओरेगो', अवेस्ता 'राश्त्' और वैदिक 'राज्' को सम्बद्ध मानते हैं। लैटिन 'रेक्स' यूनानी 'ओरेगो' और अवेस्ता 'राश्त्' का प्रयोग निर्देशक अथवा नेता के अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद के भी कतिपय मंत्रों में राजा शब्द का प्रयोग मार्गप्रदर्शन करने वाले अथवा नेतृत्व करने वाले के अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद 10.126.6 में वरुण, मित्र और अर्यमा को स्पष्टत: 'नेतारः राजानः' कहा गया है। ऋग्वेद 5.37.4 में राजा के कुछ प्रमुख कार्यों की ओर संकेत करते हुए उसके लिए 'अजति' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो संचरण का बोधक है। इस 'अजति' का सगोत्र भारोपीय शब्द 'अगमेन्' भी संचरण का बोधक है। यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद 1.24.8 में राजा को मार्ग बनाने वाला कहा गया है—'राजा उरुं पंथानं चकार'। इस प्रकार ऋग्वेदीय एवं भारोपीय भाषा वैज्ञानिक तथ्यों के प्रकाश में राजा गमनशील, गमनार्थ पथों का निर्माता एवं नेतृत्वकर्ता प्रतीत होता है। राजा की यह स्थिति समाज की संचरणशील अवस्था में रही होगी जब वह अपने कबीले का नेतृत्व करता था तथा उपनिवेशन के लिए नये-नये क्षेत्रों की खोज करता था। कालान्तर में क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना के पश्चात् जब राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रकृति-रञ्जन, रक्षण एवं पालन हो गया तब राजा शब्द का अर्थ भी परिवर्तित हो गया। इस बदलते परिवेश में ही टीकाकारों ने 'रञ्जनात् राजा' व्याख्या प्रस्तुत की।

सामाजिक स्तरों का प्राग्रूप

शब्दों के अर्थ-विकास की दृष्टि से 'अर्य' शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन वैदिक संदर्भों में 'अर्य' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं जिनमें समूह, स्वामी, धनदाता, अन्नदाता और रक्षक आदि प्रमुख हैं। वैदिक उद्धरणों के आधार पर हम इस शब्द के अर्थ-विकास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की प्रक्रिया का अनुसंधान नहीं कर पाते हैं । किन्तु जब हम भारोपीय भाषाओं के सगोत्र शब्दों का अध्ययन करते हैं तो एक नयी दृष्टि मिलती है । भारोपीय 'एरिओ' एवं भारतेरानी 'अर्य' शब्द भू-स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त हैं । ऋग्वेद के कतिपय प्रसंगों में भी 'अर्य' शब्द भू-स्वामी का ही द्योतक है । ऐसी स्थिति में हमारा ध्यान स्वभावतः अर् धातु और उससे व्युत्पन्न 'अरम्' शब्द की ओर आकृष्ट होता है जो 'अर्य' के सजात्य हैं । 'अर्' का अर्थ है जोतना (to cultivate) और 'अरम्' का अर्थ है हल का फाल अथवा 'तीक्ष्णाग्र-दण्ड' । ये दोनों ही शब्द न्यूनाधिक अन्तर के साथ अधिकांश भारोपीय भाषाओं में उपलब्ध हैं । इन शब्दों का सम्बन्ध स्पष्टतः कृषि-कर्म से है । इसीलिए कृषि-क्षेत्रों के स्वामियों के लिए 'अर्य' शब्द का प्रयोग हुआ । अर्थ-विकास की प्रक्रिया में भू-स्वामी कृषक ही क्रमशः स्वामी, अन्नदाता, धनदाता, रक्षक एवं वैश्य कहलाये । 'अर्य' शब्द से ही 'आर्य' शब्द विकसित हुआ जो समृद्ध, शक्तिशाली, श्रेष्ठ और कुलीन का पर्याय समझा गया । वस्तुतः 'अर्य' और 'आर्य' शब्दों में श्रेष्ठता का आरोप कृषि-कर्म-जनित आर्थिक समृद्धि के कारण हुआ । आर्थिक-विकास की दृष्टि से पूर्ववैदिक युग एक संक्रान्ति युग था जिसमें पशु-पालन की अर्थ-व्यवस्था क्रमशः कृषि पर आधृत अर्थ-व्यवस्था को स्थान दे रही थी । 'ऋग्वेद के 'कृण्वन्तं विश्वमार्यम्' में कृषि-कर्म के विस्तार के द्वारा सम्भावित आर्थिक क्रान्ति की प्रतिध्वनि सन्निहित है । जिस प्रकार महातमा बुद्ध के काल में द्वितीय नागर-क्रान्ति एवं वाणिज्य-व्यापार की प्रगति के परिणामस्वरूप वैश्य वर्ग श्रेष्ठी कहलाया उसी प्रकार पूर्ववैदिक युग में कृषि-क्रान्ति के परिणामस्वरूप 'अर्य' तथा 'आर्य' सामाजिक श्रेष्ठता के अधिकारी बने ।

शोध-पद्धति की सीमायें और उनके परिहार का प्रयास

प्रस्तुत प्रबन्ध में उपर्युक्त पद्धति से अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों का भाषा-वैज्ञानिक विवेचन करते हुए इतिहास-संरचना का प्रयास किया गया है । शब्दों के अर्थ-विकास के माध्यम से आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की संरचना का यह प्रयास सर्वथा निर्दोष नहीं है । इस पद्धति की अपनी सीमायें हैं, जिनसे लेखक अपरिचित नहीं है । उदाहरणार्थ इस प्रबन्ध में जिस आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास का विवेचन किया गया है, उसका पूर्णरीत्या न तो भौगोलिक संदर्भ और न तो तिथि-क्रम ही स्पष्ट है, क्योंकि जिन ऋग्वेदीय मंत्रों अथवा मंत्रों में प्रयुक्त शब्दों से साक्ष्य उपस्थित किया गया है, उनकी न तो तिथि निश्चित है और न यही असंदिग्ध रीति से कहा जा सकता है कि उनकी रचना अमुक प्रदेश में हुई । शब्दों के अर्थ-विकास का तिथि-क्रम निर्धारित करने के लिए हमारे पास

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऐसा कोई मानदण्ड नहीं है, जिसका उपयोग निकष के रूप में किया जा सके। ऐसी स्थिति में शब्दों के अर्थ-विकास की स्वीकृत स्वाभाविक दिशा को ही आधार के रूप में ग्रहण किया गया है। अपवाद की रीति से हमें अवश्य कुछ ऐसे स्थल मिलते हैं, जिनमें भौगोलिक संदर्भ एवं कालक्रम के कुछ संकेत निहित हैं। उदाहरण के लिए इस प्रबन्ध में वर्णित पस्त्य-संस्कृति का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

पुराणों और वैदिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि पुरुमीढ पुरुवंशीय था। विष्णुपुराण के अनुसार पुरुमीढ हस्ती का पुत्र था।[1] हस्ती की चार पीढ़ी बाद कुरु हुआ। पुनः वैदिक स्रोत से यह महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है कि पुरुमीढ पस्त्य था और पस्त्यों के सांस्कृतिक जीवन का केन्द्रीय क्षेत्र कुरुक्षेत्र था। पुराणों में दिये हुए इतिवृत्त से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि कुरु, पुरुमीढ और हस्ती 1600—1800 ई०पू० हुए। पुराणों से ज्ञात होता है कि हस्ती ने हस्तिनापुर और कुरु ने कुरुक्षेत्र नामक नगर-सन्निवेश प्रारम्भ किया। पुरातात्त्विक साधन इस क्षेत्र तथा इस काल में गैरिक मृद्भाण्ड-संस्कृति का ज्ञापन करते हैं। हस्तिनापुर के जन-सन्निवेश के निम्नतम स्तर से गैरिक मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं, जिनकी ताप-संदीप्तिक तिथि 1800 ई०पू० से 1400 ई०पू० के मध्य मानी गई है।[2] इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि कुरुक्षेत्र और हस्तिनापुर जन-सन्निवेशों का प्रारम्भ 1800—1600 ई०पू० के मध्य हुआ। कुछ वर्षों से पुरातत्त्वविद् और इतिहासकार वैदिक साक्ष्य और पुरातात्त्विक सामग्री के समन्वय का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रयास में विभिन्न मृद्भाण्ड-परम्पराओं को साहित्य में, विशेषतः वैदिक साहित्य में उल्लिखित विशिष्ट जन-जातियों के साथ सम्बद्ध करते हैं। किन्तु केवल मृद्भाण्ड-परम्परा से जन-जाति की पहचान अनेक कारणों से होना कठिन है। सम्भवतः जन-सन्निवेश और आर्थिक परिपार्श्व के विस्तृत आयाम में इस प्रयत्न के सफल होने की संभावना है।

पस्त्यों के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य आगे दिये गये हैं, जिनकी पूर्ण व्याख्या और विशद विवेचन अपेक्षित है। यहाँ संक्षेप में पस्त्य-संस्कृति के कतिपय पक्षों का उल्लेख किया जा रहा है।

पस्त्यों का अस्थायी निवास छर्दि नामक गृह-सन्निवेश में होता था। 'छर्दि' शब्द

---

1. विष्णुपुराण, 4.19.27-29.
2. धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल—भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व, पृ० 187.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के प्रारम्भिक अर्थ के विनिश्चय के लिए इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना आवश्यक है। निघण्टु में इस शब्द को √छर्द–सन्दीपने[1] और √छद=आवरणे[2] से व्युत्पन्न किया गया है। छद धातु से व्युत्पन्न होने पर 'छर्दि' शब्द का अर्थ होगा आवरण, विश्राम-स्थल अथवा घर का आच्छादन। पालि-परम्परा में 'छादिय' शब्द का प्रयोग घर अथवा झोपड़े के आवरण अथवा आच्छादन, पुआल और भूसी के अर्थ में किया गया है।[3] जैकोबी ने महाराष्ट्री प्राकृत 'छद्दी' को संस्कृत छर्दि शब्द से सम्बद्ध मानकर इसका अर्थ निवास-स्थान किया है।[4]

छर्दि शब्द के सगोत्र शब्द कतिपय भारोपीय भाषाओं में भी मिलते हैं। वर्थोलोमिय 'केर्दुस' को संस्कृत 'छर्दि' शब्द का सगोत्र मानते हैं, किन्तु मेरहॉफर इसको स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार 'स्किल्दुस'[5] (गोथिक) और 'सिल्ड' (ओल्ड इंग्लिश) संस्कृत शब्द 'छर्दि' से सम्बद्ध हैं जिनका प्रारम्भिक अर्थ चपटा टुकड़ा, ढाल और काष्ठ-फलक होता था। लिथुआनियन धातु रूप स्केल्टि=खण्डित करना अथवा विभाजित करना (split) से व्युत्पन्न 'स्कि।ल्टस' का अर्थ टुकड़ा (slice) होता है। इसी प्रकार 'स्किल्ज' (गोथिक) का अर्थ काटना (to butcher) होता है।[6] इसका निकटस्थ संस्कृत धातु स्कृथ् प्रतीत होता है, जिसमें काटने अथवा चीरने का अर्थ निहित है। यहाँ

1. छर्दिः। 'छर्द सन्दीपने (चु०प०)' अर्चिशुचिहुसृपिच्छर्दिभ्य इसिः (उ० 2.101.) 'सन्दीप्यते शालया। प्रनो चच्छतावृकं पृथुच्छर्दिः (ऋ० सं० 1.4.5.5) 'वरूथमस्तियच्छर्दिः (ऋ०सं० 6.4.52.1.) इति निगमौ निघण्टु 3.4.18.

2. छदिः। 'छद आवरणे (चु०उ०)'। णिच्। पूर्ववदिस्। छादेर्घे द्व्युपसर्गस्य (6.4.96)'। इस्मन्त्रल्क्विषु च (6.5.97) इति ह्रस्वः। णिलोपः। छाद्यते हि तत्। निगमोऽन्वेषणीयः निघण्टु 3.4.19.

3. रीस डेविड्स—पालि-संस्कृत डिक्शनरी—छादिय शब्द के अन्तर्गत। गेहच्छादनतिण, जातक 6.354.

4. मेरहॉफर—ए कॉनसाइज एटीमालॉजिकल संस्कृत डिक्शनरी में छर्दि के अन्तर्गत उद्धृत—अल्तन्दिशे ग्रामाटिक, 1.12.

5. तत्रैव

6. सी०डी० बक/पूर्वोक्त, 20/34.4.—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ध्यातव्य है कि ऋग्वेद 6.67.11 में छर्दि के साथ स्कृथ् धातु का उल्लेख किया गया है।

अतः छर्दि शब्द का प्रारम्भिक अर्थ घेरा प्रतीत होता है, जिसका निर्माण लकड़ी को चीर कर किया जाता था। कालान्तर में यह शब्द उस गृह-सन्निवेश के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा जो चतुर्दिक आवृत होने के कारण शत्रुओं से रक्षित होता था और ऊपर से आच्छादित होने के कारण इसमें निवास करने वाले मनुष्यों और पशुओं को शीत, आतप और वर्षा से बचाता था।

'छर्दि' के साथ वत्स,[1] कृष्ण,[2] भारद्वाज[3] और पुरुमीढ[4] ऋषियों का सम्बन्ध ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से द्योतित होता है। पुरुमीढ का उल्लेख अथर्ववेद में दो बार ऋषि के रूप में मिलता है।[5] "अग्निमीलि-ष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्। अग्निं राये पुरु-मीलह श्रुतं नरोग्निं सुदीतये छर्दिः" ऋग्वेद 8.71.14. में कहा गया है कि पुरुमीढ तुम गाथाओं द्वारा अपने रक्षार्थ और धन के लिए अग्नि की वन्दना करो। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पुरुमीढ पुरुवंशीय था और उसका पस्त्यों से सम्बन्ध ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से प्रमाणित होता है। छर्दि के सम्बन्ध में हमें अन्य सूचनाएं भी ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से मिलती हैं। ऋग्वेद 10.35.12. में कवि आदित्यों से अपने पशु, पुत्र और पौत्रादि के लिए धन से परिपूर्ण एवं राजयोग्य छर्दि=गृह की याचना करता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि छर्दि नामक इस गृह-प्रकार में धन-धान्य के रखने की तथा मनुष्यों के निवास के साथ ही पशुओं के रहने की भी व्यवस्था थी। "प्र नो यच्छ-तादवृकं पृथुच्छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः" ऋग्वेद 1.48.15. में कवि उषा से प्रार्थना करता है कि हमें हिंसकों से रहित और विस्तीर्ण छर्दि (गृह) प्रदान करो। साथ ही हमें गोयुक्त अन्न भी प्रदान करो। यहाँ उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त ऋचा में प्रयुक्त 'छर्दिः' शब्द के साथ 'गोमतीः' और 'इषः' शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। सायण ने 'गोमतीः' का अर्थ 'वहुभिर्गोभिर्युक्ताः' और 'इषः' का अर्थ 'अन्नानि' किया है। छर्दि के साथ इन

1. ऋग्वेद 8.9.1.
2. ऋग्वेद 8.85.5.
3. ऋग्वेद 6.15.3.
4. ऋग्वेद 8.71.14.
5. अथर्ववेद 4.29.4; 28.3.15.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दोनों शब्दों का प्रयोग पस्त्यों की जीवन-पद्धति—गोचारण के साथ कृषि-कर्म का द्योतक है। ऋग्वेद 7.74.5 में छर्दि के साथ अन्न का उल्लेख किया गया है, जिससे छर्दि-निवासियों की कृषि-कर्मजन्य आर्थिक-व्यवस्था का संकेत मिलता है।

ऋग्वेद 6.46.9. में "इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वतिमत् छर्दिर्यच्छ' का उल्लेख किया गया है, जिससे छर्दि नामक सन्निवेश का स्वरूप स्पष्ट होता है। इस पर सायण का भाष्य है—"हे इन्द्र त्रिधातु त्रिप्रकारं त्रिभूमिकं त्रिवरूथं त्रयाणां शीतातपवर्षाणां वारकं स्वतिमत् अविनाशयुक्तं छर्दिः छदिष्मत् आच्छादनयुक्तमेवं गुणविशिष्टं गृहं यच्छ देहि"। इस ऋचा में इन्द्र से एक ऐसे गृह की याचना की गई है जो तीन प्रकार की वस्तुओं (लकड़ी, ईंट और पत्थर) से निर्मित हो तथा शीत, आतप और वर्षा का वारक हो। साथ ही वह गृह समृद्ध और आच्छादन-युक्त हो। ऋग्वेद 8.18.21. में भी 'त्रिवरूथं छर्दिः' का प्रयोग 'त्रयाणां शीतातपवर्षाणां निवारकं यद्वा त्रिभूमिकं गृहं' के अर्थ में किया गया है। यहाँ 'त्रिभूमिकं गृहं' का अर्थ एक ऐसा गृह-सन्निवेश प्रतीत होता है जिसमें एक-दूसरे से मिले अथवा सटे हुए तीन गृह होते थे।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद 6.67.2 में 'यन्तं नो मित्रावरुणावधृष्टं छर्दि र्यद्वां वरूथ्यं सुदानू' का उल्लेख किया गया है। इस ऋचा में प्रयुक्त 'छर्दिः' को 'अधृष्टम्' और 'वरूथ्यं' कहा गया है। सायण ने 'अधृष्टम्' का अर्थ 'अनभिभूतं' और 'वरूथ्यं' का अर्थ 'शीतवातातपानां वारयितृ' किया है जिससे छर्दि एक ऐसा गृह प्रतीत होता है, जो शत्रुओं से रक्षित और ऊपर से सम्यक् रूपेण आच्छादित होने के कारण शीत, ताप और वर्षा से बचाने वाला होता था। 'वरूथ' शब्द यहाँ विवेचनीय है। निरुक्त में गृह के अर्थबोधक बाइस शब्दों का उल्लेख किया गया है, जिसमें वरूथ शब्द भी है। इसका केन्द्रीय अर्थ रक्षण ही है।[2] ऋग्वेद 8.9.1. में 'प्रास्मै यच्छमतवृकं पृथु छर्दिः' का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ हुआ कि इस ऋषि के लिए बाधारहित और विस्तीर्ण गृह प्रदान करो। ऋग्वेद की अन्य कई ऋचाओं में भी छर्दि शब्द का प्रयोग गृह के अर्थ में किया गया है।[3] छर्दि नामक यह गृह प्रमुखतः

1. प्रोफेसर जी०आर० शर्मा के निर्देशन में चोपनी मांडो (इलाहाबाद) में होने वाले पुरातात्त्विक उत्खनन के परिणामस्वरूप प्रकाश में आने वाले अस्थायी गृह-सन्निवेश भी अनेक-भूमिक हैं—सम्बद्ध गृहसंकलन हैं।
2. वरूथम्। 'वृञ् वरणे (स्वा०उ०)'। जृवृञ्भ्यामूथन् (उ० 2.5)' वर्मवदर्थः।" "भवा वरूथं गृणते विभावो (ऋ०सं० 1.4.24.4)" इति निगमः।
3. ऋग्वेद 1.114.5; 4.53.1; 6.15.3; 6.46.12; 8.5.12; 8.9.11; 8.9.15 और 8.27.4 आदि।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गोचारकों का गृह था, जिसमें मनुष्यों के निवास के साथ पशुओं के रहने की भी व्यवस्था रहती थी ।

पस्त्य-संस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता गोचारण थी । पस्त्य का अर्थ है, ऐसा अस्थायी सन्निवेश जिसमें मनुष्यों के निवास के साथ ही साथ पशुओं के रखने की भी व्यवस्था थी । ऋग्वेद 1.40.7. में 'अन्तर्वावितक्षयं पस्त्याभिः' का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य ऐसे सन्निवेश से है, जिसमें पुत्र और पशु आदि जाते हैं ।[1] ऋग्वेद 10.96.11. में इन्द्र से प्रिय गायों के नये-नये स्पृहणीय पस्त्यों को ढूंढ़ने की याचना की गई है । इस ऋचा से ज्ञात होता है अज्ञात पस्त्यों के आविष्कार की इच्छा और पस्त्यों से गायों का सम्बन्ध ।[2] ऋग्वेद 9.86.41. में तो स्पष्टतः 'अश्व-पस्त्य'— ऐसा स्थान जहाँ अश्व हों अथवा अश्व चरते हों, का उल्लेख किया गया है । 'वृषभस्य नीळे पस्त्यासु महो रजसो योनौ' (ऋग्वेद—4.1.11.), च चरति—वह पस्त्यों में जहाँ बैलों का घर है, और जहाँ महान् जलधारा का स्रोत है—चलता है । यहाँ पस्त्य की विशेषता 'रजसः योनौ उदकस्य स्थाने' तथा 'वृषभ नीड़' बतलाई गई । इस प्रकार पस्त्य का तात्पर्य है नदी के तटवर्ती ऐसे क्षेत्रों से जहाँ गाय, बैल और अश्वादि पशु निवास करते हों अथवा चरते हों । इसीलिए यत्र-तत्र 'पस्त्य' का प्रयोग चरागाह के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया गया ।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में सुषोम, आर्जीक और शर्यणावत् पस्त्यों का उल्लेख किया गया है, जिनका भू-विस्तार सिन्धु-प्रदेश से लेकर कुरुक्षेत्र तक था । अनुमान है कि ये स्थान सरस्वती, व्यास और सिन्धु नदियों के कांठे में पड़ते थे । बाद में सारस्वत प्रदेश इस भू-भाग का केन्द्रीय क्षेत्र बन गया । यह एक मनोरंजक तथ्य है कि ब्राह्मण-साहित्य के काल में इस प्रदेश का गोचारण अथवा गो-सम्वर्धन से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था । ताण्ड्य महाब्राह्मण के अनुसार गो-सम्वर्धन से सम्बद्ध गोष्टोम[3], गवामयन आदि यज्ञों को इसी क्षेत्र में सम्पन्न करना चाहिए । इस क्षेत्र में अवस्थित विनशन और प्लक्षप्रास्रवण नामक स्थानों का यज्ञीय कृत्यों के प्रसंग में अत्यधिक महत्त्व बतलाया

---

1. 'अन्तर्वान्ति गच्छन्ति पुत्र पश्वादयः यस्मिन् क्षये गृहे' ऋग्वेद 1.40.7. पर सायण-भाष्य ।
2. 'गवां हर्यतं स्पृहणीयं पस्त्यं गृहं गोरुदकस्योक्त गुणकं स्थानं'—अर्थात् गायों के पीने के पानी से युक्त स्पृहणीय स्थान—ऋग्वेद 10.96.11. पर सायण-भाष्य ।
3. ताण्ड्य महाब्राह्मण 25.10.8.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया है। अनेक व्यक्तियों ने इसी क्षेत्र में कामेष्टि आदि यज्ञों का सम्पादन किया। प्लक्षप्रास्रवण में विदेहदेशाधिपति सम्य-पुत्र नमी यज्ञ करके शीघ्र ही स्वर्गगामी हुए। सरस्वती के उत्तर में स्थित स्थूलार्म नामक ह्रद में सौ गायें अपत्योत्पादन के द्वारा एक सहस्र हो गईं।[1]

पस्त्य-संस्कृति में गोचारण की प्रधानता होने के बावजूद कृषि-कर्म का प्रारंभ हो चुका था। "आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्। सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां वृहतीं दुदुक्षन्" (ऋग्वेद—10.74.4.) में गोधन की प्राप्ति और पृथिवी के दोहन के साथ 'पुरुपुत्रां' का उल्लेख किया गया है। यद्यपि सायण द्वारा 'पुरु-पुत्रां' का अर्थ—'वह्वोषधि वनस्पति रूप पुत्रां' किया गया है, तथापि प्रसंग में इसका अर्थ पुरुपुत्री अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ 'महीं' की विशेषता बताई गई है कि वह सहस्रधाराओं वाली (सहस्रधारां) और विस्तृत अथवा परिमाणरहित (विस्तृतां अथवा परिमाणरहितां) है। अतः यदि 'पुरुपुत्रां' का प्रस्तावित अर्थ (पुरुपुत्री) स्वीकार किया जाय तो इसका अर्थ होगा कि पुरुपुत्री पृथिवी (जो विस्तृत अथवा परिमाणरहित थी) का दोहन करने पर उसकी सहस्रधाराओं से अनेक प्रकार के अन्नरूपी दुग्ध की प्राप्ति हुई। यहाँ पृथिवी के दोहन का तात्पर्य पृथिवी पर किये जाने वाले कृषि-कर्म से है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पुरुमीढ पस्त्य और पुरुवंशीय था। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पस्त्य-संस्कृति में गोचारण के साथ कृषि-कर्म का भी प्रारम्भ हो चुका था।

पृथिवी के दोहन अथवा कर्षण से अन्न एवं सस्य की प्राप्ति की बात अथर्ववेद और श्रीमद्भागवत् पुराण में काव्यात्मक शैली में कही गई है। अथर्ववेद के अनुसार विवस्वान् का पुत्र मनु बछड़ा था, पृथिवी पात्र थी और वेन-पुत्र पृथी ने दोहन किया। इस दोहन से कृषि और धान्य की प्राप्ति हुई। इस कारण मनुष्य कृषि और सस्य पर ही जीवन यापन करते हैं। जो यह जानता है वह कृषि में सिद्धि प्राप्त करने वाला होकर दूसरों की जीविका का निर्वाह करने वाला होता है।[2] श्रीमद्भागवत् पुराण के अनुसार महाराज पृथु ने

---

1. "स एतदवभृथमध्य वैद्य एष उत्तरेण स्थूलार्म ह्रदस्तद्धास्य शतं गावः सहस्रं सम्पेदुः।।" ताण्ड्य महाब्राह्मण 25.10.18.
2. "तस्या मनुर्वैवस्तो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्।
   तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्।।
   ते कृषिं च सस्यं मनुष्या उपजीवन्ति।
   कृष्टराधिरूप जीवनीयो भवति य एवं वेद।।"
   अथर्ववेद, 8.10.24.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पृथिवी के प्रिय एवं हितकारी वचन को स्वीकार कर मनु को बछड़ा बना कर अपने हाथ में ही समस्त धान्य को दुह लिया ।[1]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि पस्त्य गोचारण-अर्थ-वृत्ति से सम्बद्ध अल्पकालिक जन-सन्निवेश थे । यहाँ कृषि-कर्म भी सम्पादित होता था । यह पस्त्य-संस्कृति सिन्धु-प्रदेश से लेकर कुरुक्षेत्र-हस्तिनापुर तक तथा पार्श्ववर्ती क्षेत्र में फैली थी । पुराणों का साक्ष्य स्वीकार करने पर इस संस्कृति की तिथि ईसा पूर्व 1600 के करीब रखी जा सकती है ।

इस प्रसंग में पुरातात्त्विक साक्ष्य महत्त्वपूर्ण हैं । गैरिक मृद्भाण्डों की संस्कृति हस्तिना-पुर-कुरुक्षेत्र तथा उनके पार्श्ववर्ती क्षेत्र में फैली थी । हस्तिनापुर के जन-सन्निवेश के निम्नतम स्तर से गैरिक मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं, जिनकी ताप-संदीप्तिक तिथि 1800 ईसा पूर्व से 1400 ईसा पूर्व के मध्य मानी गई है ।[2] इस गैरिक मृद्भाण्ड-संस्कृति के बारे में अनुमान है कि यह भी एक अल्पकालिक जन-सन्निवेश की संस्कृति थी ।

अतः इन दोनों साक्ष्य-परम्पराओं में अद्भुत साम्य है । यदि पस्त्य-संस्कृति का गैरिक मृद्भाण्ड-संस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया जावे तो अद्यावधि उपलब्ध साक्ष्य अथवा ज्ञान के आधार पर कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जा सकेगी ।

इस प्रकार के थोड़े अंशों को छोड़कर इस संरचना में निरपेक्ष तिथि-क्रम स्थापित करना दुष्कर है ।

तिथिक्रम-निर्धारण में सगोत्र शब्दों का साक्ष्य

भारोपीय भाषाओं में प्रयुक्त सगोत्र शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से तिथि-क्रम पर कुछ प्रकाश पड़ता है । अर-अर्य तथा कृष्-कर्ष-कृष्टि शब्द-समूह भारोपीय भाषाओं के दोनों स्कन्धों—शतं तथा केन्तुं में उपलब्ध होता है । अर-अर्य का प्रयोग वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं में तो मिलता ही है, इनके अतिरिक्त शतं वर्ग के ईरानी उपस्कन्ध में इसकी लम्बी परम्परा है । अवेस्ता, प्राचीन पारसीक भाषा, पहलवी और सासानी में भी इस शब्द-समूह का दर्शन होता है । इसी

---

1. "इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहसकलौषधीः ।।"

श्रीमद्भागवत पुराण, 4.18.12.

2. धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल—पूर्वोक्त, पृ० 187.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रकार केन्तुम् स्कन्ध की यूनानी भाषा में इसका प्रयोग है। कृष्-कर्ष-कृष्टि शब्द-समूह शतं एवं केन्तुं दोनों स्कन्धों में प्रयुक्त है। कृष्टि (वैदिक), कृष्-कर्ष (अवेस्ता) क्रेस्टजनिन (रूसी), क्रिस्टजनु (चर्च स्लावी), ख्रिस्टियानोस (यूनानी) और क्रिस्टिजानि (ओल्ड हाई जर्मन) के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं।[1]

वैदिक सन्दर्भों, जिनकी विस्तृत चर्चा इस प्रबन्ध में की गई है, के अतिरिक्त उपर्युक्त शब्द-विस्तार से यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्य-कृष्टि की सामाजिक संस्था भारोपीय काल में प्रारम्भ हुई और वैविध्य के साथ उपर्युक्त देशों की संस्कृतियों में प्रचलित हुई। दूसरे शब्दों में जन-समूह का प्राथमिक भारोपीय सामाजिक स्तरीकरण 'अर्य-कृष्टि' के रूप में हुआ। यूनानी-रोमन स्तरीकरण जेन्स, क्यूरिया तथा ट्राइब, ईरानी स्तरीकरण आथ्रव, रथएस्ता एवं वास्त्र्य तथा भारतीय स्तरीकरण ब्रह्म, क्षत्र, तथा विश् का रूप बाद में आया।

इसी प्रकार राजनीतिक संस्थाओं के शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन कुछ दूर तक उपादेय होगा। 'राजा'[2] शब्द की प्राचीनता भारोपीय काल तक जाती है। इसके सगोत्र शब्द शतं और केन्तुं दोनों स्कन्धों में उपलब्ध हैं। शतं स्कन्ध के अन्तर्गत 'राजा' (वैदिक) 'रश्त्' अथवा 'राश्त्' (आवेस्तिक) तथा केन्तुं स्कन्ध में 'ओरेगो' (यूनानी), 'रेगो' अथवा 'रेक्स' (लैटिन) शब्द मिलते हैं। वैदिक साक्ष्य 'राजा' की भारोपीय कालिक प्राचीनता का समर्थन करता है। 'अर्य' को राजा के विशेषण से विभूषित किया गया है जिससे 'राजा' और 'अर्य' समकालीन प्रतीत होते हैं।

किन्तु शासक वाची 'क्षत्र'[3] शब्द परवर्ती काल का प्रतीत होता है। 'क्षय-क्षेत्र' का रक्षक 'क्षत्र' का बहुशः प्रयोग वैदिक साहित्य में है। $\sqrt{}$क्षि=निवसने धातु तो अवश्य भारोपीय काल की है, किन्तु शासक के रूप में 'क्षत्र' का प्रयोग केन्तुं वर्ग में नहीं मिलता। शतं स्कन्ध में भी केवल भारतीय और ईरानी भाषाओं में यह शब्द मिलता है। आवेस्तिक-ईरानी 'क्षथ्र'-'क्षयथिय' शब्द अभिजात कुलपुत्र और शासक का अर्थ वहन करता है। वैदिक साहित्य में 'क्षत्र' मूलतः क्षय-क्षेत्र का रक्षक है किन्तु अवान्तर काल में त्रिवर्ण का एक अंग बन जाता है। अतः यह निष्कर्ष निकालना समीचीन होगा कि क्षत्र संस्था का

---

1. द्रष्टव्य, आगे, पृ० 134
2. द्रष्टव्य, आगे, पृ० 172-73
3. आगे देखिये, पृ० 167-69

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रादुर्भाव भारतेरानी काल में हुआ और पूर्व वैदिक काल में क्षत्र त्रिवर्ण में परिगणित हुआ ।

वैदिक साहित्य में 'शर्ध'[1] एक सैनिक-समूह अथवा लुटेरों के समुदाय के रूप में व्यवहृत हुआ । यह शब्द शतं स्कन्ध के वैदिक (शर्ध) और आवेस्तिक (सर्द) के रूप में मिलता है । साथ ही केन्तुं वर्ग के केल्टिक-जर्मन वर्ग में प्राचीन जर्मन (हिर्टि), जर्मन (हर्ट) और अंग्रेजी (हर्ड) के रूप में उपलब्ध होता है ।[2]

इसी प्रकार जन-सन्निवेश-वाची शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन भी तिथि-क्रम के निर्धारण में उपयोगी है । इनमें 'रथ', 'गर्त्त', 'पस्त्य', 'वृजन' और 'दुरोण' विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं । 'रथ' और 'गर्त्त' संचरणशील निवास के द्योतक हैं तो 'पस्त्य' और 'वृजन' अल्पकालिक निवास के । 'दुरोण' (द्वारयुक्त) निश्चय ही स्थायी निवास, ध्रुवा-क्षिति का अर्थ-बोधक प्रतीत होता है ।

'गर्त्त' शब्द के अनेक सगोत्र शब्द शतं और केन्तुं दोनों स्कन्धों में उपलब्ध होते हैं । शतं स्कन्ध के अन्तर्गत वैदिक 'गर्त्त' और रूसी 'गोरोद' रूप मिलते हैं । वैदिक साहित्य में 'गर्त्त' शब्द निवास का भी अर्थ-बोधक है ।[3] 'गोरोद' (रूसी) का अर्थ स्पष्टतः प्रासाद और उद्यान है । केन्तुम् स्कन्ध में गर्त्त के सगोत्र शब्द यूनानी (खोर्तोस=खलिहान), आइरिश (गोर्त=क्षेत्र) और अंग्रेजी (कार्ट=गाड़ी) के रूप में मिलते हैं ।

'गर्त्त' के सगोत्र-शब्द-निर्धारण में कुछ विवाद है । इसकी दो अर्थ-परम्परायें हैं । प्रथम तो खलिहान, क्षेत्र, बगीचा, आंगन और जन-सन्निवेश के अर्थों से सम्बद्ध है, तो दूसरी गाड़ी से । आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में तथा उधार शब्द के रूप में कन्नड़, तेलगू और द्रविड़ भाषाओं में इसके त्रिविध अर्थ हैं—गाड़ी, गद्दी और गड्ढा । यह मनोरंजक तथ्य है कि इन तीनों अर्थों का विकास वैदिक गर्त्त से हुआ । अतः गर्त्त शब्द भारोपीय है और यूनान से भारत तक अनेक देशों में प्रचलित रहा ।

गर्त्त की ही भाँति वैदिक 'रथ'[4] शब्द भी वाहन के साथ ही संचरणशील निवास

---

1. आगे देखिये, पृ० 161
2. आगे देखिये, पृ० 160
3. आगे देखिये, पृ० 53
4. आगे देखिये, पृ० 49-51

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का द्योतक है। इस शब्द के भी सगोत्र शब्द शतं एवं केन्तुं दोनों स्कन्धों में मिलते हैं। शतं स्कन्ध के अन्तर्गत आवेस्तिक (रथ), लिथुआनियन (रतस्) और वैदिक (रथ) के रूप में इसके सगोत्र शब्द उपलब्ध होते हैं। केन्तुं स्कन्ध में यूनानी (रोद्), लैटिन (रोत), आइरिश (रेथिम्), ब्रितानी (रोद्) और ओल्ड हाई जर्मन (रद्) के रूप में रथ के सगोत्र शब्द उपलब्ध होते हैं। ये शब्द मूलतः भारोपीय √रेथ् से सम्बद्ध हैं जिनमें गति अथवा संचरण का भाव निहित है। ऋग्वेद 6.35.1. में 'रथ-क्षयः' का उल्लेख एक ऐसे वाहन के अर्थ में किया गया है, जो साथ ही निवास भी है।

अतः इन शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वाहन का संचरणशील निवास के रूप में प्रयोग भारोपीय प्रथा थी।

निवास का अर्थ वहन करने वाले 'पस्त्य', 'वृजन' और 'दुर' शब्द भी भारोपीय भाषाओं में विभिन्न रूपान्तरों के साथ उपलब्ध होते हैं। चरागाह से सम्बद्ध अर्थ में पस्त्य के सगोत्र स्लाव-वर्ग की भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। वैदिक पस्त्य का पशुओं तथा पशु-चारण से सम्बन्ध ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से प्रमाणित है ही। अतः प्रतीत होता है कि पस्त्य-संस्कृति के कुछ तत्त्व भारोपीय काल तक जाते हैं, यद्यपि पस्त्य-संस्कृति का विशेष विस्तार कुरुक्षेत्र-हस्तिनापुर के परिपार्श्व में 1600 ई०पू० में हुआ।

'वृजन' के शतं स्कन्ध की भाषाओं के सगोत्र शब्दों से भी अल्पकालिक निवास की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। वैदिक परम्परा में 'व्रज' एवं 'वृजन' तथा पारसीक परम्परा में 'वॅरॅज़्न' (अवेस्ता) और 'वॅरॅज़ॉन' (अनुवर्ती अवेस्ता) रूप मिलते हैं। 'वॅरॅज़ॉन' और 'वॅरॅज़्न' शब्दों को अवेस्ता के धातुरूप 'वर्ज़्' से व्युत्पन्न माना गया जिसका अर्थ अलग करना अथवा प्रवाह रोकना होता है। वैदिक 'वृजन' का प्रारम्भिक अर्थ घेरा अथवा आवृत स्थान है, जिसमें अलग करने का भाव सन्निहित है। अवान्तर कालीन संस्कृत के 'वर्धन' तथा प्राचीन पारसीक भाषा के 'वर्दन' शब्दों को एक-दूसरे का समानार्थी और आंग्ल भाषा के 'वर्दोन' (देख-रेख करना, चौकीदारी करना अथवा रक्षा करना) से व्युत्पन्न माना गया।[1] यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रारम्भ में पशुचारक अपने पशुओं की रक्षा के लिए किसी स्थान को आवृत करते थे। वहीं वे भी अपने पशुओं के साथ निवास करते थे। प्रारम्भ में पशुओं की रक्षा के लिए निर्मित वृजन—आवृत स्थान—कालान्तर में मानव-निवास का पर्याय बना और अपने विकास की अन्तिम अवस्था में वह संस्कृत

1. आगे देखिये, पृ० 69-70

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के 'वर्धन' के रूप में नगरवाची शब्दों यथा पुण्ड्रवर्धन का अंग तथा पारसीक 'वर्दन' के रूप में 'कस्बा' का अर्थ-वाची हो गया ।

निवास अथवा गृह के अर्थ-वाची शब्दों में 'दुर' भी है, जिसके सगोत्र शब्द शतं स्कन्ध की ईरानी (दोरस्), प्राचीन फारसी (दुवार), अर्वाचीन फारसी (दर), अर्मेइक (दुरिन), अल्वेनियन (देरे) और संस्कृत (द्वार) के रूप में उपलब्ध होते हैं । इसी प्रकार केन्तुं स्कन्ध की भाषाओं में इसके सगोत्र यूनानी (फोर), लैटिन (फोरेस्), ब्रितानी (दोर), गोथिक (दौर), प्राचीन अंग्रेजी (दुरु) तथा ओल्ड एवं न्यू हाई जर्मन (तोर) के रूप में उपलब्ध होते हैं । इन सभी शब्दों का अर्थ द्वार अथवा द्वार-युक्त गृह है । अतः इससे मानव द्वारा द्वार-युक्त गृह-निर्माण की प्राचीनता भारोपीय काल तक जाती है ।

सारांश में, यह कहा जा सकता है कि आर्यों के आदिम जीवन—जनसन्निवेश, सामाजिक संगठन, राजनीतिक स्थिति एवं सम्बद्ध दार्शनिक परिवेश का एक चित्र साहित्य से उपलब्ध होता है । इस चित्र में कालक्रम और देश-निर्धारण के कुछ सूत्र भी हैं, किन्तु वे व्यापक और सर्वथा संदेहहीन नहीं हैं । इसके विपरीत पुरातत्त्व से एक विशाल सामग्री इसी विषय पर उपलब्ध होती है, जिसमें देश और काल के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अन्वेषण का अवसर है । निवेदन है कि इन दोनों स्रोतों 'शब्द' और 'अर्थ' का समन्वय न केवल सम्भव अपितु आवश्यक भी प्रतीत होता है । इनके संयोग से उस अर्ध-नारीश्वर इतिहास की संरचना हो सकेगी जो एक ओर देश-काल-निर्धारित तथ्य दे सकेगा और दूसरी ओर भाव और विचार के वैचित्र्यी के साथ उपस्थित होगा—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्वितीय अध्याय

जन-सन्निवेश

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भारतीय व्याकरण-परम्परा ग्राम की निश्चित व्युत्पत्ति नहीं कर पाती है। सायण 'ग्रसन्तेऽत्रेति ग्रामाः'[1] कह कर √ग्रस् से व्युत्पन्न करने का प्रयास करते हैं और इस प्रयत्न में उणादि[2] का सहारा लेते हैं। काशकृत्स्न, मैत्रेय और क्षीरस्वामी √ग्रस् को अदने=भक्षणे के अर्थ में परिगृहीत करते हैं। किन्तु भक्षण की अवधारणा ग्राम की व्युत्पत्ति के साथ सम्बद्ध प्रतीत नहीं होती।

ग्राम शब्द का मूलार्थ 'समूह' है। भाषाशास्त्रियों के अनुसार भारोपीय 'गेर', यूनानी 'अगेरिया', लैटिन 'ग्रेमियम' तथा स्लाव 'ग्रामद' से ग्राम शब्द सम्बद्ध है।[3] 'ग्रामद' और 'ग्रेमियम' का अर्थ है—संकलन, समाज, समूह और ढेर। यही ग्राम शब्द का प्रारम्भिक अर्थ प्रतीत होता है। न केवल ऋग्वेद में अपितु परवर्ती संस्कृत साहित्य में भी यह अर्थ सुरक्षित रह गया। श्रीमद्भगवद्गीता,[4] मनुस्मृति'[5] आदि में प्रयुक्त 'इन्द्रिय-ग्राम' में ग्राम शब्द का अर्थ संकलन ही है।

ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर ग्राम शब्द का अर्थ 'जनसमूह'[6] प्रतीत होता है। 'गव्यन् ग्रामः इषित इन्द्रजूतः' ऋ० 3.33.11 में 'ग्राम गव्यन्' खोजता हुआ अथवा नदी उत्तरण करता हुआ, 'अपश्यं ग्रामं वहमानं' ऋ० 10.27.19 में 'वहमान ग्रामः', 'निग्रामोसा अविक्षत' ऋ० 10.127.5 में 'निवेशन करने वाले समूह' में ग्राम

---

1. ऋग्वेद 2.12.7 पर सायण-भाष्य।
2. ऋग्वेद 3.33.11 पर सायण-भाष्य—'ग्रसेरा च (उ० सू० 1.140) इति मन्प्रत्यय आकारा देशश्च' तथा उणादि पर वृत्ति—
   'ग्र सधातोर्मनि धातोराकान्तादेशे सवर्णदीर्घे सुबादि कार्यं 'ग्रामः' इति रूपम्'—सिद्धान्तकौमुदी, उणादि प्रकरण, 1.140.
3. मैन्फ्रेडमेरहॉफर—पूर्वोक्त, 'ग्राम' शब्द के अन्तर्गत।
4. "संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
   ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥" गीता, 12.4.
5. "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
   बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"॥ मनुस्मृति, 2.215.
6. इसके विरुद्ध ज़िमर के मत के लिए द्रष्टव्य है, वेदिक इण्डेक्स, भाग–1, पृ० 245.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का अर्थ गाँव किंवा जन-निविष्ट स्थल नहीं हो सकता । यहाँ ग्राम का अर्थ 'जन-समूह' ही लेना पड़ेगा ।

कालान्तर में ग्राम के अर्थ में परिवर्तन हुआ और यह शब्द मनुष्यों के 'सामूहिक निवास' का द्योतक हो गया ।[1] ऋग्वेद, परवर्ती वैदिक तथा लौकिक साहित्य में ग्राम शब्द का प्रमुख अर्थ यही है ।

ग्रामः यायावरीय एवं क्षेम्या, दर्शन एवं कृत्य

ग्राम के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख और विवेचन हम अन्यत्र करेंगे । यहाँ हम ग्राम के दो अर्थों—यायावरीय जनसमूह और स्थायी जननिवास की अन्तरालवर्ती कड़ियों का अन्वेषण करना चाहेंगे ।

संहिताओं में इन द्विविध जीवनों तथा उनसे सम्बद्ध दर्शनों के विषय में उल्लेख मिलता है । मैत्रायणी संहिता के अनुसार प्रजा—मनुष्यों के दो भेद हैं—यायावरीय और क्षेम्या—

'तस्माद्यायावरा अन्या प्रजाः क्षेम्या अन्याः' (मै०सं० 3.2.2) । यायावरीय निरन्तर संचरणशील हैं और क्षेम्य क्षेम—खेमें में निवास करते हैं । यायावर भी यद्यपि स्थायी निवास नहीं करता है, किन्तु विश्राम के लिए तो खेमें में निवास करता ही है । अतः यायावरीय और क्षेम्य प्रजा के द्विविध प्रकार न मानकर जीवनचर्या के दो प्रकार माने गये—

'तस्माद्यायावरः क्षेम्यस्येशे तस्माद्यायावरः क्षेम्य मध्य वसति' (तै०सं० 5.2.1) । इन दो प्रकारों की चर्चा के लिए दो दार्शनिक शब्दों—'योग' और 'क्षेम' का प्रयोग हुआ । 'प्रक्रम'—संचरण का अभिधान है 'योग' और निवास का द्योतन करता है 'क्षेम' ।

---

1. स्पैनिश 'प्यूब्लो' भी भारोपीय शब्द है, जिससे ग्राम का प्रारम्भिक अर्थ समझने में सहायता मिलती है । यह 'पीपुल' का अर्थबोधक और प्रारम्भिक रूप प्रतीत होता है । जिस प्रकार संस्कृत भाषा के 'विश' तथा 'ग्राम' शब्दों का प्रारम्भिक अर्थ 'जनसमूह' था, ठीक उसी प्रकार स्पैनिश 'प्यूब्लो' का भी प्रारम्भिक अर्थ 'जन-समूह' ही था । सी०डी० ब्रक—पूर्वोक्त,, 19.16.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'अन्येद्युरुपतिष्ठते, योगक्षेमं वा एतत् दाधार' (मै०सं० 3.2.2)। योग शब्द यहाँ अपने मूलार्थ में पशुओं को जोतने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा परवर्ती साहित्य में भी मिलता है।[1] इस योग की प्रवृत्ति बतलाई गई है निरन्तर संचरण और इसका कर्म है 'विष्णुक्रम'। विष्णु अपने क्रम, पादनिक्षेप से सम्पूर्ण विश्व को नाप लेते हैं—

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

ऋ० 1.22.17.

त्रीणिपदाविचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्।। ऋ० 1.22.18.

विष्णु का पादनिक्षेप ही योग, उद्योग है। इसलिए यायावर की संचरणशीलता 'विष्णु-क्रम' की ही अभिव्यक्ति है। 'इयमेव तेन लोकमभिजयति यद्विष्णुक्रमान् क्रमतेऽमुमेव तैर्लोकमभिजयति पूर्वेद्युः प्रक्रामयत्युत्तरेद्युरुपतिष्ठते' (तै० सं० 5.2.1)।

इसके विपरीत विश्राम में निवास 'क्षेम' है, जो 'वात्सप्र' कर्म से सम्बद्ध है। संचरण-शील जीवन से स्थिर जीवन में संक्रान्ति 'योग' से 'क्षेम' अथवा 'विष्णुक्रम' से 'वात्सप्र' में परिवर्तन है। जीवन के लिए दोनों आवश्यक हैं। यायावरीय स्थिति में भी दोनों जीवनचर्यायें होती हैं।[2]

प्रजापति के द्विविध कृत्य—'विष्णुक्रम' और 'वात्सप्र' हैं। 'विष्णुक्रम' जहाँ निर-न्तर संचरण है, वहीं 'वात्सप्र' स्थायीकरण है। इसका दार्शनिक विवेचन करते हुए 'विष्णुक्रम' और 'वात्सप्र' को आपेक्षिक बताया गया। एक आख्यायिका के अनुसार प्रजापति ने 'विष्णुक्रम' और 'वात्सप्र' द्वारा संसार की समस्त वस्तुओं की सृष्टि की। 'यद्देव विष्णुक्रमवात्सप्रें भवतः। विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरिमं लोकमसृजत। वात्सप्रेणाग्निम्। विष्णुक्रमैर्वै प्रजापतिरन्तरिक्षमसृजत ······ तद् यद् विष्णुक्रमवात्सप्रे भवतः—एतदेव तेन सर्वं सृजते' (शत० ब्रा० 6.7.4.7), उदाहरणार्थ प्रजापति ने 'विष्णुक्रम' के द्वारा जगत, समीर, आकाश-मंडल, ऐश्वर्य, दिन तथा शुक्ल पक्ष आदि की सृष्टि की और 'वात्सप्र' के द्वारा अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र, आशा, रात्रि और कृष्णपक्ष आदि की सृष्टि की। इस प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य की सभी वस्तुओं की सृष्टि प्रजा-पति ने 'विष्णुक्रम' और 'वात्सप्र' के द्वारा की। 'विष्णुक्रम' योग है, जो यायावरीय जीवन-पद्धति है। 'योग' से यहाँ तात्पर्य पशुओं को यान में नद्ध कर संचरण करना है। 'वात्सप्र'

1. "अयूयुजन्नुष्ट्ररथान्खरांश्च नागान्हयांश्चैव कुलप्रसूतान्।" वा० रा० 2.82.32.
2. तस्माद्यायावरः क्षेम्यमध्य वस्यति। काठक संहिता 19.12 (29)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसके विपरीत क्षेम अथवा खेमा है, जो स्थिर निवासियों का जीवन-प्रकार है । अतः कहा गया है कि 'वात्सप्र' के द्वारा 'योग-क्षेम' धारण किया गया । यायावर का मन 'योग' में है और अन्य का मन 'क्षेम' में है । इस प्रकार 'वात्सप्र' से यायावर क्षेम्य में निवास करता है ।[1]

क्षेम्य जीवन का प्रारम्भ : आसुर प्रभाव एवं कृत्य

आर्यों के 'क्षेम्य जीवन' के विकास में असुरों के जीवन-प्रकार का बहुत प्रभाव पड़ा । यथार्थतः असुरों की अनुकृति पर ही आर्यों ने 'शालेय' जीवन प्रारम्भ किया । इस प्रसंग में एक आख्यायिका है कि देवगण तथा असुर-समूह प्राजापत्यपद के लिए स्पर्धा कर रहे थे । देवगण चक्र (यान) के माध्यम से संचरणशील थे और असुर शालीन—शाला बनाकर रहते थे । जब देवगण 'वनी' नामक वाहन में अग्नि लेकर संचरण कर रहे थे, तब उन्होंने असुरों के द्वारा सम्पादित यह कृत्य देखा । इसीलिए जो अग्नि को वनी के द्वारा वहन करता है, वह देवताओं का कृत्य करता है और जो बिना वनीवाहन के यह कृत्य करता है, वह आसुरी कृत्य करता है । "वनीवाह्येताग्निं विभ्रदित्याहुः । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त । ते देवाश्चक्रमचरन् शालमसुरा आसन् । ते देवाश्चक्रेण चरन्त । एतत् कर्मापश्यन् । चक्रेण हि वै देवाश्चरन्त एतत् कर्मा पश्यन् । तस्माद् अनस एव पौरोडाशेषु यंजूषि अनसोऽग्नौ । स यो वनीवाह्यते—देवान् कर्मणैति, दैवं हास्य कर्म कृतं भवति । अथ यो न वनीवाह्यते—असुरान् कर्मणैति । असुर्यं हास्य कर्म कृतं भवति" (शत० ब्रा० 6.8.5.1-2)। 'विष्णुक्रम' से प्रयाण होता है और 'वात्सप्र' से अवसान होता है । एक दिन और एक रात्रि प्रयाण करने के बाद एक दिन और एक रात्रि का अवसान (निवास) होता है ।[2] इसलिए प्रयाण भी मानुषीय है और अवसान भी मानुषीय है ।

आख्यायिका स्पष्टतः द्योतित करती है कि 'शालेय' जीवन—वास्तु-परम्परा—आसुर है । इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि वास्तुशास्त्र-प्रणेताओं की सूची

---

1. मनःक्षेमेऽन्यासां तस्माद्यायावरः क्षेम्यमध्य वस्यति । तत्रैव,
2. "तद्वा अहोरात्रे एव विष्णुक्रमा भवन्ति ।
अहोरात्रे वात्सप्रमहोरात्रे एव तद्यात्यहोरात्रे
क्षेम्यो भवति तस्मादु हेदमुत मानुषो
ग्रामो अहोरात्रे यात्वाहोरात्रे क्षेम्यो भवति ।।
शत०ब्रा० 6.7.4.10.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में मय नामक असुर का भी परिगणन है ।[1] महाभारत में मय ने स्वयं को दानवों का विश्वकर्मा कहा है—'अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः' (म० भा० सभापर्व 2.5)। इस मय नामक असुर के वास्तु-कला का विवरण महाभारत एवं पुराणों में भी मिलता है ।[2] यह भी द्रष्टव्य है कि वास्तु-पूजन में वास्तु को असुर माना गया है[3] और उसके शरीर को खण्डित करके भवन-निर्माण की योजना बनाई जाती है । यायावरीय प्रवृत्ति और 'शालेय' जीवन में संक्रान्ति उपर्युक्त कृत्य में अभिनीत है । साथ ही इससे ज्ञात होता है कि संचरणशील आर्यों ने शालेय असुरों से गृह-निर्माण की प्रेरणा ग्रहण की । मत्स्य-पुराण में वास्तु-शास्त्र के 18 आचार्यों के नाम गिनाये गये हैं ।[4]

यह आख्यायिका न केवल यह प्रदर्शित करती है कि असुरों के शालेय जीवन का प्रभाव आर्यों के जीवन पर पड़ा जिससे वे यायावरीय जीवन का परित्याग कर शालेय बन गये, वरन् वात्सप्र कर्मकाण्ड के विधान से इस विषय के भी मनोरंजक तथ्य उपलब्ध होते हैं कि आर्यों के प्रारम्भिक ग्राम या जन-सन्निवेश किस प्रकार के होते थे और निर्माण की कर्मकाण्डीय प्रक्रिया किस प्रकार की होती थी । अतः इसका विवेचन किंचित् विस्तार से नीचे किया जा रहा है ।

गार्हपत्य अग्नि आर्यों के जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि सम्पूर्ण गृह्य संस्कार उसी से सम्पादित होते थे । यायावरीय जीवन में इस अग्नि को शकट तथा वनी में रखा जाता था किन्तु शालेय जीवन में इस अग्नि को भूमि की वेदिका पर स्थापित करना पड़ा । यायावरीय जीवन में वनी में अग्नि-स्थापन के लिए एक कर्मकाण्डीय प्रक्रिया थी और प्रयाण के समय अग्नि को सावधानी से सुरक्षित रखने के लिए, वह बुझ

---

1. मत्स्यपुराण, अ० 129, 130, 131, 132, 133 एवं 140.
2. महाभा० सभापर्व प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है ।
3. एस० क्रैम्रिश-दी हिन्दू टेम्पुल्स, पृ० 82, की पा० टि० 63.
4. "भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।
ब्रह्माकुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च ।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्र बृहस्पती ।।
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः ।।
मत्स्यपुराण, 152.2-4.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न जाय इसके लिए, तथा उससे शकट, वनी आदि में आग न लग जाय इसके लिए भी, कृत्यों का विधान था।

यायावरीय जीवन में आर्य पूजनार्थ अग्नि को शकट, वनी आदि यानों पर रखकर निरन्तर संचरण करते थे। किन्तु भूमि पर वास होने के पश्चात् गृह में प्रज्वलित गार्हपत्य अग्नि का प्रवर्तन हुआ। यह संक्रान्ति एक कल्प के द्वारा अभिनीत की जाती थी। गार्हपत्य अग्नि की प्रतिष्ठा के पूर्व 'वात्सप्र' का उपस्थान होता था। शकटनीड-अग्नि को भूमिगत स्थायित्व प्रदान करने के लिए 'वात्सप्र' किया जाता था जो अग्नि-चयन की कृत्य-परम्परा का एक भाग था। इसका उल्लेख अनेक संहिताओं—तैत्तिरीय, काठक आदि में है, किन्तु विस्तृत विवरण शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।

शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित इस आख्यायिका में अग्नि को प्रजापति तथा प्रजापति को देवगण और मानव-समूह बताया गया है। 'विष्णुक्रम' और 'वात्सप्र' कृत्यों से प्रजापति के दैवी स्वरूप का आविर्भाव होता है, जब अग्नि को शकट तथा वनी आदि वाहनों पर रखकर संचरण किया जाता है, तब प्रजापति के मानवीय रूप का आविर्भाव होता है। प्रयाण के दिन रथ को पूर्व दिशा में अग्नि के उत्तर खड़ाकर अग्नि पर एक प्रज्वलित काष्ठ-दण्ड रखा जाता था। यह कृत्य एक प्रतीक के रूप में सम्पन्न किया जाता था। वह प्रतीक इस प्रकार है—देवगण ने अग्नि को उसके खाद्य-पदार्थ प्रज्वलित काष्ठ-दण्ड (समिधा) देकर परितुष्ट किया था। इसलिए अग्नि को यान पर ले जाने वालों को भी उसकी परितुष्टि के लिए उसके ऊपर एक प्रज्वलित काष्ठ-दण्ड (समिधा) स्थापित करना चाहिए।

इसके अनन्तर गार्हपत्य अग्नि को एक पात्र में रखकर यान पर स्थापित किया जाता था। वाहन में दो बैलों को नद्ध किया जाता था—पहले दाहिने बैल को और उसके अनन्तर बायें बैल को। यह दैवी विधान है। मानुषी विधान इसके विपरीत है। चाहे किसी भी दिशा में क्यों न प्रयाण करना हो पहले यान को अग्नि-मण्डप के पूर्व दिशा की ओर हाँका जाता था।

प्रयाण के समय एक मंत्र पढ़कर अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि हे देदीप्यमान अग्नि! तुम अपनी ज्वाला से हमारे जनों को क्षति मत पहुँचाना। निवास-स्थान तक पहुँचने के पूर्व ही यदि बैलों को रथ से वियुक्त करना आवश्यक होता था तो पवित्र अग्नि यान में ही रखी रहती थी। किन्तु निवास-स्थान पर विश्राम हेतु बैलों को रथ से वियुक्त करने के पूर्व रथ को निवास-स्थान के पूर्व खड़ा कर दिया जाता था। उसके उत्तर ओर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एक वेदी बनायी जाती थी और पानी छिड़क कर उसे पवित्र किया जाता था। इसी वेदी पर उस पवित्र अग्नि को उतार कर रखा जाता था। तदनन्तर गृह में अग्नि को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक मंत्र उच्चरित किया जाता था।

इसके अनन्तर वनी-वाहित अग्नि की राख को पवित्र वृक्षों के पत्तों से निर्मित दो दोनों में रख कर जल में प्रवाहित कर दिया जाता था। जल में प्रवाहित करते समय दैवी जल से प्रार्थना की जाती थी कि वह इस राख को सर्वाधिक कोमल और सुगन्धित स्थान में रखें। राख को जल में प्रवाहित करने के पीछे यह विश्वास निहित था कि जल ही सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि का आधार है। जल में प्रवाहित किये गये राख के दो दोनों में से एक दोने को जल से बाहर निकालकर पुनः अग्नि-पात्र में छोड़ दिया जाता था।

इसके पश्चात् एक वृत्ताकार स्थान को पलाश की शाखा से साफ किया जाता था और वहाँ चिति का निर्माण कर उसमें गार्हपत्य अग्नि को स्थापित किया जाता था। पलाश की शाखा को ब्राह्मण का प्रतीक माना गया है। इस शाखा के द्वारा अतीत तथा वर्तमान में उस स्थान पर स्थित लोगों को वहाँ से भगाया जाता था ताकि अब वहाँ स्थित होने वाले लोग सकुशल निवास कर सकें। तत्पश्चात् पलाश की शाखा को उत्तर दिशा की ओर फेंक दिया जाता था। चिति-निर्माणस्थल पर नमकीन मिट्टी बिखेरने का कार्य भी एक प्रतीक के रूप में किया जाता था। गार्हपत्य अग्नि को विश्व और नमक को पशुओं का प्रतीक माना गया है। इस कृत्य को एक मंत्र के उच्चारण के साथ किया जाता था। इस मंत्र का प्रयोजन परस्पर सहमति उत्पन्न करना था। अतः स्पष्ट है कि इस कृत्य का तात्पर्य था गार्हपत्य-स्थल पर निवास करने वाले लोगों के लिए प्रार्थना करना ताकि वे पाशविक धन से परिपूर्ण होकर परस्पर सहयोग से कुशलपूर्वक निवास कर सकें।

गार्हपत्य अग्नि-स्थल पर रेत बिखेरने का भी एक कृत्य किया जाता था। यह मान्यता प्राप्त है कि रेत अग्नि वैश्वानर का बीज और राख दोनों है। बीज से उत्पत्ति तथा राख द्वारा अग्नि की ज्वाला से संरक्षण की परिकल्पना की गई है। इसके पश्चात् कतिपय प्रस्तर-खण्डों से चिति-निर्माणस्थल को घेर दिया जाता था। इन प्रस्तर-खण्डों को उत्पत्ति के स्रोत जल और गर्भ का प्रतीक माना गया है। इसके बाद चिति-निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जाता था। इस प्रकार यह सम्पूर्ण कृत्य यायावरीय जीवन से स्थायी जीवन का धार्मिक अभिनय है।

वात्सप्र कृत्य की यह आख्यायिका यायावरीय जीवन की परिसमाप्ति और शालेय जीवन के प्रारम्भ पर असुरों के प्रभाव का द्योतन तो करती ही है, वात्सप्र कृत्य के विधान

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से आर्यों के प्रारम्भिक ग्राम-सन्निवेश के प्रकार पर भी अग्नि की वेदिका की गृह-मध्य में अवस्थिति, सन्निवेश का वृत्ताकार होना आदि की सूचना भी उपलब्ध होती है।

सन्निवेश : संचरणशील निवास से ध्रुवाक्षितिः अनस्

किस प्रकार संचरणशील वाहन स्थायी शालाओं (निवासों) के पूर्वरूप में परिकल्पित हुए इसका संकेत हमें शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। शाला-निर्माण के प्रसंग में कहा गया—

"अनो ह वा अग्रे, पश्चेव वा इदं यच्छालं स यदेवाग्रे तत्करवाणीति तस्मादनस एव गृह्णीयात्। भूमा वा अनः। भूमा हि वा अनस्तस्माद्यदा बहु भवत्यनोवाह्यमभूत् हत्याहुस्तद् भूमानमेवैतदुपैति तस्मादनस एव गृह्णीयात्" (शतपथ ब्राह्मण 1.1.2.5-6) इसमें कहा गया है कि पहले अनस् था और फिर वह शाला हुई। अतः अनस् का ही ग्रहण करना चाहिए। अनस् भारवाही शकट के अर्थ में एक भारोपीय शब्द है। निरुक्त में अनस् की कई व्युत्पत्तियां दी गई हैं—अनः शकटम् आनद्धयस्मिन् चीवरम्, जिसमें वस्त्र-खण्ड नाथा जावे अथवा अनिते जीवकर्मणः, अन् जीवने से व्युत्पन्न इस अर्थ में कि शकट से जीविका का निर्वाह होता है। किन्तु अनस् शब्द भारोपीय एनॉस अथवा ओनॉस, लैटिन ओनस=भार से सम्बद्ध प्रतीत होता है। अनस् का अर्थ भारवाही शकट था और इस अर्थ का विकास ओनस=भार से विकसित हुआ।[1] अनस् के अनेक उल्लेख वैदिक साहित्य में गाड़ी के अर्थ में उपलब्ध होते हैं।[2] अनस् युद्ध अथवा मृगया के समय प्रयुक्त होने वाले रथ से भिन्न होता था। ऋग्वेद में रथ से इसकी भिन्नता स्थापित की गई है।[3] अतः प्रतीत होता है कि शाला के प्राग्रूपीय आदर्श संचरणशील यान थे।

इन्द्र को केवल एक बार रथ के स्थान पर अनस् पर आसीन चित्रित किया गया है।[4] यद्यपि उषा का विशिष्ट वाहन अनस् है, तथापि उसको कभी-कभी रथारूढ़ दिखलाया गया है।[1] अनस् में प्रायः बैलों को ही नद्ध किया जाता था। बैलों द्वारा यह यान

1. सिद्धेश्वर वर्मा—एटीमालॉजी आफ यास्क, पृ० 24 एवं 85.
2. (अ) ऋग्वेद 4.30.10, 10.85.10 तथा 10.86.18.
   (ब) शतपथ ब्राह्मण 1.1.2.5.
   (स) छान्दोग्योपनिषद् 7.15.1.
   (द) कौषीतकी उपनिषद् 3.8.
3. ऋग्वेद 10.85.11.
4. वैदिक इण्डेक्स, भाग 1, पृ० 21.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गतिमान किया जाता था, इसलिए इसको 'अनड्वाह' की संज्ञा दी जाती थी ।[2] उषा के अनस् को प्रायः अनियंत्रित गायों और बैलों से खींचा जाता हुआ दिखलाया गया है ।[3]

अर्म

इस प्रसंग में 'अर्म' शब्द भी महत्त्वपूर्ण है । 'अर्मक' का उल्लेख ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर है—"अवसां मघवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम् । वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके" (ऋ० 1.133.3.) ।

यहाँ इन्द्र से प्रार्थना है कि 'बैलस्थान अर्मक' में अथवा महावैलस्थ अर्मक में जादूगरों के शर्ध को मार डालो । सायण के अनुसार 'अर्मक' शब्द का अर्थ है—'शवैः अरणीये', 'श्मशाने', 'महाश्मशान' अथवा 'नागलोक' । इस शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हुआ है—

वैश्वानरं क्षेत्रजित्याय देवाः
येषां इमे पूर्वे अर्मास आस–
न्नायूपः सद्मविभृता पुरूणि ।
वैश्वानर त्वया ते नुत्ताः
पृथिवीमन्यां अभितस्थुर्जनासः । तैत्ति० ब्रा० 2.4.6.8.

'जिनके ये यूपहीन' सद्म से युक्त अनेक 'अर्मास' थे, हे वैश्वानर, तुम्हारे द्वारा प्रेरित होने पर वे जन अन्य स्थान पर चले गये ।[4]

1- तत्रैव
2- तत्रैव
3- तत्रैव

4. (अ) 'नुत्ताः' शब्द नुद् धातु (प्रेरणे) से व्युत्पन्न है । यहाँ नुत्ताः शब्द लिथुआनियन 'नौद' शब्द से तुलनीय है, जिसका अर्थ है प्रयोग, लाभ । अतः इसका अर्थ हुआ आप द्वारा लाभान्वित हुए । सी०डी० बक—तत्रैव, 3.20.3.

(ब) अथानन्तरम् असुराः अमूढा देवाः क्षेत्र जित्याय कर्म्मानुष्ठानाङ्ग क्षेत्रजयाय तन्मार्ग जयाय वा अमृतं केनाप्यतिरस्कृतं वैश्वानरमिमं । वैश्वानराख्यमग्निममन्थन् अरण्योर्मथितवन्तः । अथ द्वाविंशीमाह । "येषामिमे पूर्व्वे अर्म्मास आसन् अयूपाः सद्म विभृता पुरूणि । वैश्वानर त्वया ते नुत्ताः । पृथिवीमन्यामभितस्थुर्जनासः" इति । येषां जनानां यजमानानां अयूपा विमोहरयिता इमे वैश्वानरस्य मन्थितारो देवाः पूर्व्वे अर्मास पूर्व्वभाविनो गन्तार आयन पुरुणि सद्म बहूनि यज्ञगृहाणि येषां यजमानानां विभृतानि विशेषेण सम्पादितानि ते जनासः जनाः यजमानाः हे वैश्वानर त्वया नुत्ताः प्रेरिताः सन्तः अन्यत् किन्चित् यज्ञयोग्यां पृथिवीमभितस्थुः अतिक्रम्यावस्थिताः । एतच्चोभयं वैश्वानर दैवत्ये कर्म्माणि द्रष्टव्यम् ।।

तै०ब्रा० 2.4.6.8 पर सायण-भाष्य ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ताण्ड्य ब्राह्मण 15.10.18 में 'स्थूलार्म' का उल्लेख हुआ है, जो एक जन-सन्निवेश अथवा स्थान था, जिसके उत्तर में एक ह्रद—जलाशय—था और जहाँ पशुओं के लिए चरागाह भी था।

जैमिनीय ब्राह्मण 3.238 में कहा गया 'इन्द्रकोश इत्यर्मकः तस्मिन्तिष्ठन् विश्वामित्र जामदग्नी इमा इक्ष्वाकूणां गा विदध्वमिति'। 'इद्रकोश अर्मक है, जिसमें स्थित रहते हुए' हे विश्वामित्र और जामदग्नी, इक्ष्वाकुओं की गायें प्राप्त करो'। श्रौतसूत्रों में अर्मकपाल का उल्लेख प्राप्त होता है। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'अर्म' का अर्थ है 'शून्य ग्राम', 'विनष्ट ग्राम'।[1] पाणिनि ने अर्मान्त स्थानों का उल्लेख किया है—भूतार्म, अधिकार्म, संजीवार्म, मद्रार्म, अश्मार्म आदि।[2] इन तथ्यों के आधार पर प्रोफेसर बरो का कथन है कि 'अर्म' शब्द सैन्धव सभ्यता के उजड़े ग्राम के लिए प्रयुक्त होता था।[3]

प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल यद्यपि 'अर्म' को सैन्धव सभ्यता से सम्बद्ध नहीं करते हैं तथापि 'अर्म' को अर्माइक भाषा का शब्द मानते हैं। अर्माइक भाषा में 'अरम्' ऊबड़-खाबड़ पथरीले पहाड़ी प्रदेश को कहते हैं। अर्माइक उन लोगों की भाषा थी जो 'अरम्' या पर्वतीय प्रदेशों के निवासी थे।[4]

किन्तु यहाँ एक तथ्य निवेदनीय है कि अर्मान्त स्थानों के नाम सभी संस्कृत हैं—'स्थूलार्म' (ताण्ड्य ब्राह्मण), 'इन्द्रकोश' (जैमिनीय ब्राह्मण), 'मद्रार्म', 'अश्मार्म', 'कज्जलार्म', 'भूतार्म', 'अधिकार्म' (पाणिनि) आदि। यदि 'अर्म' शब्द संस्कृतेतर भाषा का शब्द अथवा 'अर्म' ऋग्वेदीय आर्येतर जनों का सन्निवेश होता, तो 'अर्म' के नाम भी

1. बौ०श्रौ०सू० 9.1.; 9.3.
2. वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 81.
3. "It has been argued in the first place on general considerations that such ruins would be expected to belong to the Indus civilization on account of their situation and date and a detailed examination of statements of the vedic texts in connection with this term has confirmed it."

   Journal of Indian History, Vol., XLI, Part I, April, 1963, pp. 165—66.
4. वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 81.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विदेशी होने चाहिए थे। 'अर्म' शब्द का बहुवचन 'अर्मास' मिलता है जो भारोपीय व्याकरण के अनुकूल है। यूनानी भाषा में भी 'अर्मास' शब्द उपलब्ध होता है और इसका अर्थ है—जोतना, जोड़ना अथवा रथ, वाहन। वाल्दे इसको भारोपीय 'अर्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[1]

'अर्मास' की रथ, वाहन से ग्राम में अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया 'रथ' शब्द के अर्थ-विकास की स्थितियों के अनुसार सम्भावित की जा सकती है। 'रथ' शब्द के विकास में (जैसा कि हम बाद में देखेंगे) विभिन्न स्थितियां हैं—रथ, रथ-क्षय· अथवा रण्वक्षय: और क्षय (वाहन, वाहन-निवास अथवा संचरणशील निवास और निवास)। इसी प्रकार गर्त्त और अनस् भी दोनों अर्थों—वाहन और निवास में प्रयुक्त हैं। यूनानी 'अर्मास' (रथ) और वैदिक अर्मास (ग्राम) का सम्बन्ध इसी प्रकार का प्रतीत होता है। अर्म का प्रारम्भिक अर्थ था वाहन और बाद में इसका अर्थ हो गया ग्राम।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि गोचारण के प्रसंग में 'अर्म' शब्द के उल्लेख हुए हैं। 'स्थूलार्म' में सौ गायों का वंश बढ़ते-बढ़ते एक सहस्र हो गया था। 'स एतदवभृथमभ्यवैद्य एष उत्तरेण स्थूलार्म्म ह्रदस्तद्हा·एव शतं गावः सहस्र सम्पेदुः' (ताण्ड्य ब्राह्मण 25.10.18)। सायण का भाष्य है—'अपत्योत्पादन द्वारा सहस्रं सम्पेदुः सम्पन्ना अभवन्'—'सौ गायें बछड़ों को उत्पन्न कर एक हजार हो गईं।' यहाँ सारस्वत प्रदेश के प्लक्ष क्षेत्र में सप्य के पुत्र वैदेह के यज्ञ का प्रसंग है।[2]

इन्द्रकोश अर्म में विश्वामित्र और जामदग्नी ने इक्ष्वाकुओं की गायें प्राप्त कीं। अतः अनुमान है कि ये यायावरीय गोचारकों के अस्थायी निवास थे।

तैत्तिरीय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ये अस्थायी निवास बिना यूप अथवा खम्भों के स्थापित किये गये थे और यायावरों के थे, जिनको छोड़कर वे अन्यत्र चले जाते थे—'पृथ्वीमन्यां अभितस्थुर्जनासः'। इसीलिए भाष्यकारों ने इन्हें 'अर्मानाम चिरन्तन ग्रामनिवासाः' प्राचीन ग्राम और विनष्ट ग्राम का अर्थ दिया। बौधायन श्रौतसूत्र में प्रयुक्त 'अर्म' शब्द का अर्थ भाष्यकारों ने 'विनष्टग्राम' और 'शून्य' किया है।[3]

सारांश में, 'अर्म' का अर्थ यायावरीय गोचारकों का अस्थायी निवास है और इस

1. वाल्दे पोकॉर्नी—वर्ग्लेसिन्दिस/वोर्टरबुक/इण्डोजर्मेनिशेन स्प्राखेन 1.73.
2. ताण्ड्य महाब्राह्मण 25.10.17.
3. बौ०श्रौ०सू० 9.1; 9.3.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शब्द के अर्थ-विकास की तीन स्थितियां दिखाई देती हैं—वाहन, अस्थायी और चिरन्तन ग्रामनिवास।[1]

यायावरीय जीवन से शालेय जीवन की संक्रान्ति के अन्तरालवर्ती अनेक स्थितियों का साक्ष्य वैदिक साहित्य में प्रयुक्त क्षय, गर्त्त, पस्त्य, वृजन आदि शब्द वहन करते हैं।

क्षय

यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास तक ग्राम की विभिन्न स्थितियों को समझने में 'क्षय' शब्द अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है। 'क्षय' शब्द √क्षि से व्युत्पन्न है। √क्षि महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ दोनों हैं—निवास और गति। क्षीरस्वामी, मैत्रेय, सायण, काशकृत्स्न, शाकटायन, कातन्त्र और हेमचन्द्र ने इसका अर्थ 'निवास गत्योः' बताया है।[2] निघण्टु[3] में इसका अर्थ 'गतिकर्मा' बताया गया है। बोपदेव[4] ने भी इसका अर्थ 'वासगत्योः' बताया है। कतिपय भारोपीय भाषाओं में 'क्षय' के पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। यथा 'कुसेइ' (यूनानी) शब्द का प्रयोग निवसने, स्थापने अर्थ में किया गया है। 'सुएइति' (अवेस्ता) का प्रयोग क्षिति=क्षेत्रम् के अर्थ में किया गया है।[5] क्षय शब्द का प्रारम्भिक अर्थ है गतिशील निवास।[6] ऋग्वेद 5.12.6 में 'तस्य प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य क्षयः' का उल्लेख संचरणशील मनुष्य के निवास के अर्थ में किया गया है। इसमें अग्नि से कहा गया है कि जो व्यक्ति हृदय से तुम्हारी स्तुति करता है तथा तुम्हारे लिए यज्ञ करता है, उसका गृह विस्तीर्ण होता है।

ऋग्वेद 4.20.8 में 'चर्षणीनां क्षयस्य' और 'गोनाम् व्रजम्' का उल्लेख किया गया है जिससे हमें मनुष्यों और पशुओं के अलग-अलग निवासों की सूचना मिलती है। मानुषी क्षय, निवास विभिन्न आकार के होते थे। ऋग्वेद में विष्णु, मित्र और वरुण को

1. प्रो० बरों की व्याख्या भिन्न है। द्रष्टव्य, जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, खण्ड 61, पृ० 151-166.
2. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी—पाणिनि धातुपाठ समीक्षा, पृ० 393.

3-4. तत्रैव

5. वाल्दे पोकॉर्नी—पूर्वोक्त, 1.504.
6. (अ) यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरुषस्य वृष्णः।
   तस्य क्षयः पृथुरा साधुरेतु प्रसर्स्राण्स्य नहुषस्य शेषः 11 ऋ० 5.12.6.

   (ब) ऋ० 3.8.1, 7.66.5, 8.15.9, 8.64.4.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महान् क्षय (निवास) वाला कहा गया है ।[1] सम्भवतः सामान्य जनों के गृह छोटे-छोटे होते थे ।

वैदिक साहित्य में 'रण्वः क्षयः', 'रथ क्षयः' तथा 'क्षम्यः क्षयः' आदि का उल्लेख किया गया है, जिससे मानवीय निवास के विविध प्रकारों की हमें सूचना मिलती है । ऋग्वेद के कई मंत्रों में 'रण्वः क्षयः' का उल्लेख किया गया है । क्षीरस्वामी, मैत्रेय, काशकृत्स्न और कातन्त्र के अनुसार 'रण्वः' शब्द का प्रयोग संचरण के अर्थ में किया गया है ।[2] पाणिनि इस शब्द की व्युत्पत्ति √रण् (गतौ) से मानते हैं ।[3] सायण ने रण्वः शब्द का अर्थ 'रमयिता' के साथ 'रमणशीलो' बतलाया है ।[4] "रण्वः संदृष्टो पितुमां इव क्षयो भद्रा रुद्राणां मरुतामुपस्तुतिः । गोभिः ष्याम यशसो जनेष्वा सदा देवास इळया सचेमहि" ऋ० 10.64.11 में 'रण्वः क्षयः' को पितुमान् अर्थात् अन्नवान् कहा गया है । उपर्युक्त ऋचाओं में प्रयुक्त 'रण्वः क्षयः' शब्द मनुष्य के यायावरीय जीवन की ओर संकेत करता है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों का निवास इनकी ही भाँति संचरणशील था । ये लोग जब एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाते थे तो अपने साथ अपने गमनशील निवास को भी ले जाया करते थे ।

ऋग्वेद में 'रण्वः क्षयः' की ही भाँति 'रथ क्षयः' शब्द का भी उल्लेख अस्थायी निवास के रूप में किया गया है । मैत्रेय, सायण, काशकृत्स्न, क्षीरस्वामी, बोपदेव, कातन्त्र, शाकटायन और हेमचन्द्र रथ शब्द को √रंह (रहि)=गतौ और √रम् (रमु)= क्रीडायाम् से व्युत्पन्न मानते हैं ।[5] निघण्टु में इस शब्द की दी गई व्युत्पत्ति भी द्रष्टव्य है ।[6]

1. "त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः ।
   त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ।।" ऋ० 8.15.9.
2. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी—पूर्वोक्त, समीक्षा, पृ० 393.
3. अष्टाध्यायी 1.789.
4. ऋ० 1.144.7 पर सायण-भाष्य ।
5. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी—पूर्वोक्त, पृ० 685
6. रथः । रंहतेर्गतिकर्मणः । 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० 2.2)' इति क्थन्, बाहुलकान्नकारहकारलोपश्च । गच्छत्यनेन । स्थिरतिर्नैरुक्तधातुः । विपरीताक्षरः ।' पुंसि संज्ञायां धः (3.3.118)' । सकारेकारयोर्लोपः । दृढगठितत्वात् स्थिरो हि सः । यद्वा, रमतेस्तिष्ठतेश्च द्विधातुजं रूपम् । रममाणो विस्रब्धोऽस्मिंस्तिष्ठति रथी । यद्वा, रमतेरेव यथाप्राप्तः क्थन् । रमणीयो हि रथः । रसतेर्वा शब्दार्थात् पूर्वसूत्रेण बाहुलकात् क्थनि सकारलोपः । भवति हि तस्यागच्छत उपलब्धिः । "तत्रा रथमुपशग्मं सदेम (ऋ० सं० 5.1.20.3)" ।। निघण्टु, 5.3.7.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अन्य भारोपीय भाषाओं में भी हमें रथ के सगोत्र शब्द उपलब्ध होते हैं। रेथिम् (आइरिश) रहेडेग्=दौड़ना (वेल्श),[1] रोत=पहिया (लैटिन), रेथिम् तथा रोथ् (आइरिश), रहोद् (वेल्श), रोद् (ब्रेटन), रद् (ओल्ड हाई जर्मन), रत् (मिडिल हाई जर्मन), रत् (न्यू हाई जर्मन), रतस् (लिथुआनियन), रत्स् (लेट्टिक), रथ (संस्कृत), रथ (अवेस्ता), रोद् (यूनानी) और रुओत (इटैलियन) भारोपीय रेथ् से सम्बद्ध हैं, जिनमें गति अथवा संचरण का भाव विद्यमान है।[2] अतः ऋग्वेद में प्रयुक्त 'रथ क्षयः' का अर्थ हुआ ऐसा वाहन जो निवास भी हो। ऋग्वेद की एक ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गई है, "हे इन्द्र, हमारे पास कब निवासनीय रथ होंगे"—"कदा भुवन्रथ क्षयाणि ब्रह्म कदा सहस्र पोस्यं दाः" ऋ० 6.35.1. इस पर सायण का भाष्य है—"हे इन्द्र ब्रह्म ब्रह्माणि स्तोत्राण्यस्मदीयानि रथक्षयाणि रथनिवासानि कदा कस्मिन्काले भुवन् भवेयुः।" इससे प्रतीत होता है कि यायावीरीय जीवन में रथ वाहन होने के साथ-साथ अस्थायी निवास भी था, जिसका उपयोग संचरणशील कबीले विश्राम के समय करते थे। इस प्रकार 'रथ-क्षयः' यायावरीय जीवन और स्थायी निवास के अन्तराल की संक्रमण-कालीन विस्मृत कड़ी की ओर इंगित करता है। ऐतिहासिक युग में रथाकार भवनों की परिकल्पना तथा तदनुकूल मन्दिरों के निर्माण में 'रथ-क्षयः' के प्रचलन का अवशिष्ट चिह्न देखा जा सकता है। इस दृष्टि से मामल्लपुरम्[3] के एकाश्मक रथ तथा कोणार्क का सूर्य-मन्दिर[4] हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस प्रसंग में औदुम्बर नरेश रुद्रदास की एक मुद्रा पर मन्दिर का अंकन भी मनोरंजक एवं महत्त्वपूर्ण है। इसकी तुलना मामल्लपुरम् के 'सहदेव रथ' से की जा सकती है। रुद्रदास की मुद्रा[5] पर अंकित मन्दिर तथा मामल्लपुरम् का सहदेव रथ[6]—दोनों तिमंजिले हैं और दोनों की छतें 'गजपृष्ठाकृति'

1. वाल्दे पोकॉर्नी—पूर्वोक्त, 2.368.
2. सी०डी० बक—पूर्वोक्त, 10.76.2.
3. पर्सी ब्राउन—इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० 93. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मामल्लपुरम् में स्थित भीम, सहदेव और गणेश के एकाश्मक मन्दिरों को 'रथ' की संज्ञा प्रदान की गई है। अतः यहां हमें 'रथ-निवास' का 'नाम' दिखाई देता है।
4. वही, पृ० 129. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कोणार्क के सूर्य-मन्दिर का निर्माण रथ के आकार पर किया गया है जिससे 'रथ-निवास' के 'रूप' का हमें दर्शन होता है।
5. जॉन एलन—कैटेलॉग आफ दी क्वायन्स आफ ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 122, प्लेट 15.10.
6. एच० ज़िमर—दी आर्ट आफ इण्डियन एशिया, प्लेट 270.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की हैं। क्या इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि 'रथ क्षयः'=रथ निवास अवान्तरकालीन भवन-निर्माण का प्राग्रूप था ?

ऋग्वेद में 'क्षम्यः क्षयः' का प्रयोग भूमि पर निर्मित होने वाले निवास के अर्थ में हुआ है। "स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति। अवन्नवन्तीरूप नो दुरश्चरानमी वो रुद्र जासुनो भव" (ऋग्वेद—7.46.2)। इस ऋचा में कहा गया है कि पृथिवी के मनुष्यों का ऐश्वर्य उनके क्षय (निवास) के द्वारा और दिव्य मनुष्यों का ऐश्वर्य उनके साम्राज्य द्वारा ज्ञापित होता है। इसमें रुद्र से प्रार्थना की गई है कि तुम हमारी प्रजा का पालन करते हुए हमारे घर में आओ। 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न 'क्षेम्य' शब्द का अर्थ पृथिवी पर निर्मित होने वाला अल्पकालिक निवास होता है। वैदिक साहित्य में क्षेम तथा क्षेम्य शब्दों का उल्लेख पृथिवी पर निर्मित होने वाले मनुष्य के अल्पकालिक निवास के अर्थ में किया गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में वात्सप्र को एक दिन और एक रात्रि यात्रा करने के बाद दूसरे दिन और रात्रि में 'क्षेम्य' (खेमा) में विश्राम करते हुए दिखलाया गया है।[2] यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह विश्राम यात्रा के प्रसंग में है। अतः यहाँ प्रयुक्त क्षेम्य का अर्थ अल्पकालिक निवास ही मानना चाहिए।

"तस्माद् योगेऽन्यासां प्रजानां मनः क्षेमे न्यासां तस्माद् यायावरः क्षेम्यस्येशे तस्माद्-यायावरः क्षेम्यमध्यवस्यति" तैत्तिरीय संहिता 5.2.1. में कहा गया है कि यायावर का मन 'योग' और अन्यों का मन 'क्षेम' में है। इस प्रकार यायावर वात्सप्र से क्षेम्य में निवास करता है। काठक संहिता में भी यही बात दुहराई गई है।[3] मैत्रायणी संहिता में भी क्षेम्य शब्द का उल्लेख अल्पकालिक निवास अथवा शिविर के अर्थ में किया गया है।[4]

---

1. (अ) तै०सं० 5.2.1.
   (ब) श०ब्रा० 6.7.4.10.
2. "तद्वा अहोरात्रे एव विष्णुक्रमा भवति
   अहोरात्रे वात्सप्र महोरात्रे एव तद्यात्यहोरात्रे
   क्षेम्यो भवति तस्मादु हेदमुत मानुषो
   ग्रामो अहोरात्रे यात्वाहोरात्रे क्षेम्यो भवति ।।
   श०ब्रा० 6.7.4.10.
3. काठक संहिता 19.12 (29).
4. मैत्रायणी सं० 3.2.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आज भी अल्पकालिक निवास अथवा शिविर के अर्थ में खेमा शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्पष्टतः खेमा शब्द संस्कृत के क्षेम्य शब्द का तद्भव रूप है।

गर्त्तः

'गर्त्त' शब्द का अर्थ-विकास वाहन से स्थायी निवास की संक्रान्ति के लिए विशिष्ट साक्ष्य उपस्थित करता है। 'गर्त्त' शब्द के दो[1] प्रमुख अर्थ हैं—(1) गाड़ी और (2) जन-सन्निवेश। गाड़ी अर्थ में दो भिन्न प्रयोग मिलते हैं—प्रथम, रथ अथवा गाड़ी और दूसरा गाड़ी पर बना हुआ स्थूण जिस पर व्यक्ति बैठ सके। इसी प्रकार जन-सन्निवेश के अर्थ में भी दो भिन्न प्रयोग हैं—गृह तथा सभा-स्थान के वाचक। इन चार प्रयोगों से संक्रान्ति की विभिन्न स्थितियों का बोध होता है।

गाड़ी के अर्थ में गर्त्त शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, ब्राह्मण साहित्य और निरुक्त में दिखाई देता है। यास्क का कथन है—'रथोऽपि गर्त्त उच्यते' (3.5)। ऋग्वेद[2] में 'बृहन्तं गर्त्तं' का उल्लेख है, जो गर्त्त अर्थात् गाड़ी की विशालता का द्योतन करता है। इसी प्रकार 'अस्तेव गर्तें' ऋ० 6.20.9 में 'शर-सन्धान करने वाले शूर का गर्त्त अर्थात् गाड़ी–रथ पर आरोहण' करने की बात कही गई है।

किन्तु 'गर्त्त' शब्द के प्रयोग प्रायः 'आसनयुक्त' गाड़ी अथवा गाड़ी के आसन के लिए हुआ। यह आसन 'स्थूण' के आकार का था। ऋग्वेद 6.62.8 तथा काठक संहिता 15.7 में एक मंत्र आता है, जिसमें 'स्थूण गर्त्त'—स्थूणयुक्त गर्त्त का उल्लेख है, जिस पर वरुण और मित्र आरोहण करते हैं। शतपथ ब्राह्मण 5.4.1.15 में सम्भवतः इसी मंत्र की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—'आरोहतं वरुण मित्र गर्त्त ततश्च क्षामदितिं दितिं च'—और यहाँ पर भी वही अर्थ प्रतीत होता है। अन्य स्थान[3] पर उस गर्त्त के यूप, जिसे अन्यत्र स्थूण कहा गया, की लम्बाई, सप्तदश बालिश्त की बताई गई है।

---

1. निरुक्त में 'गर्त्त' शब्द के तीन अर्थ बताये गये हैं—(1) गाड़ी, (2) जन-सन्निवेश, (3) श्मशान-गड्ढा। किन्तु श्मशान अथवा गड्ढा के अप्रासंगिक होने के कारण इस पर यहाँ विचार नहीं किया गया है।
2. वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः बृहन्तं गर्तमाशाते। ऋ० 5.68.5.
3. श०ब्रा० 5.2.1.7.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'गर्त्त' शब्द का तीसरा प्रयोग गृह अथवा जन-सन्निवेश के अर्थ में हुआ। निरुक्तकार 'गर्त्त' को गृह के बाइस समानार्थी शब्दों में गिनते हैं और दुर्गाचार्य की टीका है—'गर्त्त इति गृहनाम'।

पाणिनि और काशिकाकार इसे जन-सन्निवेश के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं। गर्त्त का प्रसिद्ध उदाहरण है 'त्रिगर्त्त'[1], काशिका के दूसरे उदाहरण हैं 'चक्रगर्त्त' और 'बहुगर्त्त'[2] तथा शृगालगर्त्त और वृकगर्त्त।

गर्त्त का चौथा अर्थ है—सभा-स्थान। सायण ऋग्वेद ऋ० 1.124.7 के भाष्य में लिखते हैं—"अत्रौचित्येन राजपुरुषैः न्यायनिर्णेतृभिश्च अधिष्ठितं स्थानमुच्यते तदारोहतीति गर्तारुक्"—जहाँ न्याय का निर्णय करने वाले बैठते हों, उनका अधिष्ठान, स्थान हो वह भी गर्त्त है। यास्क का कथन है—"गर्त्तः सभास्थाणुः" स्कन्द के द्वारा दिया गया पाठान्तर है—'सभास्थानम्'।

वाहन, वाहन का आसन अथवा आसन-युक्त वाहन, सभास्थान, गृह एवं जन-सन्निवेश, जन-निवास—इस प्रकार 'गर्त्त' का भारतीय साहित्य में अर्थ-विकास दिखाई देता है।

'गर्त्त' की व्युत्पत्ति—'गृणातेः सत्संगरो भवति', 'गूरते अपगूर्णो भवति' आदि निरुक्तकार करते हैं—गृ = स्तुति करना तथा गृ=निगलने के अर्थ की धातुओं से। डा० सिद्धेश्वर वर्मा स्तुतिवाची गृ धातु को भारोपीय धातु 'गुएर'=शब्द करना, से सम्बद्ध मानते हैं।[3]

यथार्थतः 'गर्त्त' शब्द भारोपीय धातुपरम्परा से सम्वद्ध प्रतीत होता है—यूनानी 'खोर्तोस्' (खलिहान), आइरिश 'गोर्त' (क्षेत्र), वेल्श 'गार्थ' (घेरा अथवा उद्यान), रूसी 'गोरोद' (प्रासाद, उद्यान) आदि और इसी से 'सभास्थान' अर्थ सम्बद्ध हैं।[4] दूसरी शब्द-परम्परा से सम्बन्ध संदिग्ध है। कुछ विद्वान् गर्त्त-गड्डी-गाड़ी को 'कार्त्र' (नार्स), 'क्रेत' (ओल्ड इंग्लिश), 'कार्ट' (इंग्लिश) से सम्बद्ध मानते हैं।[5] किन्तु वाल्दे कार्ट को

1. वासुदेवशरण अग्रवाल—इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृ० 53, 66, 450, 451.
2. वही, पृ० 65 एवं 66.
3. सिद्धेश्वर वर्मा— पृ० 69.
4. सी०डी० बक—पूर्वोक्त, 7.15.2.
5. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 10.75.5.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

क्रत्तो=टोकरी (ओल्ड हाई जर्मन) आदि से सम्बद्ध मानते हैं, जिसकी धातु कृत=छेदने होगी।[1]

इस प्रकार 'गर्त्त' के दो अर्थसमूह उपलब्ध हुए—(1) गाड़ी, आसन और (2) सभास्थान, जन-निवास। प्रथम अर्थसमूह से द्वितीय अर्थसमूह में संक्रान्ति का कारण वही है, जो 'रथ' से 'रथः क्षयः' के विकास में निहित है—यायावरीय जीवन से क्रमशः स्थायी जीवन में संक्रान्ति।

इस प्रसंग में निरुक्त का निम्नोक्त अंश मनोरंजक तथ्य उपस्थित करता है। ऋग्वेद के एक मंत्र (1.124.7) की व्याख्या निरुक्त में निम्नोक्त है—"अभ्रातृका स्त्री जैसे पिता आदि के पास संतान का कार्य करने के लिए, पिण्डदान देने के लिए, धन-लाभ के लिए, दक्षिण देश की स्त्री स्थाणु का आरोहण करने वाली, सत्य का प्रण, प्रतिज्ञा करती है और दाय उपलब्ध करती है। श्मशान-संचय को भी गर्त्त कहते हैं····रथ को भी गर्त्त कहते हैं·····।"[2]

दुर्ग की टीका के अनुसार 'दक्षिणाजी गर्त्तारुक्' का अर्थ है 'काचित् दक्षिणात्या स्त्री सा यथा गर्त्तः सभास्थाणुः तमारोहति सनये लब्धये धनानाम्'। दुर्गाचार्य का दूसरा अर्थ है—"गर्तः सभास्थाणुः अक्षनिर्वयणपीठमित्यर्थः। गृणातेः स हि सत्यसंगरो भवति संगीर्यते हि तत्र सत्यमिदमत्रपतितमित्येवं प्रायेण कितवास्तत्रानृतं ब्रुवते। तं एवं लक्षणं गर्त्तमारोहति।"

'सभास्थाणु' वह स्थान है जहाँ सत्यसंगर होता है—यह कहा जाता है कि यही सत्य है और दूसरा अनृत है। पुनः इसकी परीक्षा होती है, इसीलिए सायण ने 'सभास्थाणु'

1. वाल्दे पोकॉर्नी—पूर्वोक्त, 1.595.

2. "अभ्रातृकेव पुंसः पितृनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय नयति गर्त्तारोहिणीव धनलाभाय दक्षिणाजी गर्त्तः सभास्थाणुर्गृणातेः सत्यसंगरो भवति तं तत्र यापुत्रा यापतिका सारोहति तां तत्राक्षैराघ्नन्ति सा रिक्थं लभते श्मशान संचयोऽपि गर्त्त उच्यते गुरतेरपगूर्णो भवति श्मशानं श्मशयनं श्मशरीरं शरीरं गृणातेः श्म्नातेर्वा श्मश्रुलोम श्मनि श्रितं भवति लोमलुनातेर्वा लीयतेर्वा नोपरस्याविष्कुर्याद् यदुपरस्याविष्कुर्याद्गर्स्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमान इत्यपि निगमो भवति। रथोऽपि गर्त्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः। स्तुततमं यानम्। आरोहथो वरुण मित्र गर्त्तमित्यपि निगमो भवति।" निरुक्त, 3.5.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का अर्थ 'न्यायनिर्णेतृभि: अधिष्ठितं स्थान' किया और प्रसंग में भी यही अर्थ ठीक लगता है। 'अक्षनिर्वयण पीठिका' की भी इसी प्रकार की व्याख्या की जा सकती है।

इस प्रकार 'गर्त्त' का स्थूण ही क्रमशः 'सभास्थाणु' बन गया जहाँ 'सत्यसंगर' होता था। यहाँ स्वर्गीय प्रोफेसर डी०डी० कोसम्बी के एक शोध से प्रकाश पड़ता है[1]—

उनके अनुसार आज भी दक्षिण भारत के बहुत से देवालयों के समीप 'बगद' अथवा अंकुशझूला के 'स्थूण', 'स्तम्भ' दिखाई देते हैं। इस कृत्य के लिए एक व्यक्ति का चयन किया जाता है, जिसके नितम्ब के कुछ ऊपर धातु निर्मित दो तीक्ष्ण अंकुशों को घुसाया जाता है। इसके बाद इस व्यक्ति को अंकुश-झूला पर झूलने के लिए भूमि से उत्थापित किया जाता है। यह कृत्य प्रतिवर्ष एक विशेष तिथि पर सम्पन्न किया जाता है। इस कृत्य का आयोजन 'म्हतोब' देवता के सम्मान में किया जाता है। यह मान्यता प्राप्त है कि इस कृत्य के आयोजकों ने ही सर्वप्रथम इस क्षेत्र में प्रव्रजन किया था।

जिस गाँव में इस कृत्य का आयोजन किया जाता है, वहाँ एक गाड़ी पर दो स्थूणों, स्तम्भों को स्थापित किया जाता है, जिनका प्रयोग इस विशेष तिथि पर ही किया जाता है। इस अंकुशझूला-कृत्य में भाग लेने के लिए अभ्यर्थी चयनकर्त्ताओं के साथ ग्राम के बाहर एक निश्चित वृक्ष के नीचे एकत्र होते हैं। झूलने वाले व्यक्ति के चयन के पश्चात् सभी चयनकर्त्ता और सभी अभ्यर्थी तीन-तीन की पंक्ति में दौड़ते हुए पुनः अपने ग्राम को वापस आ जाते हैं। प्रत्येक पंक्ति के मध्य में 'म्हतोब' देवता से सम्बद्ध जन-जाति का ही कोई व्यक्ति रहता है और उसके दोनों ओर अन्य जन-जातियों के लोग रहते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस कृत्य में झूलने के लिए चुना हुआ व्यक्ति सबसे बाद में दौड़कर गाँव में आता है। इसके पश्चात् कर्मकाण्डी को स्थानीय मन्दिर के पास ले जाकर उसको धार्मिक रीति से स्नान कराया जाता है और उसे 'देव' की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। इस 'देव' को एक विशिष्ट परिधान—लाल पगड़ी और लाल रेशमी पैजामा पहनाया जाता है। उसका ऊर्ध्व भाग खाली रहता है।

तत्पश्चात् वह कर्मकाण्डी होलिका-दहन-स्थल पर जाकर होलिका की राख पर खड़ा होता है, जहाँ उस गाँव का बढ़ई उसके नितम्बों के कुछ ऊपर दो लौह-निर्मित अंकुशों को घुसाता है। 'कर्मकाण्डी' को मालाओं से सज्जित कर समीपस्थ खेत में ले जाया जाता है। वहाँ पहले से ही दो बैलों से खींची जाने वाली तथा दो स्तम्भों से युक्त 'बगद गाड़ी'

---

1. साइन्टिफिक अमेरिकन, फरवरी 1967, खण्ड 216, संख्या 2, पृ० 109 से 111 तक।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्थित रहती है। इन स्तम्भों से लटकने वाली दो रस्सियों को कर्मकाण्डी के पृष्ठ भाग में घुसे हुए दोनों अंकुशों में फँसा दिया जाता है। गत वर्ष में सम्पन्न होने वाली अंकुश-झूला के बाद उत्पन्न होने वाली सन्तानों को कर्मकाण्डी आशीर्वाद देता है। इसके बाद वह झूलना प्रारम्भ करता है। वहाँ एकत्र जन-समूह के उत्साहवर्धन पर वह मानित देव द्रुतगति से गाड़ी के स्तम्भों पर आरोहित होता है और वह स्थूण, स्तम्भ-युक्त गाड़ी खेत को पार करती हुई गतिशील हो जाती है।

एक पूर्वनिश्चित स्थान पर वह गाड़ी रुकती है और वह कर्मकाण्डी अथवा 'मानित देव' गाड़ी के स्तम्भ से उतर कर कई बार (जिसकी संख्या पूर्वनिर्धारित होती है) झूलता है। तदनन्तर वहाँ उपस्थित मनुष्यों का जुलूस 'म्हतोब' के मन्दिर पर एकत्र होता है तथा बहुत से बकरों की बलि चढ़ाई जाती है।

बलि की समाप्ति के बाद अंकुश में लगी हुई रस्सियों को स्तम्भों से खोल दिया जाता है, वह 'मानित देव' स्तम्भ से नीचे उतरता है और 'म्हतोब' के मन्दिर में प्रवेश करता है। वहाँ अंकुश को उसके शरीर से निकाला जाता है और उसके घाव पर 'म्हतोब' की पवित्र अग्नि की राख लगा दी जाती है। इस कृत्य की समाप्ति के साथ ही 'मानित-देव' का मानव-पद पर प्रत्यावर्त्तन होता है।

प्रोफेसर कोसम्बी ने 'म्हतोब' देवता को उन गोचारकों से सम्बद्ध माना है, जिन्होंने उत्तर भारत से दक्षिण में प्रव्रजन किया। अतः 'म्हतोब' देवता से सम्बद्ध जन-जाति में अद्यावधि प्रचलित 'बगद गाड़ी', स्थाणुयुक्त अथवा दो स्तम्भों से युक्त गाड़ी, पर अंकुश-झूला झूलना उस काल की ओर संकेत करता है जब लोग स्थूणयुक्त अथवा स्तम्भयुक्त 'गर्त्त' का प्रयोग वाहन के रूप में करते थे और वही 'गर्त्त' क्रमशः सभा-स्थान और 'गृह' के रूप में परिणत हो गया।

इस प्रकार यायावरीय जीवन से स्थायी जीवन में गर्त्त का प्रयोग वाहन से सभा-भवन के बीच की शृंखला व्यक्त करता है।

पस्त्य:

यायावरीय जीवन के क्षेम (निवास) के रूप में 'पस्त्य' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद की ऋचा है—

"अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः"। ऋ० 1.164.30। यहाँ जीव के द्विविध रूपों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लेख है—जीवनकालीन और मरणोत्तर। इन दोनों रूपों की यायावरीय जीवन से रूपक के द्वारा व्याख्या की गई। सायण के अनुसार अर्थ है—प्राण होने पर जीव त्वरा के साथ चलता है और (फिर) पस्त्यों के मध्य में स्थिर होता है।[1] यहाँ यायावरियों का जीवन तुलनीय है। यायावर पहले दिन पराक्रम करता है और बाद के दिन बैठता है—यायावर क्षेम में निवास करता है।[2] जो यायावरों के जीवन में 'क्षेम्यमध्यवस्यति' से कहा गया वही प्रस्तुत ऋचा में 'पस्त्यानां मध्य ध्रुवं' से निर्दिष्ट किया गया और इसलिए 'पस्त्यों' का अर्थ क्षेमों (खेमों) अथवा इसी से मिलती-जुलती वस्तु है। ऋग्वेद 10. 46.6 में इसी को 'पस्त्यासु सीदत्' कहा गया है। इसमें अग्नि को पस्त्यों, गोचारकों के भवनों के समूह के मध्य में बैठते हुए कहा गया है।

निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थों और भाष्यों में 'पस्त्य' के विभिन्न अर्थ किये गये। निरुक्त[3] का वचन है 'पस्त्यमिति गृहनाम' और सायण ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में यही अर्थ करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पस्त्य' का अर्थ 'साधारण जनता' किया गया—विशो वै पस्त्या।[4] ऋग्वेद की एक ऋचा (4.54.5) में प्रयुक्त 'पस्त्यावतः क्षयान्' का अर्थ सायण-भाष्य में है—'गृहवतः ग्रामनगरादीन्'। "य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्। ये वा जनेषु पंचसु" ऋ० 9.65.23 में प्रयुक्त 'पस्त्यानां' का अर्थ सायण ने नदी किया है—'पस्त्यानां सरस्वत्यादीनां नदीनां मध्ये'। इस प्रकार पस्त्य के चार अर्थ—गृह, गृह में निवास करने वाली जनता, गृह से युक्त ग्राम-नगर और नदी उपलब्ध होते हैं।

रॉथ और ज़िमर भी पस्त्य को गृह के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं।[5] पिशेल कुछ स्थानों पर 'पस्त्य' का अर्थ नदी अथवा जल करते हैं।[6]

---

1. "अनत् प्राणनं कुर्वत् जीवं तुरगातुस्वव्यापाराय तूर्णगमनं सत् एजद् ...... ध्रुवं अविचलितं सत् पस्त्यानां मध्ये आ शेते"। ऋ० 1.164.30 पर सायण-भाष्य।
2. "पूर्वेद्युः प्रक्रामयत्युस्तरेद्युरुपतिष्ठते। तस्माद्योगेऽन्यासां प्रजानां मनः क्षेमेन्यासां तस्माद्यायावरः क्षेमेस्येशे तस्माद्यायावरः क्षेम्यमध्यवस्यति।" तै०सं० 5.2.1.
3. निरुक्त, 3.4.6.
4. श० ब्रा० 5.3.5.19 तथा 5.4.4.5 पर सायण-भाष्य।
5. मैक्डॉनेल ऐण्ड कीथ—वेदिक इण्डेक्स, भाग 1, पृ० 512.
6. तत्रैव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋचाओं के प्रसंग से पस्त्य के अर्थ गृह, गृह-निवासी अथवा साधारण जनता, जन-समूह का निवास, जिसे भाष्य में ग्राम-नगर तथा नदीवर्ती क्षेत्र, जिसे पिशेल और सायण ने नदी किया है, समर्थित होते हैं ।

गृह के अर्थ में पस्त्य के अनेक प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध हैं । 'देव्यदिते सदने पस्त्ये' (ऋ० 8.27.5), हे अदिति देवि, तुम पस्त्य गृह में आसीन हो, 'पस्त्य सदः' (ऋ० 6.51.9), 'पस्त्ये गृहे सीदतो निषण्णान्' (उपर्युक्त ऋचा पर सायण-भाष्य) तथा 'पस्त्यासु योनौ सीदत्' (ऋ० 10.46.6) आदि इसके उदाहरण हैं । इसी प्रकार 'वीर पस्त्य' (ऋ० 5.50.4) तथा 'त्रिपस्त्य' (ऋ० 8.39.8) में पस्त्य का अर्थ गृह ही प्रतीत होता है । किन्तु 'पस्त्य सदन' साधारण गृह नहीं हैं, उनकी अपनी कुछ विशेषताएँ भी वर्णित हैं ।

"आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यं नव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् ।

प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ।।" ऋ० 10.96.11 में 'नव्यं नव्यं प्रियं गवां हर्यतं आविष्कृधि'—हे इन्द्र, नये-नये प्रिय गायों के स्पृहणीय पस्त्य को हमारे लिए ढूँढों—से ज्ञात होता है अज्ञात पस्त्यों के 'आविष्कार' की इच्छा और पस्त्यों का गायों से सम्बन्ध । सायण का भाष्य है—'गवां हर्यतं स्पृहणीयं पस्त्यं गृहं गोरुदकस्योक्त-गुणकं स्थानं'—गायों के पीने के पानी से युक्त स्पृहणीय स्थान । यहाँ ऐसी भूमि का संकेत है, जहाँ नदियां प्रवाहित हों और इसलिए जहाँ गायों को पानी आदि की सुविधा हो ।

इसी से पस्त्य का चतुर्थ अर्थ नदी भी सम्बद्ध है । 'वृषभस्य नीळे पस्त्यासु महो रजसो योनौ' (ऋ० 4.1.11) च चरति—'वह पस्त्यों में जहाँ बैलों का घर है, और जहाँ महान् जलधारा का स्रोत है' चलता है । यहाँ पस्त्य की विशेषता 'रजसः योनौ उदकस्य स्थाने' तथा 'वृषभ नीड़' बताई गई । ऋग्वेद 9.65.23 के 'ये मध्ये पस्त्यानां' में 'पस्त्यानां सरस्वत्यादीनां मध्ये' का अर्थ सरस्वती की जलधारा के मध्य न कर सरस्वती-क्षेत्र के मध्य में ही करना पड़ेगा । 'अश्वपस्त्य' ऋ० 9.86.41 से भी यही ध्वनित होता है—ऐसा क्षेत्र जहाँ अश्व हों—अश्व चरते हों ।

ऐसे क्षेत्रों में अनेक सदन अथवा गृहों का विकास हुआ और इसीलिए 'पस्त्य' का अर्थ विकसित होकर गृह-समूह—'ग्राम-नगरादीन्' हो गया ।[1] ऋग्वेद 1.40.7 में

1. इन्द्रज्येष्ठान्बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः ।
यथा यथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते ।।
ऋ० 4.54.5.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'अन्तर्वावित्क्षयं पस्त्याभिः' का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य ऐसे गृहों से है, जिनके अन्दर पुत्र और पशु जाते थे—'अन्तर्वान्ति गच्छन्ति पुत्रपश्वादयः, (यस्मिन् क्षये गृहे') (ऋग्वेद 1.40.7 पर सायण-भाष्य)।

यहाँ 'पस्त्य' से सम्बद्ध 'पज्रा' शब्द का विवेचन भी समीचीन प्रतीत होता है। सायण ने 'पज्रा' शब्द का अर्थ किया है—घास आदि अन्न से युक्त।[1] सायण के अनुसार 'पज्रा' आंगिरसों की आख्या है।[2] ऐसा कहा जाता है कि अंगिरस ने पशुओं की कामना से तपस्या की—'पज्रा वा अंगिरसः पशुकामास्तपोऽतप्यन्त' इति (ऋ० 1.51.14 पर सायण-भाष्य)। इस प्रकार पस्त्य का सम्बन्ध मनुष्यों के गोचरीय जीवन से प्रतीत होता है, जिसमें मनुष्यों का पशुओं से अनिवार्य एवं अपरिहार्य सम्बन्ध था।

अन्त में 'पस्त्य' का अर्थ इन पस्त्यों के निवासियों, साधारण जनता से लिया जाने लगा। उदाहरणार्थ 'निषसाद् धृतव्रतो वरुणः पस्त्या इस्वा साम्राज्याय सुक्रतुः'' ऋ० 1.25.10 में कहा गया है कि शोभनकर्मा वरुण पस्त्यों में निवास करने वाले लोगों के साम्राज्य के लिए उनके मध्य में बैठ गये। इसी प्रकार ऋ० 7.97.5 में 'पस्त्यानां यजतं बृहस्पतिम्' का उल्लेख पस्त्य निवासियों द्वारा पूजित बृहस्पति के आवाहन करने के अर्थ में किया गया है। 'प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम्। होता यक्षद्यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा'' ऋ० 6.49.9 में 'पस्त्यानां' का प्रयोग गृहस्थों, साधारण जनता के अर्थ में किया गया है। इसमें कहा गया है कि 'देवों को बुलाने वाले और दीप्तिमान अग्नि त्वष्टा का यज्ञ करें। त्वष्टा सबके आदिविभाजक, प्रसिद्ध अन्नदाता, शोभनपाणि और दानशील हैं तथा महान् गृहस्थों के यजनीय और अनायास आवाहन के योग्य हैं।'

सारांश में, निरुक्त, भाष्य आदि तथा प्रसंग से पस्त्य का सम्बन्ध है नदी के तटवर्ती क्षेत्रों से जहाँ अश्व, गाय और वृषभ चरते हों। यह अर्थ तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से भी समर्थित है।

'पस्त्य' से सम्बद्ध प्रतीत होने वाले कतिपय भारोपीय शब्दों का अध्ययन इस प्रसंग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं मनोरंजक है।

पासेरे (लैटिन), पस्ति (चर्च स्लावी), पस्ति (बोहेमियन) तथा पस्ति (सर्वो-क्रोटियन) शब्दों का प्रयोग घास चरने, घास चराने अथवा घास खाने और घास खिलाने

1. 'पज्राः अन्नवन्तो अंगिरसः' ऋ० 1.126.5 पर सायण-भाष्य।
2. 'पज्रा इत्यंगिरसामाख्या' ऋ० 1.51.14 पर सायण-भाष्य।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अर्थ में किया गया है ।[1] इसी प्रकार पस्तिविस्के (चेकोस्लाविया की बोहेमियन) तथा पस्तिविस्को (पोलिश) का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त शब्द आधुनिक आंग्ल भाषा के 'पास्चर' (चरागाह) शब्द के जनक हैं। उपर्युक्त शब्दों के अर्थ से मनुष्यों का पशुओं से सम्बन्ध ज्ञापित होता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'पस्त्य' शब्द का प्रयोग मूलतः गोचारण कराने वाले व्यक्तियों के अर्थ में किया जाता था और कालान्तर में उनके निवास अथवा गृह के अर्थ में परिगृहीत हुआ। इसीलिए निरुक्त में गृह के बाइस पर्यायवाची शब्दों में पस्त्य का भी उल्लेख किया गया है ।[2]

ऋग्वेद में विभिन्न नदियों के समीप स्थित पस्त्यों का उल्लेख किया गया है—"य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्। ये वा जनेषु पञ्चसु" ऋ० 9.65.23 में आर्जीक पस्त्य, कृत्व (कर्मनिष्ठ) पस्त्य और सरस्वती नदी के तट पर अवस्थित पस्त्य का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार 'सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति ययुर्निचक्रया नरः' ऋ० 8.7.29 में सुषोम, शर्यणावति और आर्जीक पस्त्यों का उल्लेख हुआ है। किन्तु वैदिक विद्वानों में इनकी पहचान के सम्बन्ध में मतभेद है।

'शर्यणावन्त' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं[3] में हुआ है। सायण ने इसको एक स्थानवाची नाम माना है। इनके अनुसार कुरुक्षेत्र में शर्यणाह नामक एक जनपद अवस्थित है। पिशेल और मैक्समूलर ने सायण का अनुगमन कर 'शर्यणावन्त' को कुरुक्षेत्र में स्थित बतलाया है।[4] हिलेब्रान्त यद्यपि इसको एक स्थान का नाम मानते हैं तथापि इसको पाँच जातियों के मध्य में रखते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में इसका कुरुक्षेत्र के समीप अवस्थित होना असम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पुरुवंशियों का परवर्ती कुरुओं से सम्बन्ध पूर्णरूपेण ज्ञात है।[5] इतना ही नहीं वरन् हिलेब्रान्त यह भी

1. सी०डी० बक—पूर्वोक्त, 3.16.6.
2. 'पस्त्यमिति गृहनाम' निरुक्त, 3.4.6.
3. "ऋग्वेद 1.84.14, 8.6.39, 8.7.29, 8.64.11, 9.65.22, 9.113.1, 10.35.2, द्रष्टव्य—जैमिनीय ब्रा० 3.64 (जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियेण्टल सोसाइटी, 18.17) ऋग्वेद 1.84.13 पर सायण-भाष्य के प्रसंग में शाट्यायनक।
4. मैक्डॉनेल ऐण्ड कीथ—वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृष्ठ 364.
5. तत्रैव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सुझाव प्रस्तुत करते हैं कि शर्यणावन्त काश्मीर के वुलर समुद्र का ही पुराना नाम है, जो कि वेदों के समय की ही स्मृति है। अतः हिलेब्रान्त के इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ऋग्वेद 9.65.22 तथा 23 में सोम के उत्पत्ति-स्थान के प्रसंग में पञ्जजनों और शर्यणावन्त का उल्लेख अलग-अलग किया गया है। लुडविग्[1] ने 'शर्यणावन्त' की पहचान 'पूर्वी सरस्वती' के साथ करने की चेष्टा की है, किन्तु अपने मत की पुष्टि में कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया है।

ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रयुक्त 'शर्यणावति' शब्द के प्रसंगों के परीक्षण से हमें इसकी भौगोलिक स्थिति के निर्धारण में सहायता मिल सकती है। ऋग्वेद 1.84.14 में कहा गया है कि पर्वत में छिपे हुए दधीचि के अश्वशीर्ष को पाने की इच्छा से इन्द्र ने उस शीर्ष को शर्यणावति नामक सरोवर में प्राप्त किया। "मन्दस्वा सु स्वर्णर उतेन्द्र शर्यणावति। मत्स्वा विवस्वतो मती' ऋ० 8.6.39 में प्रयुक्त 'शर्यणावति' का अर्थ सायण 'शर्यणा नाम कुरुक्षेत्रवर्तिनो देशाः। तेषामदूरभवं सरः शर्यणावत्' किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद 8.7.29 में कवि शर्यणावत्, सुषोम, आर्जीक और पस्त्यावत् को चले गये मरुतों को अपने पास बुलाता है और कहता है कि वे अन्यत्र अथवा दूसरों के पास न रुकें। यहाँ भी शर्यणावत् शब्द किसी भौगोलिक इकाई की ओर ही इंगित करता है। ऋग्वेद 8.64.11 में कहा गया है कि शर्यणावत्, सुषोम और आर्जीक में प्राप्त होने वाला सोम सर्वाधिक मीठा होता है। ऋग्वेद 9.65.22 में कहा गया है कि जो सोम दूर अथवा समीप के देश में इन्द्र के लिए अभिषुत हुए हैं, और जो शर्यणावत् में अभिषुत हुए हैं, वे हमें अभिमत फल प्रदान करें।[2] इस ऋचा के बाद वाली ऋचा[3] में कहा गया है कि जो सोम आर्जीक में अभिषुत हुए हैं, जो कृत्व देश, सरस्वती के तट पर और पञ्जजन में प्रस्तुत हुए हैं, वे हमें अभिमत फल प्रदान करें। इसी प्रकार ऋग्वेद 9.113.1 में वृत्रहा इन्द्र को शर्यणावत् में स्थित सोम का पान करने के लिए कहा गया है।

उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि वैदिककाल में शर्यणावत् नामक स्थान जहाँ एक ओर सोम से सम्बद्ध था वहीं दूसरी ओर इन्द्र, वृत्र और दध्यङ् ऋषि के आख्यानों

---

1. तत्रैव।
2. यहाँ भी सायण शर्यणावत् की व्याख्या में कहते हैं—'कुरुक्षेत्रस्य जघनार्थे शर्यणावत्संज्ञके'।
3. ऋ० 9.65.23.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से। ऋग्वेद 1.84.13 के भाष्य में सायणाचार्य ने शाट्यायनिकों में प्रचलित एक पुरातन आख्यायिका का उल्लेख किया है[1]—"अथर्वा के पुत्र दध्यङ के देखने मात्र से ही असुर पराजित हो गये। दध्यङ के देहावसान पर पृथिवी असुरों से पूर्ण हो गई। इन्द्र ने असुरों से अपने को अशक्त समझ कर दध्यङ के सम्बन्ध में पूछताछ की। लोगों ने बतलाया कि ऋषि स्वर्गगामी हो गये हैं। तब इन्द्र ने पूछा कि क्या ऋषि का कोई अंग अवशिष्ट है? लोगों ने बतलाया कि दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों को जिस अश्वशीर्ष से मधु-विद्या का ज्ञान प्रदान किया था वह अश्वशीर्ष है, किन्तु वह कहाँ है, हम नहीं जानते। तब इन्द्र ने उसको ढूँढ़ा और उसको शर्यणावत् में प्राप्त किया तथा उससे वज्र बनाकर असुरों को मारा।" दध्यङ ने अश्व-शीर्ष से अश्विनीकुमारों को मधुविद्या पढ़ाई थी। शाट्यायन में शर्यणावत् नामक तडाग को कुरुक्षेत्र के जघनार्थ में स्थित बतलाया गया है।

दुर्भाग्यवश सायण ने उस ग्रन्थ के नाम का उल्लेख नहीं किया है, जिसमें उपर्युक्त इतिहास अथवा परम्परा का वर्णन मिलता है। किन्तु शाट्यायन-शाखा के उल्लेख से इस परम्परा अथवा इतिहास की प्राचीनता प्रमाणित होती है। शतपथ ब्राह्मण[2] में शाट्यायन को दो बार आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है। इसी प्रकार जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[3] में भी शाट्यायन का प्रायः उल्लेख मिलता है। श्रौतसूत्रों में शाट्या-यनकों का उल्लेख मिलता है।[4] शाट्यायन ब्राह्मण तथा शाट्यायनकों का उल्लेख भी श्रौत सूत्रों में मिलता है।[5]

---

1. "आथर्वणस्य दधीचो जीवतो दर्शनेनासुराः पराबभूवुः। अथ तस्मिन् स्वर्गतेऽसुरैः पूर्णा पृथिव्यभवत्। अथेन्द्रः तैरसुरै सह योद्धुमशक्नुवंस्तमृषिमन्विच्छन् स्वर्गंगत इति शुश्राव। अथ पप्रच्छ तत्रत्यान् नेह किमस्य किंचित्परिशिष्टमङ्गमस्तीति। तस्मा अवोचन् अस्त्येतदाश्वं शीर्यं येन शिरसाश्विभ्यां मधुविद्यां प्राब्रवीत्। तत्तु न विद्म यत्राभवदिति। पुनरिन्द्रोऽब्रवीत्। तदन्विच्छतेति। 'तद्धान्वैषिषुः। तच्छर्यणावत्यनु-विद्याजह्रुः। शर्यणावद्ध वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्धे सरः स्यन्दते। तस्य शिरसोऽ-स्थिभिरिन्द्रोऽसुराञ्जघान' इति ॥ ऋ० 1.84.13 पर सायण-भाष्य।
2. शत० ब्रा० 7.1.4.9, 10.4.5.2.
3. जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० 1.6.2, 1.30.1, 2.2.8, 2.4.3, 2.9.10, 3.13.6 तथा 3.28.5.
4. लाटायन श्रौ० सू० 4.5.18.
5. आपस्तम्ब श्रौ० सू० 5.23.3, 10.12.13-14, लाटा० श्रौ० सू० 1.2.24, आश्व० श्रौ० सू०: 1.4.13, वेदिक इण्डेक्स, भाग-2, पृ० 370.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शर से शर्य और शर्य से शर्यणावत् शब्द सम्बद्ध प्रतीत होता है। शर शब्द का अर्थ होता है सरकण्डा अथवा बेंत। अतः शर्य का अर्थ होगा सरकण्डा से निर्मित अथवा बाण। इसी से 'शर्यण' शब्द निष्पन्न है, जिसको सायण ने एक देश अथवा स्थान का नाम बतलाया है, जो कुरुक्षेत्र के समीप स्थित है।[1] अतः ऋग्वेद में प्रयुक्त शर्यणावत् शब्द के प्रसंग के आधार पर इसको उस प्रसिद्ध तडाग के अर्थ में परिगृहीत करना चाहिए जिसका सम्बन्ध विभिन्न प्राचीन परम्पराओं से था। वैदिक जन-सन्निवेशों के अन्तर्गत यह एक ऐसा पवित्र स्थान था जहाँ मधुविद्या जैसा पवित्र ज्ञान प्रदान किया जाता था। इस स्थान का उल्लेख सामवेद[2], यजुर्वेद[3] और अथर्ववेद[4] में भी मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण[5] और शौनकीय बृहद्देवता[6] में भी हमें इन्द्र, दधीचि, आश्विन और अश्वशीर्ष के आख्यान प्राप्त होते हैं जिनमें शर्यणावत् का स्पष्ट उल्लेख आता है। पाणिनि के सूत्र के अनुसार शर्यणावत् शब्द की रचना शर्यण शब्द में मतुप् प्रत्यय लगाकर की गई है।[7]

स्थानवाची शब्द के अर्थ में कुरुक्षेत्र का प्राचीनतम उल्लेख हमें कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता में मिलता है।[8] चूंकि शर्यणावत् का भी उल्लेख इस वेद में मिलता है, इसलिए सहज रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस काल में कुरुक्षेत्र और शर्यणावत् की स्थिति आस-पास रही होगी। सम्भवतः इसी आधार पर सायणाचार्य ने शर्यणावत् को कुरुक्षेत्र के जघनार्थ में अवस्थित बतलाया है। परवर्ती साहित्य में शर्यणावत् का उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इस स्थान के बोधक

1. "शर्यणानाम् देशाः। तेषां अदूरभवं सरः शर्यणावत्। कुरुक्षेत्र जधनार्थभवे शरतृणोपेते।" ऋ० 1.84.13-14, 8.7.29 तथा 8.64.11 पर सायण-भाष्य।
2. सामवेद 2.4.2.11, 3.1.8.2.
3. मैत्रा० सं० 2.13.6.-23-25.
4. अथर्ववेद 20.41. 1-2.
5. शतपथ ब्राह्मण 14.1.1.24
6. बृहद्देवता 3.23
7. पाणिनि—अष्टा० 3.23.
8. मै०सं० (कृष्णयजुर्वेद) 2.1.4, 4.6.9 'देवा वै सत्रमासत कुरुक्षेत्रे'।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अन्य नाम अथवा शब्द अधिक लोकप्रिय हो गये और इसका प्राचीन नाम शर्यणावत् विलुप्त हो गया। ऐसे नामों में ब्रह्मवेदी, ब्रह्मयोनि, ब्रह्मसर और कुरुक्षेत्र आदि हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इस क्षेत्र की परिगणना उन क्षेत्रों के साथ की गई है, जहाँ सोम उत्पन्न होता था और जहाँ इन्द्र ने सोमरस का पान किया था। यह वही क्षेत्र है, जहाँ वैदिक ऋषियों ने लोगों को मधुविद्या का ज्ञान कराया था। यहीं इन्द्र ने ऋषि दध्यङ को मधु-विद्या का ज्ञान प्रदान किया था और दध्यङ ने इसका ज्ञान अश्विनीकुमारों को दिया था।

ऋग्वेद 8.7.29 में सुषोम और शर्यणावत् पस्त्यों के साथ ही आर्जीक पस्त्य का उल्लेख किया गया है किन्तु 'शर्यणावत्' की ही तरह 'आर्जीक' की पहचान के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। हिलेब्रान्त[1] इसको एक स्थान मानते हैं और उसकी स्थिति काश्मीर के समीप बतलाते हैं। पिशेल[2] भी इसको एक स्थानवाची शब्द मानते हैं, किन्तु इसका तादात्म्य स्थापित करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। किन्तु न तो रॉथ और न तो ज़िमर ही इसको व्यक्तिवाचक संज्ञा मानने को प्रस्तुत हैं।[3] रॉथ इस शब्द को केवल एक स्थान पर व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त मानते हैं और अन्य स्थानों पर प्रयुक्त इस शब्द को सोम-पात्र का अर्थवाची मानते हैं, जिससे सोमरस का परिष्कार किया जाता था। पंडित गिरीशचन्द्र अवस्थी[4] इसको एक देश का नाम मानते हैं जिसकी स्थिति व्यास नदी के उद्गम-स्थान के पर्वत के समीप थी। सोम-स्तुति के प्रसंग में ऋग्वेद की एक ऋचा[5] में 'आर्जीकादापवस्व' का उल्लेख किया गया है। इस पर सायण का भाष्य है—'ऋजीकानामदूरभव आर्जीको जनपदः। तस्मात् आ पवस्व अस्मद्यञ्च प्रत्यागच्छ', इसका अर्थ है कि हे काम-सेचक और दिशाओं के स्वामी सोम, आर्जीक देश से आकर क्षरित होओ। ऋ० 8.7.29 में मरुत की स्तुति में 'आर्जीक' शब्द का प्रयोग एकवचन में किया गया है।[6] इस ऋचा का अर्थ है कि ऋत्विज् लोग सोम को लाने के लिए सुषोम, शर्यणावत्, पस्त्यावत् और आर्जीक में शकट लेकर जाते हैं। यहाँ भी आर्जीक शब्द का प्रयोग स्थान अथवा देश के ही अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार 'य आर्जीकेषु

1. वैदिक इण्डेक्स भाग 1, पृ० 62.
2. तत्रैव
3. तत्रैव
4. गिरीशचन्द्र अवस्थी—वेदधरातल, पृ० 46.
5. ऋ० 9.113.2.
6. "सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति। ययुर्निचक्रया नरः॥"—ऋ० 8.7.29.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम् । ये वा जनेषु पञ्चसु' ऋ० 9.65.23 में भी 'आर्जीक' शब्द का प्रयोग देश के ही अर्थ में हुआ है । इस ऋचा पर सायण का भाष्य है—'ये वा सोमाः आर्जीकेषु । ऋजीकानामदूरभवा आर्जीका देशाः । तेषु तथा कृत्वसु । कृत्वान इति देशाभिधानम् । तेषु कर्मवत्सु देशेषु च किंच पस्त्यानां सरस्वत्यादीनां नदीनां मध्ये समीपे च ये सोमा अभिषूयन्ते । . . . . .' इसका अर्थ हुआ कि जो सोम ऋजीक पर्वत के समीप वाले देश में अभिषुत हुए हैं, जो कृत्व देश, सरस्वती नदी के तट पर और पञ्चजन में प्रस्तुत हुए हैं, वे सोम हमें अभीष्ट प्रदान करें । स्पष्टतः यहाँ भी आर्जीक शब्द का अर्थ देशवाची अथवा स्थानवाची ही है ।

इस प्रकार ऋग्वेद में प्रयुक्त 'आर्जीक' और 'आर्जीकीय' शब्दों का तात्पर्य देश अथवा स्थान विशेष ही प्रतीत होता है । किन्तु ऋग्वेद के एक मंत्र में 'आर्जीकीया' शब्द का भी उल्लेख मिलता है ।[1] इसको मैक्डॉनेल और कीथ महोदय ने व्यास नदी का बोधक माना है । इस ऋचा में गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के साथ आर्जीकीया नदी से प्रार्थना की गयी है कि तुम लोग मेरे इस स्तोत्र का भाग कर लो और सुनो ।

'आर्जीक' की ही भाँति 'सुषोम' की पहचान भी विद्वानों के लिए एक समस्या बनी हुई है । इस शब्द का उल्लेख ऋग्वेद 10.75.5 में गंगा, यमुना और सरस्वती आदि नदियों के साथ नदी-स्तुति के प्रसंग में किया गया है । इसलिए अधिकांश विद्वानों ने इसको नदी का नाम माना है । यास्क और दुर्गाचार्य ने लिखा है कि सुषोमा सिन्धु का नाम है ।[2] क्योंकि सिन्धु में बहुत सी नदियां मिलती हैं इसलिए सिन्धु को ही सुषोमा कहा जाता है । कुछ विद्वान यह आपत्ति करते हैं कि अन्य नदियों में भी बहुत सी नदियां मिलती हैं तथापि उन्हें सुषोमा नहीं कहा जाता । इसका उत्तर गिरीशचन्द्र अवस्थी यह कह कर देते हैं कि 'सुषोमा' शब्द सिन्धु नदी के लिए उसी प्रकार 'योगरूढ़' हो गया है, जिस प्रकार कमल के लिए पंकज । इनके अनुसार 'योगरूढ़' शब्दों में अक्षरार्थ और प्रसिद्धि दोनों लिये जाते हैं ।[3] ऋग्वेद 8, 7.29 में मरुत् की स्तुति में शर्यणावत्, आर्जीक, पस्त्यावत् के साथ ही 'सुषोम' शब्द का भी उल्लेख किया गया है । शर्यणावत् और 'आर्जीक' की भाँति 'सुषोम' शब्द भी स्थानवाची ही प्रतीत होता है । इस ऋचा में ऋत्विजों को शकट से

1. ऋग्वेद : 10.75.5.
2. 'सुषोमा सिन्धुः सा कस्मात् यदेनामभिप्रसुवन्ति अभिगच्छन्ति अन्याः प्रभृताः नद्याः ।' दुर्गाचार्य ।
3. गिरीशचन्द्र अवस्थी—पूर्वोक्त, पृ० 773.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपर्युक्त स्थानों पर सोम लाने के लिए जाते हुए दिखलाया गया है। अतः सुषोम का अर्थ सिन्धुनदी के स्थान पर सिन्धु नदी का प्रदेश अथवा भू-भाग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

इसी प्रसंग में प्लक्षप्रास्रवण पर विमर्श आवश्यक है। यह एक स्थान का नाम है, जो सरस्वती के विलुप्त होने के स्थान से 44 दिनों की यात्रा की दूरी पर स्थित है।[1] इसका उल्लेख हमें पंचविंश ब्राह्मण[2] और जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण[3] में मिलता है। परवर्ती कालीन ग्रन्थों[4] में कहा गया है कि पृथिवी का मध्यभाग उसके उत्तर का प्रदेश है। ऋग्वेद के सूत्रों[5] में उस स्थान को प्लक्षप्रास्रवण कहा गया है, जो आपाततः सरस्वती का उद्गम-स्थान प्रकट होता है न कि उसके पुनर्दशन का स्थान। पण्डित गिरीशचन्द्र अवस्थी भी प्लक्षप्रास्रवण का अर्थ सरस्वती का उद्गम-स्थान ही मानते हैं।[6]

ताण्ड्य ब्राह्मण 25.10.16. में लिखा है कि 44 दिनों में घोड़े पर चढ़कर जितनी दूर जाया जा सकता है, उतनी दूर पर प्लक्षप्रास्रवण से सरस्वती का विनशन अर्थात् लुप्त होने का स्थान है। सरस्वती का वह किनारा अनुष्ठान करने से स्वर्गलोक को पहुँचाता है। इसलिए इसको स्वर्ग का मार्ग कहा जाता है। महाभारत[7] में 'प्लक्ष-प्रस्रवण' नामक एक तीर्थ का उल्लेख मिलता है, जो हिमालय में स्थित था। इसको सरस्वती का उत्पत्ति-स्थान कहा गया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में उल्लिखित आर्जीक, सुषोम और शर्यणावत् पस्त्यों का प्रदेश-विस्तार सिन्धु-प्रदेश से लेकर कुरुक्षेत्र तक था। तैत्तिरीय आरण्यक 5.1.1 में कुरुक्षेत्र की सीमा का उल्लेख किया गया है। इसके दक्षिण में खाण्डव, उत्तर में तूर्घ्न और पश्चिम में परिणह की स्थिति बतलायी गयी है। सामान्यतया वर्तमान समय के सरहिन्द नामक

---

1. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 55.
2. 25.10.16., कात्या० श्रौ० सू० 24.6.7, लाट्या० श्रौ० सू० 10.17. 12.14.
3. 4.26.12.
4. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 55.
5. आश्व० श्रौ० सू० 12.6.1, शाखा० श्रौ०सू० 13.29.24.
6. गिरीशचन्द्र अवस्थी—पूर्वोक्त, पृ० 477.
7. "पुण्यं तीर्थवरं दृष्ट्वा विस्मयं परमं गतः ।
   प्रभावं च सरस्वत्याः प्लक्षप्रस्रवणं बलः ।।" महा०भा०, शल्यपर्व, 54.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्थान से कुरुक्षेत्र का तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है।[1] ऐसा अनुमान होता है कि आर्जीक, पस्त्यावत्, सुषोम और प्लक्षप्रास्रवण शर्यणावत्—कुरुक्षेत्र के समीपवर्ती क्षेत्र थे और सरस्वती, व्यास और सिन्धु नदियों के कांठे में पड़ते थे। बाद में सारस्वत प्रदेश ही इस भू-भाग का केन्द्रीय क्षेत्र बन गया। पस्त्य-संस्कृति की प्रमुख विशेषता गोचारण के लिए यह सारस्वत प्रदेश महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि ब्राह्मण साहित्य में गो-संवर्धन से सम्बद्ध सवनों और यज्ञों के संपादन के प्रसंग में इस प्रदेश का उल्लेख किया गया है।[2]

न केवल पस्त्यों के भौगोलिक प्रसंग का उद्घाटन इन मंत्रों के साक्ष्य से होता है, अपितु पस्त्यों से सम्बद्ध ऐतिहासिक परम्परा भी हमको उपलब्ध होती है। पस्त्यों के साथ पुरुमीढ सम्बद्ध है जैसा कि निम्नोक्त ऋचा से ज्ञात होता है—

"यद्ध त्यद्वां पुरुमीळहस्य सोमिनः प्र मित्रासो न दधिरे स्वाभुवः।
अथ क्रतुं विदतं गातुमर्चत उत श्रुतं वृषणा पस्त्यावतः"॥ ऋ० 1.151.2.

पुरुमीढ के सम्बन्ध में हमको पाँच और ऋचायें मिलती हैं।[3] ऋग्वेद 4.44.6 में इस पुरुमीढ का उल्लेख अजमीढ के साथ किया गया है।[4] ऋ० 4.42.10 की अनुक्रमणिका में पुरुमीढ को सौहोत्र कहा गया है—'क उ श्रवत्' इति सप्तर्चमेकादशं सूक्तम्। सुहोत्र-पुत्रौ पुरुमीळहाजवृषी। त्रिष्टुप छन्दः। अश्विनौ देवता। 'अत्रानुक्रमणिका—क उ श्रवस्सप्त पुरुमीळहाजमीळ हौ सौहोत्रौ त्वाश्विनं हि' इति। शौनक के बृहद्देवता में भी इस पुरुमीढ का उल्लेख किया गया है।[5] इस पुरुमीढ का उल्लेख अथर्ववेद में दो बार ऋषि के रूप में किया गया है।[6]

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि इस पुरुमीढ का उल्लेख पुराणों और महाभारत में भी किया गया है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि बृहत्क्षत्र के पुत्र सुहोत्र हुए तथा सुहोत्र

1. मैक्डॉनेल ऐण्ड कीथ—वेदिक इण्डेक्स, भाग 1, पृ० 170.
2. ताण्ड्यमहाब्राह्मण, 25.10.18.
3. ऋ० 1.183.5, 4.44.6, 5.61.9, 5.61.10 तथा 8.71.14.
4. "उभयेषु पुरुमीळहाजमीळहेषु अस्मे अस्मासु यत् यदा नरः नेतारः ऋत्विजः पुरुमीळहसंबन्धिनः वां युवयोः स्तोमं स्तोत्रम् आवन् अगमन् प्राप्ताः। तथा सधस्तुतिं सहस्तुतिम् आजमीळहाषसः अजमीळहसं बन्धिनोऽपि तैः सह अग्मन् अगमन्।" ऋ० 4.44.6. पर सायण-भाष्य।
5. बृहद्देवता 5, 61, 5.80.
6. अथर्ववेद 4.29.4, 18.3.15.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के पुत्र हस्ती हुए। हस्ती के अजमीढ़, द्विजमीढ और पुरुमीढ नामक तीन पुत्र हुए।[1] किन्तु महाभारत में पुरुमीढ को सुहोत्र का पौत्र न कहकर पुत्र ही कहा गया है। महाभारत के अनुसार ऐक्ष्वाकी ने राजा सुहोत्र से अजमीढ, सुमीढ तथा पुरुमीढ नामक पुत्रों को जन्म दिया।[2] पुराणों में अजमीढ और द्विजमीढ की वंशावली मिलती है किन्तु पुरुमीढ की नहीं। यह पुरुमीढ भी अपने वैदिक पुरुमीढ के अनुरूप ही सोहोत्र अथवा सुहोत्र और अजमीढ से सम्वद्ध हैं। महाभारत की परम्परा में पुरुमीढ को पुरुवंशीय बतलाया गया, जिनका राज्य हस्तिनापुर और कुरुक्षेत्र के चतुर्दिक सारस्वत घाटी में अवस्थित था। अतः वैदिक पुरुमीढ और पौराणिक पुरुमीढ की अभिन्नता निश्चित ही है। कालक्रम के निर्धारण के लिए यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि पुराणों में यह वर्णित है कि पुरुमीढ के पिता हस्ती ने हस्तिनापुर को बसाया। पौराणिक साक्ष्य के अनुसार पुरुमीढ की तिथि 1700-1600 ई० पू० के लगभग आती है।

विष्णु, वायु आदि पुराणों में परीक्षित के जन्म से नन्द के अभिषेक के बीच 1050 वर्षों का अन्तराल बतलाया गया है। इस गणना के अनुसार परीक्षित का जन्म 1050+328=1378 ई० पू० में हुआ। इस परीक्षित के तेरह पीढ़ी पहले कुरु हुआ जिसने पुराणों के अनुसार कुरुक्षेत्र बसाया। सोलह पीढ़ी पहले अजमीढ हुआ जो वेदोक्त पुरुमीढ का भाई था और सत्रह पीढ़ी पहले हस्ती हुआ, जिसने हस्तिनापुर बसाया। अतः पुरुमीढ और हस्ती का समय 1700 ई० पू० के लगभग होता है। इसकी पुष्टि पुरातात्त्विक साक्ष्य से भी होती है। हस्तिनापुर के जन-सन्निवेश के निम्नतम स्तर से गैरिक रंग के मृद्भाण्ड (ओ०सी०पी०) प्राप्त हुए हैं, जिनकी ताप-संदीप्तिक (Thermo-luminiscence) तिथि 1800 ई० पू० से 1400 ई० पू० के मध्य मानी गई है।[3]

---

1. 'बृहत्क्षत्रस्य सुहोत्रः। सुहोत्राद्धस्ती। अजमीढाद्विजमीढपुरुमीढास्त्रयो हस्तिनस्तनयाः।। विष्णुपुराण 4.19.27-29

2. "ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात् पृथिवीपतेः।
अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत।।" आदिपर्व 94.30.

3. (अ) धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल—पूर्वोक्त, पृ० 187.

(ब) ऑक्सफोर्ड पुरातत्त्व अनुसंधान प्रयोगशाला के डॉ० हक्सटेबल द्वारा गैरिक मृद्भाण्ड की ताप-संदीप्तिक तिथियाँ—धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल की भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व के पृष्ठ संख्या 113-14 पर उद्धृत।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह सुखद आश्चर्य का विषय है कि पस्त्य-संस्कृति का काल और प्रदेश-विस्तार इन गैरिक रंग के मृद्भाण्डों के काल और प्रदेश-विस्तार से मिलता-जुलता है । इन गैरिक रंग के मृद्भाण्डों की सर्वाधिक विशेषता है इनका 'भुरभुरापन' अथवा 'शीर्ण-लक्षण' । पुरातत्त्वविदों के अनुसार इस शीर्णता का कारण है जलाक्रमण अथवा जललग्नता और वातातप प्रभाव ।

जैसा हमने पहले विचार किया है पस्त्य गोचारकों का एक ऐसा अल्पकालिक गृह-सन्निवेश था, जिसमें वे अपने पशुओं के लिए घास एवं पानी की उपलब्धता के अनुसार कुछ दिनों तक निवास करते थे और घास तथा पानी की समाप्ति के बाद वे किसी अन्य स्थान पर चले जाते थे, जहाँ उनके पशुओं के लिए घास और पानी सहज ही सुलभ हो सके । निश्चय ही वे इस प्रक्रिया में अपने टूटे हुए मृद्भाण्डों को भूमि पर छोड़ देते होंगे और गृह-निर्माण के साधनों को अपने साथ उठा ले जाते होंगे । भूमि पर बहुत दिनों तक पड़े रहने के कारण ही इन मृद्भाण्डों में शीर्णता आ गई होगी—ऐसा अनुमान किया जा सकता है । यह अभी केवल एक सम्भावना मात्र है, सिद्धान्त नहीं, किन्तु भविष्य में यदि इसकी पुष्टि के साक्ष्य उपलब्ध हुए—यदि गैरिक मृद्भाण्ड और पस्त्यों का सम्बन्ध स्थिर हो सका, तो एक नवीन आयाम और दिशा का उद्घाटन हो सकेगा ।

व्रज और वृजन

मनुष्य के यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास तक की विभिन्न स्थितियों को समझने के लिए उपयोगी शब्दों में 'व्रज' और 'वृजन' शब्द भी हैं । 'व्रज' की व्युत्पत्ति व्रज् धातु (गतौ) से हुई है । 'वृजन' शब्द की व्युत्पत्ति वृज् धातु (वर्जने) से हुई है । किन्तु ये दोनों शब्द मूलतः एक ही प्रतीत होते हैं । प्रारम्भ में संचरण का भाव था । उससे विकसित हुए अर्थ निवास थे और फिर ऐसे निवास जिनमें अन्य का प्रवेश वर्जित हो ।

भारोपीय भाषाओं में भी वृजन के सगोत्रीय शब्द मिलते हैं—यथा संस्कृत वृजन (आवृत स्थान), प्राचीन पारसीक वर्दन[1] (कस्बा), व़ॅरॅज़ॅन (अवेस्ता), वॅरॅज़ॉन (खोर्द-अवेस्ता) जिसका अर्थ समुदाय अथवा समूह होता है । ये शब्द यूनानी 'एर्गो' के समानार्थी प्रतीत होते हैं । अनुवर्ती अवेस्ता का 'वॅरॅज़ॉन' शब्द सम्भवतः अवेस्ता के धातु रूप 'वर्ज' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है अलग करना अथवा प्रवाह रोकना ।[2] ऐसा

1. 'जाज़ान नाम वर्दनम् अनुव् उफ़ातुवा अवदा होव्'
वेहिस्तून अभिलेख, प्रथम पटल, पंक्ति 92.

2. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 19.15.7.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इस शब्द का तात्पर्य किसी आवृत स्थान से था और कालान्तर में इसका प्रयोग उस आवृत स्थान में रहने वाले मनुष्यों अथवा जन-समूह के अर्थ में होने लगा । इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि प्राचीन पारसीक भाषा का 'वर्दन' शब्द संस्कृत भाषा के 'वर्धन' शब्द का समानार्थक है, जिसका प्रयोग आज नगरों के नाम के साथ किया जाता है—यथा पुण्ड्रवर्धन आदि ।[1] श्री आर०ए० हल्ल ने 'वर्दन' शब्द की व्युत्पत्ति प्राचीन आंग्ल भाषा के 'वर्दोन' शब्द से बतलाई है, जिसका अर्थ देख-रेख करना, चौकीदारी करना तथा रक्षा करना होता है ।[2] इसी वर्दोन शब्द से अंग्रेजी भाषा का 'वार्डेन' शब्द निकला है जिसका हिन्दी रूपान्तर अभिरक्षक है, जिसमें रक्षा करने अथवा देख-रेख करने का भाव निहित है ।

वॅरॅज़ॅन शब्द के अर्थ और अर्थ-विकास के लिए अवेस्ता के साक्ष्य का अत्यधिक महत्त्व है । इसलिए किंचित् विस्तार के साथ इसका विवेचन अपेक्षित है । अवेस्ता में यायावरों का उल्लेख है और उनको अवास्त्र्य कहा गया है—"नोइत् मज़्दा अवास्त्र्यो दवांस्चिना हुमॅरॅतोइश् वक्ता" (यस्न 31.10)—हे मज़्दा अवास्त्र्य—जिसके पास वास्त्र्य अर्थात् खेत-युक्त चरागाह न हो वे शुभकर्म के भागीदार न हों । यहाँ अवास्त्र्य का विशेषण दवांस्चिना है, जिसका अर्थ नेरयोसिंग ने प्रतारण करना बतलाया है और जो यायावरों के प्रति दुर्भावना का द्योतन करता है । इसके विपरीत यस्न 31.9 में वास्त्र्य अर्थात् कृषक को शुभकर्म से युक्त बतलाया गया है ।

निवास के लिए कई शब्द हैं, जिनमें क्षथ्रं म्चा और वॅरॅज़ॅन प्रमुख हैं । वॅरॅजॅन का अर्थ निवास, ग्राम तथा वॅरॅज़ॅन्य का अर्थ ग्रामनिवासी आदि के रूप में क्रमशः विकसित हुए—"अषह्या वॅरॅज़ॅने कह्माइचीत् हा ताँम् जीजिषाँम्" (यस्न 35.8)—धर्मशासन के आश्रम में वॅरॅज़ॅन में रहने वाले जीवन के योग्य प्राणियों की । यहाँ वॅरॅज़ॅन का अर्थ निवास प्रतीत होता है । "ख्वअेतू वा अत् वा वॅरॅज़ॅन्यो अइर्यम्ना" (यस्न 33.3)—चाहे शासक हो, चाहे ग्राम्य श्रमिक हो और चाहे अर्य (स्वामी) हो—यहाँ वॅरॅज़ॅन्य का अर्थ ग्राम्य कृषक अथवा ग्राम्य श्रमिक है । "मज़्दो क्षथ्रा वॅरॅज़ॅन्यो द्यात् अहुरो" (यस्न—45.9)—अहुरमज़्दा वॅरॅजॅन्य क्षथ्र को लायें—यहां वॅरॅज़ॅन्य क्षथ्र की तुलना 'वृजनस्य गोपा' (ऋ० 1.91.21) तथा 'वृजनस्य राजा' (ऋ० 9.97.23) से की जा सकती है और इसका निष्कर्ष होगा कि वृजन और वॅरॅज़ॅन प्रायः समानार्थक

1. तत्रैव
2. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, पृ० 1309 पर उद्धृत ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शब्द हैं। इस प्रसंग में अवेस्ता के विद्वान् हर्मेन लोमेल का निम्नोक्त कथन विचारणीय है :—

"The word *Varzāna* means, as Andreas has taught for some time, the tribal confederacy which has its settlement in the tribal village; *Varzāna* means also the settlement itself. This explanation leads to a correct text interpretation in most cases of the Vedic *Vṛjana* as well, and it is not necessary to adopt the complicated varieties of meaning for the word which, for instance, Geldner assumes in his Rig-veda Glossary. In Vedic Sanskrit we do not find an adjective *Vṛjanya*—corresponding to our *Varzānya*, but the Vedic word which occasionally occurs in this form is identical in meaning with *Vṛjana*—*Vṛjanasya rājā* RV. 9–97–23. Instead of a possessive adjective the genitive is used in Rig-veda and God as the protector of the community or ruler over the village is called *Vṛjanasya gopā* or *Vṛjanasya rājā*."[1]

वॅरॅज़ॅन का पुनः विकास हुआ जिसका साक्ष्य हाख़ामनी अभिलेखों में उपलब्ध होता है। दारयवौस् अपने बेह्स्तून अभिलेख में कई वॅरॅज़ॅनों का उल्लेख करता है[2]—"झ़ज़ान नाम वर्दनम्" (डी० बी० 1.92), "कुद्रुस नाम वर्दनम्" (डी० बी० 2, 65-66) तथा "विसॅपौजातिस नाम वर्दनम्" (डी० बी० 2, 95)। यहाँ वर्दन का अर्थ ग्राम के स्थान पर नगर हो गया।

ग्राम के लिए इन अभिलेखों में आवहन शब्द मिलता है[3]—उदाहरणार्थ "जुझाह्य नाम आवहनं" (दारयवौस् का सूसा अभिलेख, पंक्ति—46)।

संस्कृत की 'व्रज्' धातु से व्युत्पन्न 'व्रज' शब्द का उल्लेख प्रथमतः गोष्ठ के अर्थ में किया गया है, जहाँ पशु निवास करने के लिए जाते हैं।[4] "याद्राध्यं वरुणो योनिमप्यमनिशितं

1. ओरियण्टल स्टडीज, पृ० 284.
2. रॉलैण्ड जी० केण्ट—ओल्ड परशियन, पृ० 117-18.
3. तत्रैव, पृ० 143.
4. यहाँ मनुस्मृति 4.45 तथा महाभारत 1.41.15 में प्रयुक्त 'गोव्रज' शब्द ध्यातव्य है, जिसका अर्थ गोष्ठ है। महाभारत के 1.40.17 में प्रयुक्त 'गवां प्रचार' का अर्थ भी गायों के रहने का स्थान है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निमिषि जर्भुराणः । विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः'' ऋ० 2.38.8 में सायण ने 'व्रज' का अर्थ 'गोष्ठं' किया है । इस ऋचा का अर्थ है कि 'सविता के अस्त होने पर सदा गमनशील वरुण सारे जंगम पदार्थों को सुखकर, वांछनीय और सुगम निवास-स्थान प्रदान करते हैं । जिस समय सविता सारे भूतों को स्थान-स्थान पर अलग-अलग कर देते हैं, उस समय पशु-पक्षिगण भी अपने-अपने स्थान को जाते हैं । इसी प्रकार ''स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा । अभिप्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति ।।'' ऋ० 10.26.3 में प्रयुक्त 'व्रजं' का अर्थ सायण ने गोष्ठ किया है । इस ऋचा में कहा गया है कि पूषा हमारे 'व्रज' (गोष्ठ) को जल से सींचते हैं ।

'व्रज' का दूसरा अर्थ गोचर भूमि बतलाया गया है, जहाँ दूध देने वाले पशु तो प्रातः ही ग्राम से चले जाते हैं, और अन्य पशु दिन-रात ग्राम में ही रुक जाते हैं ।[1] गेल्डनर ने 'व्रज' शब्द का अर्थ पशु-समूह बतलाया है ।[2] ऋ० 4.20.8 में भी 'गोनाम व्रजम्' का उल्लेख किया गया है । सायण ने इसका अर्थ 'गवां समूहम्' किया है । किन्तु रॉथ ने इसका अर्थ घेरा किया है ।[3] ऋ० 8.5.5 में 'गोमति व्रजे' का अर्थ सायण ने ''गवोपेते गजाश्वादिपशुसमूहे'' किया है ।

ऋग्वेद की एक ऋचा—''श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम् । परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्'' ऋ० 10.179.2=अथर्व० 7.72.2 में प्रयुक्त 'व्राजपतिं' का अर्थ सायण ने 'व्राजा गन्तव्या गृहाः तेषां पतिं' किया है । इसमें कहा गया कि इन्द्र के मित्र उसकी उसी प्रकार प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार इतस्ततः विचरण करने वाले व्राजपति (गृहपति) की प्रतीक्षा कुलपा (कुल की रक्षा करने वाले) करते हैं । ज़िमर ने 'कुलपा' का अर्थ परिवारों का मुख्य और 'व्राजपति' का अर्थ ग्रामणी माना है । उसके अनुसार युद्ध में परिवारों के अध्यक्ष ग्रामणी के अधीन होकर संघर्ष करते थे ।[4] ह्विटने ने 'व्राजपति' का अर्थ जन-जाति का प्रमुख बतलाया है, जिसे उस जन-जाति के मुख्य लोग घेर कर बैठते हैं ।[5] 'व्राज' का एकाकी प्रयोग अथर्ववेद में सैनिक टुकड़ी के प्रसंग में क्रियाविशेषण के रूप में हुआ है ।[6]

1. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 340.
2. तत्रैव
3. तत्रैव
4. वही, 2, पृ० 341.
5. तत्रैव
6. अथर्ववेद 1.16.1 (वेदिक इण्डेक्स, भाग 2 पृ० 341 पर उद्धृत) ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'वृजन' शब्द का अर्थ विभिन्न रूपों में विकसित हुआ। इसका प्रारंभिक अर्थ गोष्ठ अथवा पशुओं के लिए बनाया हुआ घेरा अथवा बाड़ा था, जो सम्भवतः द्वार-विहीन होता था, जिसके कारण दूध देने वाली गायों के भाग जाने की सम्भावना बनी रहती थी। इसीलिए "तमा नूनं वृजनमन्यथाचिच्छूरो यच्छक्रविदुरो गृणीषे। मा निररं शुक्रदुघस्य धेनोराङ्गिरसान्ब्रह्मणा विप्र जिन्व"।। ऋ० 6.35.5; यहाँ इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे 'वृजन' को 'अन्यथाचित्' भिन्न प्रकार का बनावें, जिसमें 'विदुर'—अच्छे-अच्छे द्वार हों ताकि जिससे दूध देने वाली धेनु-समूह 'मा निररं'—भाग न जायँ। ऋग्वेद के कई मंत्रों में वृजन के प्रकारों का उल्लेख किया गया है। यथा ऋ० 5.44.1 में 'प्रतीचीनं व्रजनं' का उल्लेख 'प्राचीन वृजन' के अर्थ में हुआ है। "यद्वा मरुत्वः परमे सधस्थे यद्वावमे वृजने मादयासे। अत आ याह्यध्वरं नो अच्छात्वाया हविश्चकृमा सत्यराधः।।" ऋ० 1.101.8 में प्रयुक्त 'अवम वृजन' (अर्वाचीन वृजन) प्राचीन वृजन से सर्वथा भिन्न था। इस ऋचा में मरुत् तथा इन्द्र से नवनिर्मित वृजन में आने की प्रार्थना की गई है। ऋ० 2.24.11 में 'अवरे वृजने' का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ सायण ने 'निकृष्ट वृजने' किया है। इसी प्रकार अन्यत्र एक 'मानुष-वृजन'[1] का उल्लेख किया गया है जो पशु-वृजन से भिन्न था।

ऋग्वेद की कई ऋचाओं में 'वृजन' शब्द का प्रयोग निवास के अर्थ में किया गया है। "गोषु जानन् वृषभो वृजने तिष्ठति" ऋ० 9.96.7 में प्रयुक्त 'वृजन' शब्द का अर्थ निवास ही है। इसका अर्थ है कि गायों को जानता हुआ वृषभ वृजन में बैठता है। ऋ० 1.164.9. में वृजन के सम्बन्ध में एक पहेली का उल्लेख इस प्रकार किया गया है— "वृजनीषु अन्तः गर्भः अतिष्ठत् अनु विश्वरुप्यं गाम् अपश्यत्"। इसका अर्थ है कि जैसे गर्भ से वस्तुयें बाहर आ जाती हैं, उसी प्रकार वृजनी (पशुओं के निवास) से गायें बाहर आ जाती हैं। इसी प्रकार "प्रभुञ्जती सूनरी उषा योषेव वृजनं यान्ति" ऋ० 1.48.5 में कहा गया है कि जिस प्रकार गृहपत्नी वृजन में आती है, उसी प्रकार सबका पालन करने वाली उषा संसार में आती है। अन्यत्र 'यज्ञमन्मा वृजनं तिराते' ऋ० 7.61.4 में वृजन (निवास) के विकास की अभ्यर्थना की गई है। एक अन्य ऋचा "वृजने मानुषासः

---

1. "स मानुषे वृजने शंतमो हितोऽग्निर्यज्ञेषुजेन्यो
   न विश्पतिः प्रियो यज्ञेषु विश्पतिः।
   स हव्या मानुषाणामिळा कृतानि पत्यते
   स नस्त्रासते वरुणस्य धूर्तेर्महो देवस्य धूर्तेः।।" ऋ० 1.128.7.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आयवो जीजनन्त" ऋ० 1.60.3 में कहा गया है कि वृजन में पुत्र उत्पन्न हों। वृजन के विकास का अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख ऋ० 1.173.6 में किया गया है। इसमें कहा गया है कि वृजन में समस्त भूमि समाहित है और आकाश उसके सिर का आभरण है।

ऋग्वेद के कई मंत्रों में 'वृजन' शब्द का प्रयोग समूह के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद 1.166.14 में 'अप्सां सुक्षितिं' के साथ 'वृजनस्य गोपा' का उल्लेख किया गया। स्पष्टतः यहाँ वृजन शब्द का अर्थ समूह ही है। 'सत्यमन्मा देवो क्रत्वा विश्वा वृजनानि निपाति' ऋ० 1.73.2 में कहा गया है कि 'सत्यमति देव अपने कर्मों से सम्पूर्ण वृजनों की रक्षा करते हैं'। "स मानुषे वृजने शंतमो हितो इग्निर्यज्ञेषु जेन्यो न विश्पतिः प्रियो यज्ञेषु विश्पतिः। स हव्या मानुषाणामिळा कृतानि पत्यते स नस्त्रासते वरुणस्य धूर्तेर्महो देवस्य धूर्तेः" ॥ ऋ० 1.128.7 में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि यज्ञ में सुखकारी होता है, उसी प्रकार मनुष्यों के वृजन में विश्पति सुखकारी होता है। यहाँ वृजन का अर्थ निवास गृहों के समूह से है। ऋग्वेद में वृजन शब्द का चौथा अर्थ सेना अथवा संग्राम भी किया गया है।

'गोभिष्टरेमामतिं' दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजमिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥

(ऋ० 10.42.10, 10.43.10, 10.44.10) में पुरुहूत से प्रार्थना की गयी है कि हम गायों से दुःखदायी बुद्धि (दरिद्रता), यव से भूख, राजाओं के माध्यम से धन और वृजन (सेना) से जय प्राप्त करें। "एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभिष्याम वृजने सर्ववीराः' ऋ० 1.105.19 में कहा गया है कि हम सब मनुष्य घोष करते हुए 'वृजन' में जावें। इस ऋचा में प्रयुक्त 'वृजने' शब्द का अर्थ सायण ने 'संग्रामे' किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए लोग जयघोष करते हुए संग्राम में जाते थे।

"इदं नमो वृषभाय स्वराजे सत्यशुष्माय तवसेऽवाचि।
अस्मिन्निन्द्र वृजने सर्ववीराः स्मत्सूरिभिस्तव शर्मन्त्स्याम्॥" ऋ० 1.51.15.

सायण ने इस ऋचा में प्रयुक्त 'अस्मिन् वृजने सर्ववीराः' का अर्थ किया है 'अस्मिन् वर्जनवति संग्रामे सर्ववीराः'। इस ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हम इस युद्ध में समस्त वीरों द्वारा युक्त होकर आप द्वारा दिये हुए शोभनीय गृह में विद्वानों अथवा पुत्रों के साथ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निवास करें । इसी प्रकार "दुरोध्यो अशिवासो अज्ञाता वृजना मा अवक्रमुः" ऋ० 7.32.27 में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि ऐसे अज्ञात अशिव वृजन जिन्हें पराजित नहीं किया जा सकता है, हमें परास्त न करें। ऋग्वेद की ऋचा "एष वः स्तोमों मरुतः इयं गीर्मान्दिार्यस्य मान्यस्य कारोः। एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥" 'ऋ० 1.165.15 इस ऋचा में प्रयुक्त 'वृजनं जीरदानुम्' का अर्थ सायण ने 'वलं जयशीलदानम्' किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस ऋचा का उल्लेख ऋग्वेद में चार स्थानों[1] पर हुआ है और इन सभी स्थानों पर 'वृजनं' का अर्थ बल अथवा सेना ही है। इसमें मरुत से प्रार्थना की गई है कि हम अन्न, दीर्घायु के साथ बल को प्राप्त करें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'वृजन' शब्द का अर्थ-विकास, घेरा, गोष्ठ, निवास, निवास-समूह, ऐसे निवास गृहों में रहने वाले निवासियों का समूह तथा सेना अथवा संग्राम के रूप में हुआ। रॉथ[2] ने भी ऋग्वेद में प्रयुक्त 'वृजन' शब्द का अर्थ निवास या ग्राम और उसमें रहने वाले लोगों का समूह किया है। ज़िमर ने भी वृजन का अर्थ सुरक्षित निवास (क्षिति ध्रुवा) किया है, जहाँ जन-जाति के लोग रहते थे।[3]

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास के बीच गोचारण की स्थिति रही होगी। इस स्थिति में सामान्य जन-समुदाय गोचारण कराते हुए पशुओं के लिए निर्मित घेरों अथवा गोष्ठों में निवास करता होगा। कालान्तर में उसने अपने लिए अलग 'वृजन' (निवास) का निर्माण किया, जिसकी संख्या बढ़ जाने पर 'वृजन' शब्द का अर्थ 'निवास-समूह' तथा इन निवासों में रहने वाले लोगों का समूह हो गया और अन्ततोगत्वा उस शब्द का अर्थ संख्या के आधार पर ही संग्राम अथवा सेना हो गया ।

वृजन-निवासी अपने तथा अपने पशुओं आदि की रक्षा के प्रति सतर्क रहते थे। वृजन की रक्षा का भार प्रारम्भ में गोपा के ऊपर था। 'गोपा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के गुप् धातु=रक्षणे से हुई है।[4] अतः गोवंश के रक्षण कार्य में लगे रहने के कारण ही गोपा शब्द का प्रारम्भिक अर्थ-विकास गोचारक अथवा 'गोपाल' (गोवंश का पालन

---

1. ऋ० 1.165.15, 1.166.15, 1.167.11, 1.168.10.
2. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 320.
3. तत्रैव
4. वेदिक इण्डेक्स, भाग 1, पृ० 233.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करने वाला) के रूप में हुआ ।[1] ऋग्वेद की कई ऋचाओं में 'वृजन' के साथ गोपा शब्द का उल्लेख किया गया है :—"मरुत्स्तोत्रस्य वृजनस्य गोपा वयमिन्द्रेण सनुयाम वाजम् । तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुपृथिवी उत द्यौः" (ऋ० 1, 101.11) । इस ऋचा में शत्रु-हन्ता इन्द्र को 'वृजनस्य गोपा', वृजन की रक्षा करने वाला कहा गया है तथा उससे रक्षित होकर अन्न की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है । ऋग्वेद 1.91.21 में भी 'वृजनस्य गोपाम्' का उल्लेख किया गया है । सायण ने इसका अर्थ 'वृजनस्य गोपयितारं रक्षितारं" किया है । इस ऋचा में सोम को युद्ध में अजेय, सेना के बीच विजयी, स्वर्ग के प्रापयिता, यज्ञ में अवस्थाता, सुन्दर निवास और यश से युक्त, जयशील तथा बल का रक्षक कहा गया है । अपनी रक्षा तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए ये वृजन-निवासी आयुधों से युक्त रहने लगे । इसीलिए कालान्तर में 'वृजन' शब्द का अर्थ-विकास सेना अथवा संग्राम के रूप में हुआ जिसके रक्षक एवं संचालक को गोपा के नाम से अभिहित किया गया ।

वृजन के स्वरूप में क्रमशः विकास हुआ । जैसा पहले कहा गया है कि प्रारम्भ में वृजन शब्द का तात्पर्य पशुओं के लिए निर्मित होने वाले द्वार-विहीन घेरा से था, जहाँ से दूध देने वाली गायों के भाग जाने की सम्भावना बराबर बनी रहती थी । इसीलिए ऋग्वेद 6.35.5 में इन्द्र से प्रार्थना की गई कि वे 'वृजन' को 'अन्यथाचित्'—भिन्न प्रकार का—बनावें जिसमें 'विदुर'—अच्छे-अच्छे द्वार हों ताकि दूध देने वाली धेनु-समूह 'मा निररं'—भाग न जाँय । इतना ही नहीं वरन् कालान्तर में 'वृजन', निवास-समूह का इतना अधिक विस्तार हुआ कि सम्पूर्ण पृथिवी उसमें समाहित होने लगी तथा आकाश उसका आभरण प्रतीत होने लगा ।[2] परिणामतः ऐसे वृजन के स्वामी, रक्षक अथवा पालक के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ । प्रारम्भ में जहाँ वृजन के रक्षक को मात्र 'गोपा' (गोवंश की रक्षा करने वाला अथवा गोवंश का पालन करने वाला) कहा गया वहीं अब उसको विश्पति, स्वराट् तथा राजा आदि शब्दों से अभिहित किया गया । 'विश्पति' शब्द का उल्लेख अधिकांश स्थलों पर निवास के स्वामी के अर्थ में किया गया है ।[3] ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है कि वृजन में विश्पति उसी प्रकार सुखकारी होता है, जिस प्रकार यज्ञ में अग्नि सुखकारी होता है ।[4] वैदिक साहित्य में अन्यत्र 'विश्पति' शब्द का

1. वही, पृ० 232.
2. ऋग्वेद 1.173.6.
3. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 308.
4. ऋग्वेद, 1.128.7.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्थ प्रजा-जनों का स्वामी[1] बतलाया गया है ।[2] अथर्ववेद में भी 'विशांपति' का उल्लेख है ।[3] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'विश्पति न केवल वृजन (निवास) वरन् उसमें निवास करने वाले लोगों का भी रक्षण तथा पालन करता था ।

वृजन के रक्षक, पालक अथवा शासक के रूप में राजा का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है । "इन्दुर्वाजी पवते गोन्योधा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय । हन्ति रक्षो वाधते पर्यरातीर्वरिवः कृण्वन् वृजनस्य राजा" ऋ० 9, 97.10 में सोम को 'वृजन' के राजा के रूप में शत्रुओं का संहार करने वाला तथा वरणीय धन को प्रदान करने वाला कहा गया है । प्रसंग से यहाँ राजा वृजन का सेनानायक प्रतीत होता है जो शत्रुओं का संहार करते हुए उनकी सम्पत्ति का अपहरण करता है तथा उसको अपने प्रजा-जन में वितरित करता है ।

इसी प्रकार ऋग्वेद 1.51.15 में 'वृजने स्वराजे' का उल्लेख किया गया है । इस ऋचा में इन्द्र से कहा गया है कि तुम अपने तेज से स्वराज करते हो । वैदिक साहित्य में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग स्वयं शासक के अर्थ में अनेकत्र हुआ है ।[4] ऐतरेय ब्राह्मण में इस शब्द का प्रयोग पश्चिम भारत के शासकों के लिए किया गया है ।[5] अतः यहाँ वृजनों की स्वायत्त शासन-प्रणाली की ओर संकेत मिलता है ।

---

1. "दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः ।
   ऋक्वाणो अग्निमिन्धते होतारं विश्पतिं विशाम् ।।" ऋ० 3.13.5. में प्रयुक्त 'विश्पतिम्' शब्द द्रष्टव्य है, जिसका अर्थ सायण ने 'प्रजानामतिशयन पालयितारं" किया है । यहाँ ऋ० 7.39.2 में प्रयुक्त 'विश्पतिम्' तुलनीय है, जिसका अर्थ प्रजापालक है ।
2. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 308.
3. (अ) आ त्वा मन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ विशांपति रेकराट् त्वं विराज" ।
   अथर्ववेद 3.4.1.

   (ब) "अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विश्पतिरस्तु राजा ।
   अस्मिन्निन्द्र महिवर्चांसि धेह्यवर्चसं शत्रुमस्य ।।"
   अथर्ववेद 4.22.3.
4. ऋ० 1.92.5, 1.162.9, तथा 3.8.6 आदि । अथर्ववेद 4.24.4, 12.1.13 आदि । (वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 494 पर उद्धृत) ।
5. ऐतरेय-ब्रा० 2.3.8, तै०सं० 5.5.7.1, 6.3.4.9 आदि । शत० ब्रा० 3.7.1, 22.3.8.1.5 आदि । (वेदिक इण्डेक्स भाग 2, पृ०494 पर उद्धृत)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुहा-निवास :——यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास के मध्य की विभिन्न स्थितियों में गुहा-निवास की भी एक स्थिति थी। ऋग्वेद में 'गोह',[1] 'गुहा-क्षय'[2] तथा 'गुहा-सदन'[3] के उल्लेख से इस प्रसंग में रोचक प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में इन शब्दों का प्रयोग निवास के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद में इन गुहाओं की भौगोलिक स्थिति, उनके निर्माण, उनके द्वार तथा उनमें निवास करने वाले मनष्यों एवं पशुओं के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। एक मंत्र से स्पष्ट होता है कि गुहायें लता-कण्टकों से 'परिवीत' होती थीं तथा उनके द्वार विशाल पाषाण-खण्डों से आवृत होते थे। ऐसे 'परिवीत-गुहाओं' में निधियों की स्थापना की जाती थी।[4] ऐसी गुहाओं में गो-समूह के निवास की भी हमें सूचना मिलती है।[5] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि बैल समान नीळ (निवास) में रहने वाले महिष और घोड़ियों के साथ-साथ जाता है। कविगण अपने ऋत पद की रक्षा करते हैं तथा गुहा जल को धारण करती है।[6] कविगण गुहा में निवास करते थे। बैल, महिष तथा घोड़ियों आदि पशुओं के लिए समान नीळ होते थे। इन गुहाओं की स्थिति जल के समीप होती थी, जहाँ से गुहा-निवासी मनुष्यों तथा पशुओं को सुगमता से पेय जल की प्राप्ति होती थी। एक अन्य मंत्र से ज्ञात होता है कि गुहा में निवास करने वाले पशुओं के प्रियस्थान—गोचरभूमि गुहा के समीप ही स्थित होती थी।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि गुहा में निवास करने वाले पशु दिन में अपने प्रियस्थान—गोचरभूमि में जाया करते थे। कभी-कभी लोग गायों के पद-चिह्नों को देखकर उनके गुहा-निवास तक पहुँच जाते थे।[8] इतना ही

---

1. ऋ० 4.21.7.
2. "कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते।
   ऋषीणां वा यः क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा॥" ऋ० 10.22.1.
3. "वृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
   आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥ ऋ० 10.68.7.
4. "अविन्ददिवो निहितं गुहा निधिं वेर्न गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि। व्रजं वज्री गवामिवसिषासन्नङ्गिरस्तमः। अपावृणोदिष इन्द्रः परीवृता द्वार इषः परीवृताः।"
   ऋ० 1.130.3,
5. ऋ० 1.130.3.
6. "समानं नीळं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः।
   ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि।" ऋ० 10.5.2.
7. ऋ० 10.67.4 तथा 10.68.7.
8. ऋ० 10.46.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नहीं वरन् वे कभी-कभी चोरों को ढूँढ़ते हुए भी गुहा में स्थित गायों तक पहुँच जाते थे ।[1] पणियों द्वारा गो-समूह को चुरा कर गुहा में स्थापित करने का आख्यान ऋग्वेद में उल्लिखित है ।[2]

'गुहा सदन' में गायों के निवास की स्थिति की सूचना हमें ऋग्वेद के अन्य मंत्रों से भी मिलती है ।[3] ऋग्वेद 10.68.7 में कहा गया है कि बृहस्पति ने गुहा-सदन से स्वर करती हुई निकलने वाली गायों का ज्ञान प्राप्त किया । पर्वत से गायें उसी प्रकार निकलती हैं जिस प्रकार अण्डों से पक्षी निकलते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार के लोग गुहा में निवास करते थे । ऋषिगण अपने 'गुहा-क्षय' में निवास करते थे ।[4] एक ऋचा से गुहा में प्रज्वलित अग्नि की स्थिति की सूचना मिलती है ।[5] अन्यत्र 'दास वर्णमधरं गुहाकः' का उल्लेख किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि दास तथा असुर लोग भी गुहा में निवास करते थे ।[6] गुहा में अनार्यों का निवास एक अन्य ऋचा से भी प्रमाणित होता है ।[7] एक दूसरे मंत्र से गुहा में मायावियों के निवास का प्रमाण मिलता है ।[8] इसमें इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह अपने अस्त्र, वज्र से मायावियों की गुहा का नाश करें । अन्यत्र अरण्य-जनित अग्नि के दाह से बचने के लिए अरण्य को छोड़कर गुहा में निवास करने की बात कही गई है ।[9] ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी आपदाओं के कारण लोग अरण्य को छोड़कर गुहा में निवास करना श्रेयस्कर समझते थे । ऋग्वेद के दूसरे मंत्र से 'मानुषी विशः'—सामान्य-जन के गुहा में

---

1. ऋ० 1.65.1.
2. ऋ० 2.24.6, 4.21.7, 8.14.8, 10.67.4 तथा 10.68.7.
3. ऋ० 10.67.4, 10.68.7.
4. ऋ० 10.22.1.
5. ऋ० 3.5.11.
6. "येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
   श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ।। ऋ० 2.12.4.
7. ऋ० 10.124.2.
8. ऋ० 2.11.5.
9. "तं शश्वतीषु मातृषु वन आ वीतमश्रितम् ।
   चित्रं सन्तं गुहा हितं सुवेदं कूचिदर्थिनम् ।।"
   ऋ० 4.7.6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निवास करने की बात प्रमाणित होती है ।[1] किन्तु गुहा-निवास भी सर्वथा निरापद न था । गुहा से चोरी होने की सूचना ऋग्वेद से उपलब्ध होती है ।[2]

उपर्युक्त विवरण से हमें यायावरीय-जीवन और ध्रुवाक्षिति—भूमि पर निवास के मध्य गुहा-निवास का ज्ञान होता है । यह स्थिति क्षेम-निवास के समान ही गोचारण-जीवन की स्थिति थी । इस जीवन में लोग उन गुहाओं में निवास करते थे जो जल के समीप स्थित होती थीं । इन गुहाओं के समीप ही पशुओं का निवास तथा गोचर भूमि स्थित होती थीं । पशु-समूह गोचरभूमि में चरते थे तथा समीप में स्थित जल का पान करते थे । इनकी गुहायें लता-कण्टकों से परिवीत होती थीं तथा उनके द्वार विस्तृत पाषाण-खण्डों से आवृत होते थे । इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आज भी यायावरीय जीवन यापन करने वाले लोग अपने अल्पकालिक एवं अस्थायी गृहों के द्वारों को किसी न किसी वस्तु से आवृत करते हैं ।

अरण्य-निवास

यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास के मध्य की विभिन्न स्थितियों में अरण्य-निवास की भी एक स्थिति थी । वैदिक साहित्य में अरण्य को अमा (गृह)[3], ग्राम[4] तथा कृषि[5] से भिन्न बतलाया गया है । अरण्य को मनुष्य से तिस्स् (पृथक्) कहा गया है ।[6]

अरण्य में त्रिविध जीवन-पद्धतियों का उल्लेख मिलता है । प्रथमतः, अरण्य में ऐसे जनों का वास था, जो मूलतः मृगया पर ही अवलम्बित थे । परवर्ती संहिताओं[7] तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'मृगयु' शब्द का उल्लेख किया गया है । वाजसनेयी संहिता[8] तथा तैत्तिरीय

1. ऋ० 5.8.3.
2. ऋ० 5.15.5.
3. ऋ० 6.24.10.
4. ऋ० 1.163.11, 10.146.1, अथर्ववेद 12.1.56, वाज० सं० 3.45, 20.17.
5. अथर्व० 2.4.5.
6. शत० ब्रा० 13.6.2.20.
7. अथर्व० 10.1.26, वाज० सं० 16.27, 30.7. इस प्रसंग में 'मृगयुरु' शब्द (ऋ० 10.4.4) तु० है ।
8. वाज० सं० 30.7.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ब्राह्मण[1] में पुरुषमेध यज्ञ के प्रसंग में उन लोगों के नामों का उल्लेख किया गया है, जो मछली मारकर अथवा मृगया द्वारा अपना जीवन यापन करते थे —उदाहरणार्थ मार्गार (शिकारी), कैवर्त, पांजिष्ठ तथा दाश मछली मारने वाले थे।[2] वेन्द तथा अन्द भी एक प्रकार के मछली मारने वाले ही थे।[3] ऋग्वेद में मृगया सम्बन्धी विविध उपकरणों के उल्लेख से इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मृगया के लिये यदा-कदा बाण का प्रयोग किया जाता था।[4] मृगया में पशुओं को पकड़ने के लिए मुख्य रूप से जाल तथा गड्ढों का प्रयोग किया जाता था।[5] पक्षियों को पाश,[6] निधा,[7] तथा जाल[8] के द्वारा पकड़ने के उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलते हैं। पक्षियों को पकड़ने वाले व्यक्ति को 'निधापति'[9] कहा जाता था। ऋक्ष्य (हिरण) को पकड़ने के लिए गड्ढों का प्रयोग किया जाता था और इसीलिए ऐसे गड्ढों को 'ऋक्ष्य-द' कहा गया है।[10] वराहों को शिकारी कुत्तों की सहायता से पकड़ा जाता था।[11] शिकारियों द्वारा शेर का शिकार गड्ढों का निर्माण करके घेर कर किया जाता था।[12]

मछली मारने की विधियों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम सूचनायें उपलब्ध हैं। सायण ने 'धैवर' शब्द का अर्थ किया है—वह व्यक्ति जो तालाब में जाल फेंक कर मछली पकड़ता है।[13] दाश और शोस्कल 'बड़िश' की सहायता से मछली पकड़ते थे। वैण्ड,

---

1. तैत्ति० ब्रा० 3.4.
2. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 173.
3. वाज० सं० 30.16.
   तैत्ति० ब्राह्मण 3.4.12.1.
4. ऋ० 2.42.2.
5. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2 पृ० 173.
6. ऋ० 3.45.1.
7. ऋ० 9.83.4, 10.73.11.
8. अथर्व० 10.1.30.
9. ऋ० 9.83.4.
10. ऋ० 10.39.8.
11. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृ० 173.
12. तत्रैव
13. तत्रैव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कैवर्त और मैनाल जाल की सहायता से मछली पकड़ते थे ।[1] पर्णक जल में विषैली पत्तियों को डालकर मछली मारते थे ।[2]

द्वितीयतः इन मृगया-वृत्ति के अतिरिक्त वे लोग थे, जिनकी आजीविका फल और अकृष्टपच्य अन्न पर अवलम्बित थी । ऋग्वेद 10.146.6 में कहा गया है कि मैं उस अरण्यानि की स्तुति करता हूँ जो आंजनगन्ध युक्त है, जो बिना कृषि के सुरभित अन्न प्रदान करती है तथा जो पशुओं की मातृ-रूपिणी है । अतः यह स्पष्ट होता है कि अरण्यनिवासी विना कृषि के उत्पन्न होने वाले अन्न पर जीवन-यापन करते थे । उपर्युक्त ऋचा में अरण्य को पशुओं की माता कहा गया है । ऋग्वेद से हमें गोपवनों की स्थिति की भी सूचना मिलती है ।[3] इससे स्पष्ट होता है कि अरण्य-निवासी पशु-पालक भी थे । ऋग्वेद के कई मंत्रों से अरण्य में गायों तथा अन्य पशुओं के विचरण करने की सूचना मिलती है । "गाम-ङ्गैष आह्वयति दार्वङ्गैषो अयावधीत् । वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ।।" (ऋ० 10.146.4) । इस ऋचा में कहा गया है कि अरण्य में निवास करने वाली गायें आवाज करती हैं । इसी प्रकार "उत गाव इवा दन्त्युत वेश्मेव दृश्यते । उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ।।" ऋ० 10.146.3 में कहा गया है कि अरण्य में कहीं गायें तृणादि चरती हैं, कहीं लता, गुल्म आदि से निर्मित गृह दिखाई देते हैं और सन्ध्या समय अरण्य से बहुत से शकट निकलते हैं । सायण ने इस पर भाष्य किया है कि 'अहनि महदरण्यं शकटीभिः प्राप्य सर्वे जना अपेक्षितं काष्ठादिकं शकटीष्वध्यारोप्य सायंकाले तस्मान्निर्गच्छन्ति" । इस प्रकार इस ऋचा से अरण्यनिवासियों के गोचारण वृत्ति का प्रमाण मिलता है । वे गोचारण के लिए उपयुक्त गोचर-भूमि में अपनी गायों को तृणादि चराते थे तथा वहीं अपने लिए लता, गुल्म आदि से अल्पकालिक गृह का निर्माण करते थे ताकि तृण की समाप्ति के बाद वे अपनी गायों को दूसरी गोचर भूमि में ले जा सकें और वहाँ पुनः अपने लिए दूसरा अल्पकालिक गृह बना सकें । ये गोचारक अरण्य से लकड़ी तोड़ते थे तथा उसे शकट पर रख कर अरण्य से बाहर ले जाते थे । सम्भवतः काष्ठ-विक्रय उनकी जीविका का सहायक साधन था ।

तीसरी कोटि के अरण्यनिवासी वे थे, जो विपिन में सहज ही उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल आदि से अपना भरण-पोषण करते थे । "स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं

---

1. तत्रैव
2. तत्रैव
3. "यं त्वा गोपवनो गिराचनिष्ठदग्ने अंगिरः । स पावक श्रुधी हवम्" ऋ० 8.74.11.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निपद्यते" ऋ० 10.146.5 में कहा गया है कि वन में स्वादिष्ट फलों को खाकर निवास किया जाता है ।

ऋग्वेद से हमें अरण्य में अग्नि की स्थिति की सूचना मिलती है । "अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु । दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः" । (ऋ० 3.29.2) । इस ऋचा में कहा गया है कि अग्नि अरण्य में उसी प्रकार स्थापित है, जिस प्रकार गर्भिणी में गर्भ । अपने कर्म में जागरूक और हवि से युक्त मनुष्यों द्वारा वह प्रतिदिन स्तुत्य हैं । अग्नि की स्थापना का यह कृत्य सम्भवतः देवयज्ञों के प्रसंग में किया जाता था ।

ऐसा प्रतीत होता है कि अरण्य-निवासियों का जीवन सर्वथा निरापद न था । महारण्य में निवास करने वाले लोग सायंकाल डरते थे ।[1] संभवतः उनका यह भय जंगली पशुओं, चोरों तथा शत्रुओं से होता था । ऋग्वेद की एक ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह 'अमा' (गृह) तथा अरण्य में शत्रुओं से रक्षा करे ।[2]

अतः स्पष्ट है कि यायावरीय जीवन और ध्रुवाक्षिति, भूमि पर स्थायी निवास, के मध्य अरण्य-निवास की भी स्थिति थी । ऐसी स्थिति में निवास करने वाले लोगों की आजीविका के तीन प्रमुख साधन थे—(1) मृगया, (2) पशुपालन तथा उनसे प्राप्त होने वाला दुग्ध तथा (3) अरण्य में सहज ही उत्पन्न होने वाले अकृष्ट पच्य अन्न, कन्द-मूल-फलादि। ऋग्वेद में जहाँ एक ओर अरण्य में बिना कृषि के उत्पन्न होने वाले सुरभित अन्न और मधुर फलों की प्राप्ति का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर गायों तथा अन्य पशुओं की स्थिति का उल्लेख किया गया है। मृगया तथा मृगया से सम्बन्धित विविध उपकरणों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है । इस प्रकार अरण्य-निवासियों के लिए जहाँ 'सुरभित अन्न', फल एवं मृगया में प्राप्त मांस भोज्य पदार्थ के रूप में सहज सुलभ थे वहीं उनके पशुओं के पालनार्थ विस्तृत अरण्य गोचर-भूमि के रूप में सुलभ था । इसीलिए 'अरण्यानि' को पशुओं की माता कहा गया है ।[3]

दुरोण :—यायावरीय जीवन क्रमशः शालेय जीवन में परिणत हुआ । इस क्रम में;

---

1. ऋ० 10.146.4.

2. "सचस्व नायमवसे अभीक इतो वा तमिन्द्र पाहि रिषः ।
अमा चैनमरण्ये पाहि रिषो मदेम शतहिमाः सुवीरा ।।" ऋ० 6.24.10.

3. ऋग्वेद 10.147.6

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एक ऐसी स्थिति का आगमन हुआ जिसमें लोग द्वार-युक्त निवास (गृहों) में रहने लगे। ऐसे निवासों को वैदिक साहित्य में 'दुरोण' 'दुर' अथवा 'द्वारयुक्त' की संज्ञा प्रदान की गई। निरुक्त का वचन है "दुरोण इति गृहनाम, दुरवा भवति इति यास्कः।।" (निरुक्त 4.5)। दुरोण=गृह की व्युत्पत्ति यास्क दुरवा=दुः √अव='कठिनता से सन्तुष्ट' के रूप में करते हैं। आपाततः यह व्युत्पत्ति भ्रामक है।[1] दुर शब्द अनेकशः द्वार के अर्थ में ऋग्वेद में प्रयुक्त हैं। इस अर्थ में दुर एक भारोपीय शब्द है। भारोपीय भाषाओं में दुर के अनेक सगोत्रीय शब्द उपलब्ध होते हैं—यथा यूनानी फोर, लैटिन फोरेस, ईरानी दोरस्, परवर्ती ईरानी दोरस्, ब्रिटेन दोर, गोथिक दौर, प्राचीन इंग्लिश दुरु, ओल्ड हाई जर्मन तुरि आदि। इसी प्रकार प्राचीन इंग्लिश दोर् (दरवाजा), ओल्ड हाई जर्मन तथा न्यू हाई जर्मन तोर्, प्राचीन पारसीक दुवार, अर्वाचीन पारसीक दर् अरमेइक दुरिन और अलबेनियन देरे संस्कृत के द्वार शब्द के सगोत्र हैं।[2] इस प्रकार 'दुरोण' का अर्थ होगा ऐसा गृह जो द्वार से युक्त हो। इसी प्रकार दुर्य का अर्थ होगा—'दुर-युक्त'। दुर्य के भी द्वारयुक्त गृह के अर्थ में अनेक प्रयोग ऋग्वेद में मिलते हैं।

ऋग्वेद की कई ऋचाओं में 'मानुषी दुर' अथवा 'मानुषी दुरोण' का उल्लेख किया

---

1. 'Yaska (4.5), setting up the word as दुरव interprets it as 'difficult to satisfy'. <दुस् + √अव् RNM (P. 245) remarks about this etymology : 'दुस्तर्पाः occurs as the sense of दुरवाः, but this may be interpolation, for Yaska could not fall into a confusion by giving such a meaning. Sa., commenting on दुरोण् in RV 3.25.5 derives it from दुर् (indeclinable) + √अव् + the suffix न in the passive sense, signifying 'difficult to be protected'. GW. etc. derive it from दुर = दुर् 'door', but the second element of the compound has not been explained by any authority. A comparison with दुर्योण (RV. 1.174.7 etc.) suggests that the second element may be basically ऊन (< √अव् + न); but the actual occurrence of ऊन as a participle from अव् has still to be demonstrated from literature."

Siddheshwar Varma—The Etymology of Yaska, p. 167.

2. सी०डी० बक—पूर्वोक्त, 7.22.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया है ।[1] "विदा दियो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनोगुः । अपावृत व्रजिनीरुत्स्वर्गाद्वि दुरो मानुषीर्देव आवः ।" ऋ० 5.45.1 में स्पष्टतः 'मानुषी दुर' का उल्लेख किया गया है, जिसका भाष्य सायण ने 'मनुष्य सम्बन्धिनीः द्वाराणि' किया है । इस ऋचा का पारम्परिक अर्थ है कि अंगिराओं की स्तुतियों से इन्द्र ने स्वर्ग से वज्र निक्षेप करके पणियों द्वारा अपहृत-निगूढ धेनुओं का पुनरुद्धार किया था । आगामिनी उषा की रश्मियां सर्वत्र व्याप्त होती हैं । पुंजीभूत अन्धकार को विनष्ट करके सूर्य उदित होते हैं । मनुष्यों के गृह-द्वारों को उन्होंने उन्मुक्त किया है । इसी प्रकार 'आयोः दुर्यासु अदब्धा कवयः निधारयन्तः । अर्यः एतान् अद्भुतान् पड्भिः एवैः पश्येः" ऋ० 4.2.12 में प्रयुक्त 'आयोः दुर्यासु' का अर्थ 'मनुष्यस्य गृहेषु' है । अतः इसका अर्थ हुआ कि मनुष्यों के गृह में अर्य अद्भुत गमनशील पदचारियों को देखता है । ऋ० 1.121.4 में स्पष्टतः 'मानुषस्य दुरो' का उल्लेख किया गया है ।

"मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां मा शेषसोऽवीरता परि त्वा प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य" ऋ० 7.1.11. इस ऋचा में भी 'प्रजावतीषु दुर्यासु' का उल्लेख भी 'मानुषी दुर्य' (मनुष्यों के गृह अथवा निवास) के अर्थ में किया गया है । इसमें अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हम पुत्रादि से रहित गृह में निवास न करें । दूसरे के घर में भी निवास न करें । तुम्हारी परिचर्या करते हुए हम प्रजा से परिपूर्ण गृह में निवास करें । ऋ० 1.117.7 में 'पितृसदे दुरोणे घोषायै पतिं अदत्तम्' का उल्लेख किया है । इसमें प्रयुक्त 'पितृसदे दुरोणे' का अर्थ सायण ने 'स्वकीय जनकगृहे' किया है । इस ऋचा का अर्थ है कि अश्विनीकुमारों ने घोषा को पितृसदन में पति प्रदान किया । एक अन्य ऋचा[2] में 'शतदुरेषु' का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ निश्चय ही 'शतद्वारेषु' है । अतः सौ द्वारों से युक्त गृह की स्थिति प्रमाणित होती है ।

ऋग्वेद में 'दुर' अथवा 'दुरोण' की भौगोलिक स्थिति का भी उल्लेख किया गया है । ऋ० 10.139.6 में नदियों के चरण-देश में 'अपां दुरः' की स्थिति का उल्लेख किया गया है । इसमें कहा गया है कि इन्द्र ने प्रस्तरमय द्वार का उद्घाटन किया । अन्यत्र 'अद्रौचित् दुरोणे' का उल्लेख किया गया है ।[3] इसमें कहा गया है कि लोग अग्नि को यज्ञ-गृह और पर्वत के ऊपर (सम्भवतः वहाँ निर्मित होने वाले 'दुरोण' में) हवि प्रदान करते

---

1. ऋ० 1.121.4, 4.4.7, 4.2.12, 5.45.1, 7.1.11.
2. ऋ० 1.51.3.
3. ऋ० 1.70.3-4.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं । इसमें प्रार्थना की गई कि जैसे राजा प्रजा के हित का कार्य करते हैं, वैसे ही अग्नि हमारे हितकारी कार्यों का सम्पादन करें ।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में दुरोण के साथ अग्नि का उल्लेख किया गया है । प्रसंग से प्रतीत होता है कि 'दुरोण' अथवा 'दुर' में प्रज्वलित अग्नि विद्यमान रहती थी । उससे अनेक भौतिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना की जाती थी ।

"यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत् ।
आ देवयुरिनधते दुरोणे तस्मिन्रयिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान् ।।"

ऋ० 4.2.7 में दुरोण में प्रज्वलित अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि, अन्न की इच्छा करने पर जो कोई तुम्हें देने के लिए हविरन्न धारण करता है, जो तुम्हें हर्षकर सोम प्रदान करता है, जो अतिथि रूप से तुम्हारा उत्तर-वेदि पर प्रणयन करता है और जो व्यक्ति देवत्व की इच्छा करके तुम्हें गृह में समृद्ध करता है, धर्मपथ में निश्चल और औदार्यविशिष्ट हो । अतः स्पष्ट है कि यहाँ प्रज्वलित अग्नि से अन्न, धन और पुत्र की प्राप्ति की कामना की गई है । ऋ० 1.69.3 में गृह में अग्नि के प्रज्वलन की तुलना गृह में पुत्रोत्पत्ति के साथ की गई है और कहा गया है कि गृह में प्रज्वलित होने वाली अग्नि आनन्द प्रदान करती है ।

ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में कहा गया है कि अग्नि अपने दुरोण में काष्ठ द्वारा समृद्ध होती है । अन्यत्र भी अग्नि को दुरोण में आसीन दिखाया गया है तथा कहा गया है कि वह दूर से ही अपनी दीप्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत को सूर्य की तरह प्रकाशित करती हैं । इसी प्रकार ऋ० 3.14.3 में अग्नि से कहा गया है कि तुम बन्धु के समान हमारे दुरोण में निवास करो । ऋग्वेद की ही एक अन्य ऋचा (3.25.4) में इन्द्र और अग्नि को दुरोण में सोमपान के लिए आमंत्रित किया गया है । "कृधिरत्नं सुसनितर्धनानां स घेदग्ने भवसि यत्समिद्धः । स्तोतुर्दुरोणे सुभगस्य रेवत्सृषा करस्ना दधिषे वपूंषि" ऋ० 3.18.5 में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हे दाता अग्नि, तुम धनों में श्रेष्ठ धन प्रदान करो । जिस समय तुम समृद्ध होओ, उसी समय तुम वैसा धन दो । तुम धन देने के लिए भाग्यवान् स्तोता के दुरोण की ओर अपनी रूपवती भुजाओं को बढ़ाओ । उपर्युक्त ऋचा पर सायण का भाष्य है—"सुसनितः अभिलषित धनानां सुष्ठु दातर्हे अग्नि धनानां कनकपश्वादीनां मध्ये रत्नं उत्तमं धनं कृषि विधेहि । मह्यं दत्स्व" । इससे स्पष्ट होता है कि दुरोण में कनक के अतिरिक्त पशुओं को भी धन के रूप में रखा जाता था ।

"रत्नधेयं दुरोणं यातं सूर्यो ज्योतिषा उत एति" ऋ० 4.13.1 से भी दुरोण में रत्न-समूह की स्थिति प्रमाणित होती है । इस ऋचा में कहा गया है कि रत्न-समूह से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

युक्त दुरोण में जाते हुए व्यक्ति को सूर्य अपने प्रकाश से अभिव्यक्त करता है। ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में दुर अथवा दुरोण को गाय से सम्बद्ध बताया गया है—

"अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णाँ अरुषैर्धामभिर्गात्।
प्रसूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः।।" (ऋ० 3.31.21)

इस ऋचा का अर्थ है कि वृत्रहन्ता और गायों के स्वामी इन्द्र हमें गो-दान करें। कृष्णों अथवा यज्ञ विघातक असुरों को दीप्ति-युक्त तेज के द्वारा विनष्ट करें। उन्होंने सत्य वचन से अंगिरा लोगों को प्रियतम गाय का दान करके सारे द्वारों को वंद कर दिया था— 'विश्वाः स्वाः दुरः अवृणोत्' ऋ० 1.188.5 में 'दूरो घृतानि अक्षरन्' का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ हुआ ऐसा दुर अथवा गृह जहाँ घृत वह रहा हो। स्पष्टतः यहाँ उस दुर से तात्पर्य है, जिसमें गो-समूह निवास करता हो। इसी प्रकार ऋग्वेद 7.16.8 में घृतहस्ता, अन्नरूपा और हविर्लक्षणा देवी के पूर्ण होकर दुरोण में आसीन होने की बात कही गई है। यहाँ अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह द्रोहियों और निन्दकों से उस दुरोण–गृह की रक्षा करे। ऋग्वेद 1.69.2 में कहा गया है कि मेधावी, निरहंकारी और कर्माकर्मज्ञाता अग्नि गौ के स्तन की तरह गृह के सारे अन्न को स्वादिष्ट करते हैं। स्पष्टतः यहाँ भी दुरोण को गोधन और स्वादु अन्न से सम्बद्ध बताया गया है। "ऊस्रियाभ्यो गाः विदृहा दुरः विऔर्णोः गाः असृजः" ऋ० 6.17.6 में इन्द्र से कहा गया है कि हे इन्द्र, तुमने गौओं को बाहर आने के लिए पाषाणादि के दृढ़ द्वारों को उद्घाटित किया है। अंगिराओं के साथ मिलकर तुमने गायों को गोष्ठ से उन्मुक्त किया था। उपर्युक्त ऋचा में दुर शब्द का प्रयोग द्वार के अर्थ में किया गया है।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में अर्य, ब्रह्म, राजन्, विश्पति, विराट्, विभु, प्रभु, सम्राट् और स्वराट् शब्दों का उल्लेख दुरोण के साथ किया गया है। ऋग्वेद 4.4.6 में "अर्यः रायः द्युम्नानि दुरः अभिद्यौत" का उल्लेख किया गया है। सायण ने उपर्युक्त ऋचा में प्रयुक्त 'अर्यः' का अर्थ 'यज्ञानां स्वामी', 'रायः' का अर्थ 'रान्ति क्षीरादीनीत रायो गोधनानि' तथा 'दुरः' का अर्थ 'गृहानभि' किया है। अतः इसका अर्थ हुआ कि अर्य गोधन से युक्त दुर को अभिद्योतित करता है। ऋग्वेद 1.108.7 में कहा गया है कि दुरोण में इन्द्र और अग्नि के साथ ब्रह्म और राजन् प्रसन्न होकर सोम का पान करते हैं। "विश्पतिः विशां दुरोणे अधायि" ऋग्वेद 7.7.4 पर सायण ने भाष्य किया है—"विश्पतिः विशां पतिर्विश्वस्य पतिर्वा विशां मनुष्याणां दुरोणे गृहे अधायि आहितः" अर्थात् विश्पति मनुष्यों के दुरोण में स्थापित है। इसी प्रकार ऋग्वेद 1.188.5 में विराट्, सम्राट्, विभु

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और प्रभु का उल्लेख 'घृतानि अक्षरन् दुर:' के साथ किया गया है । 'महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजो दुरश्च विश्वा अवृणीत्' का उल्लेख ऋ० 10.120.8 में किया गया है । इस ऋचा पर सायण का भाष्य है—"गोत्रस्य गोसमूहस्य मह: महत: स्वराज: स्वयमेव राजमानस्य य इन्द्र: क्षयति इष्टे । दुरश्च विलद्वाराणि च विश्वा: सर्वा: स्वा: बलासुरस्य स्वभूता: अपअवृणोत् अपगतावरण अकरोत् ।" अत: इसका अर्थ हुआ कि स्वराट् इन्द्र विशाल पर्वत को हटाते हैं, और शत्रुओं के सभी द्वारों को खोलते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से हमें मानव-निवास की तीन अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त होता है—

(1) गुहा एवं पर्वत-निवास,
(2) अरण्य-निवास और
(3) क्षेत्र-निवास—क्षय से ध्रुवाक्षिति तक ।

तीसरी अवस्था में ही प्रशासन, सामरिक आवश्यकता, कर-व्यवस्था, धार्मिक दान, व्यवसाय, वर्ण अथवा जाति तथा जनसंख्या के आधार पर मानव-निवास के विविध वर्गीकरणों के उल्लेख हमें प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में मिलते हैं, जिन्हें 'ग्राम' और 'नगर' शब्दों से सम्बोधित किया गया है ।[1] प्रशासन आदि कारणों से ग्रामों के अवान्तरकालीन विकास का विवरण परिशिष्ट तृतीय में दिया गया है ।

उपयुक्त विवेचन से हमें 'ग्राम' के विकास की भी मुख्य रूप से तीन अवस्थाओं का बोध होता है । ग्राम-विकास की प्रारंभिक अवस्था यायावरीय थी । स्थायी-निवासविहीन, संचरणशील ग्रामों का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक संदर्भों में प्राप्त होता है, जहाँ 'ग्राम' शब्द का अर्थ जन-समूह मात्र है । स्थायी जनसन्निवेश की स्थापना के पश्चात् भी यायावरीय ग्रामों की परम्परा जीवित रही, इसीलिए मैत्रायणी एवं काठक-संहिताओं में 'क्षेम्या प्रजा' के साथ ही 'यायावर प्रजा:' का उल्लेख किया गया । इसी का प्रतीकात्मक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में क्रमश: 'वात्सप्र' और 'विष्णुक्रम' के माध्यम से किया गया ।

---

1. वाहीक प्रदेश में ग्राम-नगर शब्दों का प्रयोग बिना किसी विशेष भेद के किया जाता था । फलत: यहाँ इन शब्दों के अर्थ का वह पारस्परिक विभेद स्थापित नहीं किया जा सका, जो भारत के पूर्वी भाग में था । डॉ० अग्रवाल ने इसका कारण वाहीक प्रदेश के ग्रामों का नगरों की ही भाँति समृद्धिशाली होना बतलाया है । इनके अनुसार इस प्रदेश में ग्राम शब्द के अर्थ में नगर शब्द का अर्थ भी निहित समझा जाने लगा । यूनानी विवरणों में इस प्रदेश में ऐसे लगभग पाँच सौ ग्रामों के अस्तित्व की सूचनाएं मिलती हैं जो नगरों के ही समान समृद्धिशाली और उन्नतिशील थे ।
वासुदेवशरण अग्रवाल—इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० 63.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस प्रसंग में 'योग' और 'क्षेम' शब्द भी ध्यातव्य हैं, जो वैदिक युग में क्रमशः संचरणशील एवं स्थायी निवास के बोधक थे। गीतोक्त 'योग-क्षेम' में भी मूलतः उपर्युक्त भाव ही सन्निहित है।

ग्राम-विकास की प्राथमिक यायावरीय स्थिति के बाद द्वितीय अवस्था में अस्थायी निवास अस्तित्व में आये। वैदिक युग के संचरणशील जन-समूहों ने वाहनों का उपयोग अस्थायी निवास के रूप में करना प्रारम्भ किया जो अनेक शब्दों के भाषा-वैज्ञानिक विवेचन से प्रमाणित होता है। इस दृष्टि से 'रथ-क्षयः', 'रण्वः क्षयः', 'गर्त्त' और 'अनस्' आदि शब्दों में रोचक एवं महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य निहित है। क्षि धातु से व्युत्पन्न 'क्षय' शब्द गति और निवास दोनों का बोधक है। ऋग्वेद की कई ऋचाओं में प्रयुक्त 'क्षय' मानवीय निवास का बोधक है। 'रण्व. क्षयः' गतिशील अथवा संचरणशील निवास का तथा 'रथ-क्षयः' रथ-निवास का बोधक है। ऐतिहासिक काल में रथाकार मन्दिरों का निर्माण तथा कतिपय मन्दिरों के लिए रथ शब्द के प्रयोग भी हमें रथ-निवास की परम्परा का स्मरण दिलाते है। अस्थायी निवास के प्रचलन की पुष्टि 'गर्त्त' शब्द के विवेचन से भी होती है। 'गर्त्त' शब्द का प्रयोग वाहन एवं गृह दोनों ही अर्थों में हुआ है। यास्क ने 'गर्त्त' को रथ का पर्यायवाची माना है— 'रथोऽपि गर्त्त उच्चते'। साथ ही निरुक्त में गर्त्त को गृह का भी समानार्थी कहा गया है। ऐसी स्थिति में वाहन एवं निवास दोनों का बोधक 'गर्त्त' शब्द संचरणशील अस्थायी निवास ही हो सकता है। गर्त्त की भाँति ही 'अनस्', जो भारवाही शकट था, वाहन के साथ-साथ शाला के अर्थ में वैदिक सन्दर्भों में प्रयुक्त है।

ग्राम-विकास की तीसरी अवस्था थी 'ध्रुवा-स्थिति' अथवा स्थायी-निवास की। इसका विकास दो दिशाओं में दिखाई देता है। पशुपालक जन-समूह ने, अधिकांशतः नदियों के ऐसे तटवर्ती क्षेत्रों में, जहाँ पशुओं के लिए घास और जल की सहज सुलभता थी, बाड़ों अथवा घेरों के रूप में स्थायी निवास बनाये। इस प्रकार के पशुपालक निवासों के लिए वैदिक साहित्य में पस्त्य, व्रज और वृजन शब्दों का प्रयीग बहुलता से मिलता है। निरुक्त में 'पस्त्य' को गृह का पर्यायवाची कहा गया — 'पस्त्यमिति गृहनाम'। सायण ने भी ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में प्रयुक्त 'पस्त्य' शब्द का यही अर्थ किया है। ऋग्वेद में 'पस्त्य' का सम्बन्ध गायों, बैलों और घोड़ों से भी दिखाई देता है। अतएव इससे प्रतीत होता है कि 'पस्त्य' प्रारम्भ में केवल पशुओं का ही निवास था, जो क्रमशः पशुओं तथा पशु-पालकों दोनों का निवास बन गया। 'पस्त्य' की ही भाँति 'व्रज' और 'वृजन' शब्दों का

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गोचारण एवं गोचारकों से सम्बन्ध ऋग्वेद के विभिन्न संदर्भों में दिखायी देता है। प्रारम्भ में 'वृजन' शब्द का तात्पर्य किसी आवृत स्थान से था। ऐसे आवृत स्थान में पहले केवल पशुओं के रहने की व्यवस्था थी। किन्तु पशुओं के ये बाड़े बाद में पशुचारकों के भी निवास हो गये। इसकी पुष्टि ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में प्रयुक्त व्रज, वृजन एवं व्राजपति आदि शब्दों के विवेचन से होती है।

कृषि-कर्म के क्रमिक विकास से मानव-जीवन में स्थायित्व आया, जिसके परिणाम-स्वरूप मनुष्य ध्रुवा-क्षिति अथवा स्थायी निवास में रहने लगा। कृषि-कर्म से होने वाले अतिरिक्त सस्योत्पादन ने विविध व्यवसायों एवं उद्योगों को जन्म दिया। परिणामतः ग्राम-सन्निवेश के स्वरूप में परिवर्तन आया। अब ग्रामों का निर्माण व्यवसाय, जाति, प्रशासन, सामरिक आवश्यकता, कर-व्यवस्था, धार्मिक दान एवं जन-संख्या आदि के आधार पर किया जाने लगा और इस प्रकार ऐतिहासिक काल तक विभिन्न प्रकार के ग्राम-सन्निवेश विकसित हुए।

जातक साहित्य में 'श्रेष्ठि ग्राम', 'ब्राह्मण ग्राम', 'आरामिक ग्राम', आदि का उल्लेख मिलता है तथा अर्थशास्त्र में 'स्थानीय' तथा 'द्रोणमुख' आदि प्रशासनिक ग्रामों का उल्लेख मिलने लगता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तृतीय अध्याय

समाज : स्तरों के प्राग्रूप

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इतिहास के आदिपर्व में अभी न तो त्रिवर्ण—ब्रह्म, क्षत्र और विश् में समाज विभक्त था और न राज्य एवं आर्थिक संगठन की वह भूमिका ही स्पष्ट हुई थी जो बाद में चलकर, कभी वक्रगति से और कभी ऋजुताल में प्रवाहित होती हुई अनेक परिवर्तनों के साथ वर्तमान युग तक आयी। ग्रामजीवन का समुन्मेष मानवसमूह के रूप में था जो या तो यायावर के रूप में निरन्तर संचरणशील था अथवा अल्पकालीन निवास—अर्म, पस्त्य, वृजन और गुहा आदि में कुछ ऋतुओं को यापन करता और फिर उपयुक्त निवास की खोज में निकल पड़ता। मानवीय उषःकाल में आर्य-जन 'अर्य' और 'चर्षणि-कृष्टि' में विभक्त दिखाई पड़ते हैं। अर्य-वर्ग के विकास की प्रक्रिया में प्रथम चरण 'अरि' था।

अरि : उत्पत्ति और विकास

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'अरि' शब्द अत्यन्त विवदनीय है। गेल्डनर, ओल्डेनवर्ग, थीमे, दुमेजिल, वेली, बनर्जी, चट्टोपाध्याय तथा अनेक कोषकार रॉथ, ग्रासमान, नीसर, मेर-हॉफर[1] आदि ने इसके विभिन्न अर्थों और अवधारणाओं की उद्भावनायें की हैं।

ऋग्वेद में इसका एकवचन में बारह बार उल्लेख हुआ है—दस बार कर्ता और दो बार कर्म विभिक्त में। 'अरिगूर्त', 'अरिष्टुत' और 'अरिधाय' के रूप में एक-एक बार

---

1. गेल्डनर—वेदिशे स्टूडियेन, पृ० 72 तथा आगे। ओल्डेनवर्ग—ज़ेड० डी० एम० जी०, 54, पृ० 177 तथा आगे। पॉल थीमे—डेर फ्रेण्डलिंग इन ऋग्वेद। दुमेजिल—एल० टी० एस०। एच डब्ल्यू० वेली—अर्य-2, बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज़, युनिवर्सिटी आफ लन्दन, 23, खण्ड-1, 1960, पृ० 13-39. ए० सी० बनर्जी—स्टडीज इन दी ब्राह्मणाज, पृ० 1-7, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय—'दी वर्ड अरि इन दी ऋग्वेदसंहिता, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स, 3, पृ० 149-56, रॉथ—वार्टर बुक जुम् ऋग्वेद, पृ० 105-6, ग्रामसान—तत्रैव, नीसर—जुम वार्टर वुक डेस् ऋग्वेद, पृष्ठ 98 और आगे। एम० मरहॉफर—ए कॉनसाइज एटीमालॉजिकल संस्कृत डिक्शनरी। इण्डो-सोवियेट ज्वाइण्ट प्रोजेक्टर सेमिनार, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 1982 में प्रोफेसर वी० एस० पाठक द्वारा पठित शोध-निबन्ध—'दी वर्ड आर्य'—ए सेमेण्टिक स्टडी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समस्तपदों का भी प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त षष्ठी एकवचन विभक्ति के अर्थ में यण् आदेश होने पर अरि का अर्य रूप भी अनेकशः मिलता है।[1]

अर्थ-विवेचन में जो सबसे बड़ी कठिनाई है, वह इसके विरुद्धवाची अर्थों के कारण आती है। कुछ ऋचाओं में यह अच्छे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा अन्य कुछ ऋचाओं में कुत्सित अर्थ में। उदाहरण के लिए ऋग्वेद 10.28.1 में :—

"विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो ना जगाम।
जक्षीयाद्धाना उत सोमं पपीयात्स्वाशितः पुनरस्तं जगायात् ॥"

संक्षेप में इसका अर्थ है कि "अन्य सभी 'अरि' आ गये किन्तु मेरे श्वशुर इन्द्र नहीं आये अन्यथा (भुजा हुआ) धान खाया जाता और सोम पिया जाता।" यहाँ श्वशुर के साथ 'अरि' के आगमन की सम्भावना एवं सम्मिलित रीति से धान-भक्षण और सोमपान, अरि का भद्रार्थ में प्रयोग द्योतन करता है किन्तु इसके विपरीत ऋग्वेद 2.8.2 में 'अरिं जरयन्' अरि के विनाश करने के लिए देव का आवाहन किया गया है। यहाँ निश्चय ही कुत्सितार्थ में प्रयोग है। उपर्युक्त उल्लेखों में एकवचनान्त अरि छः बार भद्रार्थक है और दो बार निश्चय ही कुत्सितार्थक है। कुत्सितार्थ में 'अरि' का अर्थ 'शत्रु' है, जो परवर्ती वाङ्मय में निरपवाद रीति से मिलता है। भद्रार्थक रूप में ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के भाव इस शब्द में निहित हैं। समस्या यह है कि ये दो विरोधी अर्थ—ज्येष्ठ-श्रेष्ठ और शत्रु—साथ-साथ कैसे सम्भव हैं।

थीमे ने विस्तृत निर्वचन करके यह निष्कर्ष निकाला कि 'अरि' का अर्थ अपरिचित अभ्यागत है और इस अर्थ को स्वीकार करने पर भद्रार्थ और कुत्सितार्थ दोनों का सामंजस्य हो सकता है, क्योंकि अभ्यागत के रूप से अपरिचित भी स्वागत और रक्षण का अधिकारी है किन्तु साथ ही साथ सन्देहास्पद और शंकनीय भी है। इस मूल अर्थ के विकास से वे 'अर्य' और 'अर्यमा' को भी सम्बद्ध करते हैं। अर्य का अर्थ स्वागत-योग्य अतिथि, गृहस्वामी और अर्यमा का अर्थ स्वागत किंवा आतिथ्य का दैवी रूप।[2] इस मत को अनेक विद्वानों[3] ने स्वीकार किया। किन्तु दुमेजिल को यह अर्थ-निर्वचन दूरारूढ प्रतीत होता है। उनका कथन है कि अपरिचित अतिथि ('der Frendling') की अवधारणा

---

1. अरि शब्दात् षष्ठ्येक वचने 'जरादिषुच्छन्दसिवावचनम्, इति 'घेर्ङिति' इति गुणाभावे यणादेशः। सायण की ऋग्वेद 1.73.5. की व्याख्या।
2. रॉथ ने भी यही अर्थ लिया है। थीमे डेर फ्रेंडलिन, पृ० 10.
3. मेरहॉफर—पूर्वोक्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आधुनिक है—ऋग्वेद के आदिम सामाजिक स्थिति के लिए समंजस नहीं। उनका कथन है कि अरि समूहार्थ में तो आर्य-वर्ग को अभिहित करता है, तथा व्यक्तिवाची अर्थ में 'आर्य पुरुष-प्रकार' को अभिहित करता है।[1]

बेली उपर्युक्त मतों का निराकरण कर 'अरि' को उच्चकुल-जात वर्ग मानते हैं और इस वर्गबद्धता में कुलोत्पत्ति को आधार मानते हैं। साक्ष्य के रूप में वे ईरानी अर्य, भारतीय अर्य-आर्य, फारसी ऐर, शाहपुर के अभिलेख के ईर आदि शब्दों का निर्वचन करते हैं।[2]

प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय 'अरि' के दो भिन्न रूप मानते हैं। वे भद्रार्थक 'अरि' को वैदिक अर्य-आर्य, आवेस्तिक अरिय और ग्रीक अरिष्टॉस से सम्बद्ध स्वीकार करते हैं। कुत्सितार्थ के लिए दो सम्भावनायें व्यक्त करते हैं। प्रथम यह कि अरि बहुव्रीहि है और अ (निषेधार्थक)+रि (धन) से निष्पन्न हुआ है तथा दूसरा यह कि अरि शब्द उस सुमेरीय चित्राङ्क 'एरि' का, जिसको लेंगडन ने पहले 'अरि' पढ़ा था, ही ऋग्वेदीय रूप है।[3]

प्रो० बनर्जी विवाह की दृष्टि से अवधारित वर्ग को अरि का अभिधान बताते हैं। जिस वर्ग में विवाह हो सकता है, वह भद्र है तथा जिस वर्ग में विवाह नहीं हो सकता वह शत्रु है। इस प्रकार से अरि=समूह अथवा वर्ग युगपत रीति से भद्रार्थ और शत्रुपरक अर्थ रखता होगा।[4]

थीमे, दुमेजिल, बेली और बनर्जी अरि को सामाजिक सम्बन्ध का द्योतक शब्द मानते हैं। दुमेजिल और बनर्जी आगे बढ़कर सामाजिक वर्ग तक अरि के अर्थ का विस्तार करते हैं और बेली इस वर्ग का आधार उच्चकुल में उत्पत्ति मानते हैं। यहाँ यह अवलोकनीय है कि अरि के साथ ऋचाओं में तीन शब्दों का प्रायः प्रयोग हुआ—अर्य, कृष्टि और चर्षणि। ये तीनों शब्द सामाजिक वर्ग अथवा समूह का प्रसंगतः द्योतन करते हैं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण एवं मनोरंजक तथ्य है कि ये तीनों शब्द भी भद्रार्थक एवं कुत्सितार्थक हैं अथवा कुत्सित प्रसंग में उल्लिखित हैं। पुनः कुत्सितार्थ या कुत्सित प्रसंग में ये सब शब्द शत्रुवाची हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक ही सामाजिक प्रक्रिया थी, जिसने इन चार शब्दों को भद्रार्थ के साथ ही साथ शत्रु-भाव से सम्पन्न किया।

1. रिव्यू दे ल हिस्त्वाय दे रिलीजां, शब्द अर्यमा के अन्तर्गत।
2. बेली—पूर्वोक्त, पृ० 19.
3. चट्टोपाध्याय—पूर्वोक्त, पृ० 151.
4. बनर्जी—पूर्वोक्त, पृ० 4.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भारतीय निरुक्त और व्याकरण-परम्परा इस समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डालती है। निरुक्त (5.7) का कथन—अरिरमित्र ऋच्छते। ईश्वरोप्यरिरेतस्मादेव, √ऋ=हिंसायां से अमित्र (शत्रु) अर्थ का वाचक अरि व्युत्पन्न होता है। इसी से ईश्वर (स्वामी) के अर्थ में अरि शब्द भी व्युत्पन्न होता है।[1] किन्तु यह प्रश्न अनुत्तरित ही छूट जाता है कि एक ही ऋ=हिंसायां धातु से व्युत्पन्न होते हुए भी यह विरुद्धवाची क्यों है?

भारतीय परम्परा अरि का भद्रार्थ ईश्वर-स्वामी और कुत्सितार्थ शत्रु करती है। प्रसंग से ऋग्वेद के कुछ स्थलों में अरि समूहवाची प्रतीत होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण पूर्वोक्त ऋचा 10.28.1 है, जिसमें कहा गया कि "विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम"—'सभी अन्य अरि आ गये'। ऋग्वेद 1.4.6 में भी अरि समूहार्थक है—"उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुः"। सायण भी अरि को यहाँ एकवचन होते हुए बहुवचन के रूप में व्याख्यात करते हैं। इसी प्रकार 'एदरिः' (ऋ० 1.9.10)—'भी अरि' भी समूह इंगित करता है। कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ अरि का समूहवाचकत्व निर्णीत नहीं हो पाता है, उसके व्यक्तिवाचक होने की सम्भावना रह जाती है।

अरि का साधारण अर्थ नेता, स्वामी प्रतीत होता है जो भारतीय भाष्य-परम्परा द्वारा समर्थित है। इस संदर्भ में ऋ० 9.79.3 विशेषतः विवेचनीय है[2] :—"उत स्वस्या अरात्या अरिर्हि ष उतान्यस्या अरात्या वृको हि षः"। "वह चाहे हमारे अरातियों (शत्रुओं) का अरि (स्वामी) हो अथवा अन्यों के अरातियों का (अरि हो), वह भेड़िया है।" यहाँ उन ऋचाओं का भी अध्ययन कर लिया जाय जहाँ अराति के अर्थ का उल्लेख हुआ है। "तपन्ति माघा अर्यो अरातयः" (ऋ० 6.59.8)—विनाशक अराति अरिवृन्द हमें कष्ट न दें, "उप द्रव ..... अघा अर्यो अरातयः" ऋ० 6.48.16—हे पूषा, विनाशक अराति अरिवृन्द को बाधित करो, "विश्वा अरातयो यो नशन्त" (ऋ० 10.133.3)—सम्पूर्ण अराति अरिवृन्द नष्ट हो जावें। यहाँ अराति शब्द ऐसे वर्ग का द्योतन कराता है, जिससे शत्रुता है तथा अरिवृन्द उस वर्ग के नेतृ-उपवर्ग को अभिहित करता प्रतीत होता है।[3]

1. अरिः। ऋ गतौ। 'अच इः (उ० सू० 4.578) इति इकार प्रत्ययः। गुणो रपरत्वम्।
—ऋग्वेद 1.9.10 पर सायण-भाष्य।
2. थीमे (डेर फ्रेंडलिन, पृ० 45-47) और बनर्जी (स्टडीज इन दी ब्राह्मणज, पृ० 5-7) में इसका विवेचन है किन्तु यहाँ प्रस्तुत व्याख्या भिन्न है।
3. गेल्डनर (वेदिशे स्टूडियेन, 3, पृ० 91) में अराति को कास्ट (जाति या वर्ग) के अर्थ में लेते हैं। किन्तु शत्रु-वर्ग या शत्रु-समूह ही अर्थ समीचीन है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस प्रकार 'अरि' के सम्बन्ध में दो वर्ग मिलते हैं। स्वकीय वर्ग तथा अन्य वर्ग अथवा अराति वर्ग। स्वाभाविक है कि स्वकीय वर्ग का अरि-नेता अथवा स्वामी श्लाघ्य है और इसके विपरीत अन्यों का विशेषत: शत्रुवर्ग का नेता अथवा नेतृवर्ग निन्दनीय है। इस विधि से अरि के विरुद्धार्थों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

इस अर्थ का किंचित् विस्तार से अध्ययन अपेक्षित है। अरि उक्थ-ज्ञाता है—"उक्थं चन शस्यमानमगोरररिरा चिकेत" (ऋ० 8.2.14)–'बिना गाते हुए भी अरि गाये जाने वाले उक्थ को जानता है।" सोमाभिषव के समय अरि इन्द्र के पराक्रम की प्रशंसा करता है—"सुते सुते न्योकसे वृहद्वृहत एदरिः। इन्द्राय शुभमर्चति" (ऋ० 1.9.10)। अरि श्रद्धावान् है—"अयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत्" (ऋ० 10.39.5), 'हे नासत्यो! यह अरि श्रद्धा रखता है"। अरि के द्वारा स्तुत होने पर वरुण अन्न देता है—"वरुणः सुकीर्तिरिषश्च पर्षदरिगूर्तः सूरिः" (ऋ० 1.186.3)–"अरि के द्वारा आहूत (गूर्त) होने पर कीर्तिमान् एवं विद्वान् वरुण इष (अन्न, धन) देता है।" मित्र वरुण आदि देवगण जनों को तब सम्पत्ति देते हैं, जब उनसे कहता है :—"मित्रस्तन्नो वरुणो देवो अर्यः प्र साधिष्ठेभिः पथिभिर्नयन्तु। ब्रवद्यथा न आदरिः सुदास इषा मदेम सह देवगोपाः" (ऋ० 7.64.3)। "जैसा अरि ने कहा (वैसा आप करें जिससे हम लोग आपके द्वारा प्रदत्त) धन से हर्षित हों।" यही भाव ऋ० 1.4.8 में है, जहाँ कहा गया कि 'अरिगण ने जो सुभग माँगा (उस माँगने से हम) कृष्टीगण इन्द्र के घर में रहें (इन्द्र के घर में प्राप्त सुख को प्राप्त करें) ऋ० 1.4.6 अरि के द्वारा स्तुत होने पर इन्द्र मनुष्यों को वरणीय धन देते हैं : "शेवारे वार्या पुरु देवो मर्ताय दाशुषे ····· अरिष्टुतः"। यह सन्दर्भ और आगे बढ़ता है जब अरि को अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न बतलाया जाता है। सूर्य की सप्तरश्मियों से अरि ने अन्न और रस का दोहन किया—"अधुक्षत्पिप्युषीमिषमूर्ज सप्तपदीमरिः। सूर्यस्य सप्तरश्मिभिः" (ऋ० 8.72.16)। यह अलौकिक शक्ति उसे देवों से मिलती है। देव उसके पास जाते हैं—"स जिह्वया चतुरनीक ऋंजते चारु वसानो वरुणो यतन्नरिम्"[1] (ऋ० 5.48.5)—वह चारों दिशाओं में प्रसृतज्वाल होता हुआ, अपनी जिह्वा से अपने को अलंकृत करता हुआ अरि के पास जाता है। इस ऋचा के आगे का अंश भी महत्त्वपूर्ण है—'न तस्य विद्म पुरुषत्वता वयं यतो भगः सविता दाति वार्यम्'—

1. तुलनीय—"ययते भीम ऋंजन् उच्छुक्रमत्कमजते" (ऋ० 1.95.7)। यत् धातु जाने के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। द्रष्टव्य—'दिवि स्वनो यतते भूम्योपरि' (ऋ० 10.7.3), 'वैश्वनरो यतते सूर्येण' (ऋ० 1.98.1)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'पुरुष होने के कारण उसका यह (रहस्य) भेद हम लोग नहीं जानते हैं, जिससे भग-सविता वरणीय धन देते हैं' । इससे इंगित होता है कि अरि के पास देवदत्त अलौकिक शक्ति है, जिसके प्रयोग से देव वरणीय धन देता है और जिस शक्ति के रहस्य को जनसाधारण नहीं जान पाता ।

इस सन्दर्भ को आगे बढ़ाता है ऋग्वेद 1.150.1, जिसका स्पष्ट निर्वचन अपेक्षित है—"पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा । तोदस्येव शरण आ महस्य" । इस मंत्र की सायण आदि भाष्यकारों ने तो व्याख्या की है, यास्क और दुर्ग आदि नैरुक्तों ने भी समझने का प्रयत्न किया है । यास्क का कथन है कि "बहु दाश्वां स्त्वामेवाभिह्वयामि । अरिरमित्र ऋच्छतेः । ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव । यदन्यदेवत्या अग्ना बाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैव मवक्ष्यत । ····तुदस्येव शरणेऽधिमहतः (नि० 5.7)—"मैं जो कि उदार दानी हूँ केवल तेरा आवाहन करता हूँ । अरि का अर्थ है अमित्र, यह $\sqrt{\text{ऋ}}$ (हानि पहुँचाना) से व्युत्पन्न है । स्वामी भी उसी धातु से अरि कहलाता है । यह देखकर कि अन्य देवताओं को प्रदान की गई आहुतियाँ अग्नि में होम दी जाती हैं, यह कहा कि "जैसे किसी विशाल तोद में किसी विशाल विवर के मुख में" । निरुक्त के अनुवादक डॉ० लक्ष्मणसरूप ठीक ही कहते हैं कि यास्क की यह व्याख्या भ्रान्तिपूर्ण है ।[1]

सायण की व्याख्या कुछ भिन्न है । वे अरि का अर्थ सेवक करते हैं—'अरिः अर्ता हविरादि प्रापणेन सेवकोऽहम्' । तोद का अर्थ उनके अनुसार दाता और स्वामी है । उनकी व्याख्या का सारांश है कि 'अग्नि मैं तेरा अरि (सेवक) हूँ, उसी प्रकार जैसे किसी गृह-स्वामी के गृह-स्थित अनेक दास आदि हैं ।'

इस ऋचा में 'तोद' और 'शरण' शब्द अन्वेष्टव्य हैं । यास्क के अनुसार तोद का अर्थ है विवर, इसका समर्थन दुर्गाचार्य भी करते हैं । सायण इसकी व्याख्या 'शिक्षकस्य स्वामिनः' से करते हैं । देवराज यज्वा तोद को $\sqrt{\text{तुद्}}$=व्यथने से व्युत्पन्न कर इसका अर्थ गृहपति करते हैं ।[2] ऋग्वेद में इस उल्लेख के अतिरिक्त चार प्रसंग हैं और उन सबमें तोद का अर्थ गृहपति अथवा शासक प्रासंगिक प्रतीत होता है । ऋ० 6.12.1 में 'मध्ये

1. लक्ष्मणसरूप निघण्टु तथा निरुक्त (हिन्दी अनुवाद) पृ० 355.
2. तुद्यते पुत्रपौत्रादिभिः स्वसमीहित साधनायं । तुदेर्घञ् । यद्वा देवसेवमेवादयः पचादौ द्रष्टव्याः इति पचाद्यच् । तुदति प्रेरयति कार्येषु कर्मकारानिति तोदो गृहस्थः । निघण्टु, 4.2.34.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होता दुरोणे बर्हिषो राळग्निस्तोदस्य'—'तोद (गृहपति) के दुरोण (घर) में राजा अग्नि' बैठता है। यहाँ 'तोदस्य दुरोणे' की तुलना उपर्युक्त 'तोदस्य शरण' से की जा सकती है। अतः प्रस्तुत ऋचा का अर्थ निम्नोक्त है—

"मैं दानी तुम्हें अनेकधा आहूत करता हूँ। हे अग्नि, मैं तुम्हारा ही अरि हूँ, उसी प्रकार जैसे तोद (गृहपति) का घर होता है।"[1]

यहाँ उपमा है। अग्नि एवं तोद तथा अरि एवं शरण उपमेय-उपमान हैं। दूसरे शब्दों में, जैसे गृहपति गृह में निवास करता है वैसे अग्नि अरि में निवास करता है।

निष्कर्ष यह है कि अरि देवों का आवाहन करने वाला पुरोहित था, जिसमें देवों के द्वारा प्रदत्त ऐसी अलौकिक शक्ति थी, जो ऊर्ज (रस), इष (अन्न) आदि उत्पन्न करती थी और जिसके द्वारा अरि जनसाधारण को वरणीय धन प्रदान करता था। इसी अलौकिक शक्ति के कारण ही उसका वर्ग के ऊपर स्वामित्व था। इन अरियों का अपना उपवर्ग था—ऐसी सम्भावना है। ऋग्वेद में स्वकीय वर्ग के अरि का उल्लेख भद्रार्थक रूप में औ : परकीय वर्ग के अरि का प्रसंग कुत्सितार्थक है।

अरि के अनेक सगोत्र भारोपीय शब्द हैं जिनका अर्थ के प्रसंग में विवेचन किया गया है। अरि की व्युत्पत्ति पर भी विमर्श बाद में किया गया है। यहाँ केवल इतना ही कथनीय है कि अरि का सम्बन्ध 'अर' से है, जिसका प्राथमिक अर्थ था कर्षण-प्रक्रिया में प्रयुक्त तीक्ष्णाग्रकाष्ठदण्ड तथा गौण अर्थ था उत्पादिका-शक्ति।[2] 'अर' से सम्पन्न 'अरि' था।

अर्य : अर्थ-निर्धारण एवं अर्थ-विकास

'अरि' से व्याकरण और सामाजिक प्रक्रिया के कारण सम्बद्ध है 'अर्य'। यह भी एक विवदनीय शब्द है। इसका अर्थ और अर्थविकास स्तरीकरण अथवा वर्गबद्धता की प्रक्रिया का साक्ष्य वहन करता है। वैदिक साहित्य में 'अर्य' शब्द अन्तोदात्त, आद्योदात्त और स्वरित के रूप में उपलब्ध होता है। पाणिनि और कात्यायन के अनुसार (अष्टाध्यायी 3.1.103 और कात्यायन की उस पर वार्त्तिक) इनके अर्थ हैं—'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' और 'स्वामिन्य-अन्तोदात्त त्वम् च'। फिर सूत्र 17 में भी इसी आधार पर कहा

1. 'तोदस्य शरण आ' में शरण की विभक्ति पश्चाद्वर्ती 'आ' के कारण लुप्त है। 'तोदस्य शरणे आ' पदच्छेद पदपाठ में किया गया है जो 'तोदस्य शरणः आ' भी हो सकता है और उपर्युक्त व्याख्या में यही पदच्छेद स्वीकार किया गया है।
2. देखिये आगे, पृष्ठ 103–4.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया—'अर्यस्य स्वाम्याख्यां' और जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास (3.1.103) में कहा है कि 'तत्रेण इह द्वावर्य शब्दावचरितौ। तत्र एक आद्योदात्तः अपरो अन्तोदात्तः। य आद्योदात्तः स वैश्य निपात्यते इतरस्तु स्वामिन् इति।" आद्योदात्त रूप अथर्ववेद संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, जबकि अन्तोदात्त रूप प्रमुख रीति से ऋग्वेद में प्राप्त होता है। 'अर्य' का स्वरित रूप ऋग्वेद में केवल एक बार उपलब्ध होता है। किन्तु बर्जेन आदि विद्वानों ने इस प्रयोग पर भी संदेह प्रकट किया है। उव्वट, महीधर, भट्टभास्कर और सायण ने अन्तोदात्त को 'स्वामी' के अर्थ में, आद्योदात्त को 'वैश्य' और स्वरित को 'स्वामी' अथवा 'वैश्य' अथवा 'धनदाता' के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[1] इस प्रकार अन्तोदात्त रूप आद्योदात्त रूप से पहले मिलता है और क्रमशः आद्योदात्त के प्रयोग में बहुलता और अन्तोदात्त में विरलता होने लगती है। यहाँ तक कि अन्ततः केवल आद्योदात्त रूप ही रह जाता है।

7149

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि 'अर्य' के भारोपीय सजात शब्द भी अन्तोदात्त हैं। यूनानी 'एरिओ' और ईरानी 'अर्य' दोनों का अन्तोदात्त रूप ही मिलता है। अतः साधारणतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'अर्य' की परम्परा भारोपीय काल से भारतेरानी काल में संक्रमण करती हुई पूर्ववैदिककाल तक आती है। उत्तरवैदिककाल में इस परम्परा का अवसान हुआ और आद्योदात्त 'अर्य' का जन्म हुआ।

स्वराघात के विकास की यह सरणि 'अर्य' के अर्थ-परम्परा के समानान्तर ही प्रवहमान है। भारोपीय अन्तोदात्त 'एरिओ', भारतेरानी 'अर्य' और ऋग्वेदीय 'अर्य' का अर्थ 'भू-स्वामी' ही है। यद्यपि यहाँ यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि भारतेरानी 'अर्य' में 'स्वामित्व' के साथ ही 'उच्च कुलीनता' भी द्योतित होती है। इसी उच्च कुलीनता के अर्थ में पहलवी और सासानी भाषाओं में भी 'अर्य' के सजात शब्द 'एर' और 'ईर' भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार ईरान में 'अर्य' का अर्थ-परिवर्तन उस प्रकार नहीं हुआ जिस प्रकार भारत में हुआ।

भारत में 'अर्य' का जो दूसरा रूप मिलता है, उसमें न केवल स्वराघात की भिन्नता

---

1. यद्यपि यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि सायण ने तैत्तिरीय आरण्यक (1.27.6) में आद्योदात्त 'अर्य' का भी अर्थ 'स्वामी' किया है। वैदिक भाष्यकार तथा भारतीय कोषकार निरपवाद रीति से अन्तोदात्त अर्य का अर्थ स्वामी एवं आद्योदात्त अर्य का अर्थ वैश्य करते हैं। तुलनीय—मेरहॉफर का थीमे के आधार पर अर्य—अन्तोदात्त lord, hospitable lord तथा आद्योदात्त अर्य का अर्थ master of the house.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है, अपितु अर्थ में भी भिन्नता है । पाणिनि, कात्यायन, उव्वट, महीधर आदि सभी आद्योदात्त 'अर्य' का अर्थ 'वैश्य' करते हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि स्वराघात में भिन्नता होते हुए भी दोनों शब्द मूलतः एक ही हैं । उन्होंने स्वराघात-परिवर्तन के कारण 'रिसेसिव एक्सेंचुयेशन' अथवा 'वोकेटिव यूसेज' आदि बतलाया हैं । किन्तु 'अर्य' के अर्थ-परिवर्तन के कारणों की ओर विद्वानों का ध्यान अद्यावधि नहीं गया । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस अर्थ-परिवर्तन अर्थात् 'भू-स्वामित्व—उच्च कुलीनता' से 'वैश्य' अर्थ की संक्रान्ति में अन्तःसलिला के रूप से समकालीन सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के बहुमूल्य साक्ष्य छिपे हैं ।

इस प्रक्रिया के बोध के लिए अन्तोदात्त तथा आद्योदात्त 'अर्य' के अर्थ-विश्लेषण की आवश्यकता है । यहाँ हम अन्तोदात्त 'अर्य' पर ही ध्यान केन्द्रित करेंगे । आद्योदात्त 'अर्य' (वैश्य) का अध्ययन अन्यत्र किया गया है ।

जैसे ऊपर कहा गया है कि भारोपीय काल से पूर्व वैदिक काल तक 'अर्य' संमिश्र अथवा विभक्त रीति से 'भूस्वामित्व' और 'उच्चकुलीनता' के अर्थ का द्योतन करता है । यह एक आकर्षक तथ्य है कि प्रसक्त साहित्य का अध्ययन भूस्वामित्व और उच्च-कुलीनता को प्रतीक के रूप से सम्बद्ध करता है । ऋग्वेद तथा ऋग्वेदीय परम्परा में कुल में पुत्रोत्पत्ति और भूमि से सस्योत्पत्ति करना एक ही प्रक्रिया के दो रूप माने गये ।

सस्योत्पति और सन्तानोत्पत्ति : प्रतीक-सादृश्य

वैदिक साहित्य में प्रतीकों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि कर्षण वह प्रक्रिया है, जिसमें वनस्पति का पृथ्वी के साथ उसी प्रकार संयोग होता है, जैसा कि पति का पत्नी के साथ । प्रारम्भ में कर्षण का यह कार्य 'विल्व' अथवा उदुम्बर लकड़ी के तीक्ष्णाग्रदण्ड से सम्पन्न किया जाता था ।[1] क्योंकि बिल्व और उदुम्बर को फलदायक की मान्यता प्राप्त थी । इस प्रसंग में महानग्नी का 'शम्या' से अपने 'कृकवाकु' का रगड़ना उसका वृक्ष के साथ होने वाले संभोग की ओर इंगित करता है ।[2] यहाँ 'शम्या' पृथ्वी के प्रसंग में हल के फाल की ओर और स्त्री के प्रसंग में पुरुष के लिंग की ओर इंगित करता है ।

1. 'महान् वै भद्रो विल्वो महान् पक्व उदुम्बरः' । ऋग्वेद खिल-5.22.10.
2. "महानग्नी कृकवाकुं शम्यया परिधावति । इदं न विघ्न तेजनं शीष्णां भवति धानिका"। ऋ० खिल 10.22.8. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, एस० ए० डांगे—पेस्टोरल सिम्बालिज्म फ्राम दी ऋग्वेद, पृ० 83.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'महानग्नी' को पृथ्वी और स्त्री के प्रतीक के रूप में यहाँ चित्रित किया गया है। उत्पादन अथवा प्रजनन की पूरी प्रक्रिया निम्नोक्त कृषि-कर्म-कल्प में अभिनीत होती थी। इस कल्प में सर्वप्रथम पवित्र वृक्ष की लकड़ी से निर्मित हल में फाल को जोड़कर उसको सोम से अभिसिंचित किया जाता था। सोम-सिंचित होने के अनन्तर इसके धार को 'अश्मन्मयी वाशी' से तेज किया जाता था।[1] इसके पश्चात् इसमें बैलों को जोड़ कर मंत्रों के उच्चारण के साथ भूमि में लीक बनाई जाती थी। इसके अनन्तर वनस्पति (हल) को ग्राम से दूर किसी वन में स्थापित कर दिया जाता था। यहाँ बैल को तो हल से मुक्त कर दिया जाता था, किन्तु हल के फाल को हल में ही लगा हुआ छोड़ दिया जाता था। यहां इस बात की सावधानी रखी जाती थी कि 'उत्स' (सोम-सिंचित हल के फाल) में किसी प्रकार का विकार न आने पावे।

कौषीतकीसूत्र (20.16) में भी हमें कृषि-कर्म-कल्प का ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार हल के फाल को ठीक कर उसमें बैलों को नद्ध किया जाता है। इसके बाद स्वामी कुछ दूर तक भूमि को जोतता है। जब तीन पूर्वी लीकें बन जाती हैं (यहाँ तुलनीय है 'प्रांचं यज्ञं प्रणयता सखायः' ऋ० 10.101.2) तो हल को 'आज्य' और जल से अभिषिक्त किया जाता है। इसके अनन्तर भू-स्वामी और उसकी पत्नी के बीच एक रोचक वार्तालाप होता है। पत्नी अपने पति से पूछती है कि क्या आपने भूमि जोत दी है? पति स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए पत्नी से पूछता है कि तुमने क्या प्राप्त किया? पत्नी उत्तर देती है—धन, ऐश्वर्य, कल्याण, सन्तति, पशु, भोजन आदि। इस वार्तालाप के समय पति अपने हाथ में मिट्टी का ढेला अथवा लोना लिये रहता है, जिसको पत्नी के उक्त उत्तर के अनन्तर लीक के मध्य में स्थापित कर देता है। अभिसिंचित हल को भूमि में ही छोड़ दिया जाता है। इसके पश्चात् दूसरे दिन से नियमित भूमि-कर्षण का कार्य होने लगता है।

---

1. "आ तू षिंचहरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्ययीभिः। परिष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्नि युनक्त"—ऋ० 10.101.10.। यह अश्मन्मयी वाशी (वाशी-व्राशील—वसूला) पुरातत्त्व में हस्तकुठार (hand-axe) के रूप में ज्ञात है। एक कृष्ण सव्यज-निर्मित वाशी कोपिया जिला बस्ती, उत्तर प्रदेश, से उपलब्ध हुई है, जिसमें ईसा पश्चात् द्वितीय शती की लिपि में "बलस्य" उत्कीर्ण है। इस वाशी का प्रयोग इसी प्रकार के कृत्यों के लिए हुआ करता होगा, क्योंकि प्रथमतः सव्यज किसी प्रकार भी दारुच्छेदन आदि कठोर कार्य के लिए अनुपयुक्त है और दूसरे ईसा पश्चात् द्वितीय शताब्दी में बसूले निश्चय ही धातु-निर्मित होने लगे थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अतः यह स्पष्ट है कि पति के हाथ में रखा हुआ मिट्टी का ढेला अथवा लोना भूमि का प्रतिनिधित्व करता है, जो पत्नी के सदृश है। हल पति के सदृश है, जो यह कहता है कि मैंने भूमि को जोत दिया है। इस प्रकार कृषि-कर्म-कल्प और पति-पत्नी के वार्तालाप से हल और पृथ्वी का संयोग स्पष्ट होता है। हमें इसी प्रकार के वार्तालाप का दर्शन विवाह-संस्कार में पति द्वारा पत्नी के केश-कर्म के समय होता है, जिसमें पत्नी अपनी उपलब्धि के प्रसंग में पशु अथवा पुत्र और पशु का उल्लेख करती है।[1]

इस प्रसंग में अथर्ववेद में वर्णित महिलाओं द्वारा पहना जाने वाला स्वर्ण-निर्मित हल के फाल की मणि (ताबीज़) का प्रचलन सर्वथा ध्यातव्य है।[2] ये महिलायें ऐसी ताबीजों को पहन कर प्रार्थनायें करती थीं कि जिस प्रकार हल के फाल से जोती गई भूमि में बीज उगता है, उसी प्रकार मुझमें प्रजा, पशु तथा प्रत्येक प्रकार के अन्न उत्पन्न होवें।"[3] प्राचीन पारसीक परम्परा में भी यही प्रतीक उपलब्ध होता है। वे हल जोतने के समय उन्हीं मंत्रों का उच्चारण करते थे, जिनका उच्चारण वे संभोग के समय करते थे।[4]

कूची, अग्निदेशीय, फारसी और पहलवी भाषाओं में अर-अर्य के उल्लेखों के आधार पर बेली अर्य का अर्थ उच्चकुलजात करते हैं।[5]

इस प्रकार सस्योत्पत्ति और कुलोत्पत्ति कम-से-कम भारतेरानी काल से पूर्व वैदिक काल तक एक ही प्रक्रिया के दो रूप माने गये और 'अर्य' शब्द इससे सम्बद्ध है।

'अर्य' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक समस्यात्मक शब्द है। 'अर्य' की अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। भारतीय वैयाकरण √ऋ=गतौ से 'अर्य' को निष्पन्न मानते हैं। किन्तु भारोपीय सगोत्र शब्दों का अध्ययन इस व्युत्पत्ति का समर्थन नहीं करता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय 'अर' भारोपीय 'अर' से सम्बद्ध है, जिसका प्रयोग

---

1. ए० बी० कीथ—रेलिजन ऐण्ड फिलॉसफी आफ दी वेद ऐण्ड उपनिषद्स, द्वितीय खण्ड, पृ० 390.
2. "वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति। पूर्णो मन्येन मागमद्रसेन सह वर्चसा"। अथर्व० 10.6.2.
3. "यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहति॥" अथर्व० 10.6.33.
4. "शायस्त ल शायस्त, 10.9 एस० बी० ई०, पंचम खण्ड, पृ० 392, पाद-टिप्पणी-2.
5. दी बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टेल ऐण्ड अफ्रिकन स्टडीज़, युनिवर्सिटी आफ लण्डन, खण्ड 23 (1960), पृ० 19.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'हल जोतने' और 'हल' के अर्थ में क्रमशः क्रिया और संज्ञा दोनों रूपों में मिलता है । वाल्दे के अनुसार भारोपीय अर, अरा, अरं यूनानी 'अरो', लैटिन 'अरार', आइरिश 'एरिम' और लिथुआनियन 'अर्ति' शब्दों का विकास 'हल' अर्थ में हुआ है ।[1] उन्हीं के अनुसार क्रिया के रूप में यूनानी 'अरोत्रों', लैटिन 'अरात्रुं', आइरिश 'अर्थर', तोखारी 'आरे' आदि का विकास हुआ । इसी प्रकार ईरानी 'अर', अवेस्तन 'ईर', 'अर' अथवा 'अरं' तथा कव्‌दस 'आर्द' का अर्थ क्रमशः संतान उत्पन्न करना, प्राप्त करना, उत्पादन करना तथा उत्पन्न करना बतलाया गया है ।[2]

भारतीय भाषाओं में अर=चक्रनेमि, आर=सूजा, आरा=कील, अरित्र=पतवार भारोपीय 'अर' से विकसित अर्थ हैं, जिनमें तीक्ष्णाग्रदण्ड के अर्थ में साम्य हैं ।[3] स्पष्ट है कि तीक्ष्णाग्रदण्ड की सहायता से भूमि को जोत कर अन्न का उत्पादन किया जाता था । भूमि से अन्न के उत्पादन और सन्तानोत्पत्ति में एक प्रकार का साम्य स्थापित किया गया है ।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि 'अर्य' का विकास 'अरं' अथवा 'अर' से हुआ है, जिसका अर्थ तीक्ष्णाग्रदण्ड अथवा हल का पूर्वरूप होता है । 'अरं' के विभिन्न अर्थ ऋग्वेद में दिये गये हैं, किन्तु इसका केन्द्रीय अर्थ है 'उत्पादन-सामर्थ्य' । इस उत्पादन-सामर्थ्य में एक अलौकिक शक्ति की अवधारणा उत्पन्न हुई, जिसके प्रति एक श्रद्धा-पूरित विस्मित आस्था का भाव उदित हुआ । अतः ऐसे 'अरं' से सम्पन्न लोगों को 'अर्य' की संज्ञा प्रदान की गई ।

अर : उत्पादन-सामर्थ्य

इस 'उत्पादन-सामर्थ्य' के भाव में अन्तर्निहित है कर्म और उसके माध्यम से उत्पत्ति की शक्ति । कर्म और उत्पादन-शक्ति के साथ ही सम्बद्ध है गर्भ, कुक्षि तथा क्षेत्र आदि में 'प्रजनन-सामर्थ्य' ।

सम्भवतः जनन-सामर्थ्य से सम्बद्ध जनक-स्वामी के अर्थ में भी 'अरं' के विरल प्रयोग ऋग्वेद में हैं—

"सास्मा अरं बाहुभ्यां यं पिता अकृणोत्" (ऋ० 2.17.6)। इसमें इन्द्र को जगत् का 'अरं' और 'पिता' कहा गया है । सायण ने इसमें प्रयुक्त 'अरं' का अर्थ "अरं अलं

---

1. वाल्दे पोकॉर्नी—पूर्वोक्त, 1.78
2. दी बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल ऐण्ड अफ्रिकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लण्डन, खण्ड 23 (1960), पृष्ठ 20
3. रीस डेविड्स—पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, 'अर' और 'आरा' शब्दों के अन्तर्गत ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पर्याप्तो रक्षकत्वेन स्वामी बभूव" किया है । यह 'स्वामी' अथवा 'जनक' अर्थ-प्रसंग में ध्यातव्य है ।

'अरं' का अर्थ जनन-सामर्थ्य उत्पन्न करने वाला आयुध (यंत्र, औजार) भी हुआ करता था । "घर्मेव मधु जठरे सनेरू भगेविता तुर्फरी फारिवारम्" (ऋ० 10.106.8)। यद्यपि यह ऋचा दुर्बोध्य है तथापि इतना स्पष्ट है कि धर्म अर्थात् घट में रखे हुए धन (भग) के साथ पृथ्वी में 'फारिव अरं" का सादृश्य दिखलाया गया है । फारिव को √स्फर, यूनानी 'स्पेरिओ' तथा 'फर्वर'[1]=उर्वर से सम्बद्ध मान कर बीज छिटकना अर्थ किया गया है । सायण 'फारि' को एक आयुध मानते हैं । अतः 'फारिव अरं' का स्वाभाविक अर्थ है—'जोतकर बीज छिटकना' । इस प्रकार घट में मधु अथवा घृत (सायण) के समान ही है, पृथ्वी में जोत कर छिटके हुए बीज । यदि उपर्युक्त ऋचा (ऋ० 10. 101.3 तथा अथर्व० 3.17.2) की "युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्" ऋ० 10.101.3 से तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि दोनों ऋचाओं में खेत को 'कृत योनि' और 'जठर' कहा गया है । एक ऋचा में उपमा के माध्यम से और दूसरे में शब्दशः । दोनों ऋचाओं में बीज-वपन या बीज छिटकने का प्रयोग है और एक ऋचा में 'अरं' तो दूसरे में उसके लिए 'सीर' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इस स्थल पर तो 'अरं' को शब्दशः 'आयुध' ही कहा गया है—

"मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपर्णीं कृणुध्वम् ।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः" ।।
ऋ० 10.101.2.

"आयुधारं कृणुध्वं" का अर्थ सायण करते हैं 'आयुधा आयुधानि सीर युगादीनि अरं अलं कृणुध्वम्" । "अरित्र परणीं नावं कृणुध्वं" के साथ "आयुधारं कृणुध्वं" का सीधा अर्थ है 'अरं आयुध' को चलाओ । इस प्रयोग के साथ तुलनीय है 'कृषन्नित फाल आशितं कृणोति' (ऋ० 10.117.7) । जैसे हल में लगा हुआ फाल के साथ √कृ का प्रयोग हुआ है, वैसे ही 'आयुध, अरं' के साथ √कृ का प्रयोग यहाँ है । 'आयुध अरं' के साथ 'इष्कृणुध्वं' का प्रयोग महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु सायण ने इसका कोई अर्थ नहीं किया है । इष्+√कृ का प्रयोग ऋ० 10.97.9 में है—

"इष्कृतिनमि वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः ।
सीराः पतत्रिणीः स्थन यदामयति निष्कृथ" ।।

1. एम० मेरहॉफर—पूर्वोक्त

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इष्कृती को औषधियों एवं वनस्पतियों की माता कहा गया है और इस प्रसंग में प्रतीत होता है कि यहाँ पर इष्कृती का अर्थ है खेत को साफ करना या खेत में बोने की प्रक्रिया और इस प्रकार 'इष्कृणुध्वं आयुधक्रृणुध्वं' का अर्थ होगा खेत को साफ कर हल चलाना।

'अरमायुध' के रूप और क्रिया के सम्बन्ध में प्रसंगतः प्राप्त कुछ परोक्ष साक्ष्य भी हैं—"अरं नर्मा अतक्षन्' ऋ० 7.7.6 में तक्ष=खोदना क्रिया के साथ 'अरं' का सम्बन्ध 'अरं' को खोदने वाला आयुध द्योतित करता है। उसी प्रकार अथर्ववेद 10.4.4 में है "अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्"। 'अरंघुष' का स्पष्ट अर्थ ज्ञात नहीं है। ह्विटने इसको 'सर्प-दंश-औषधि' मानते हैं। किन्तु 'निमज्य उन्मज्य' में 'अरं' का जमीन में जाना और निकलना जो वर्णित है, उससे ज्ञात होता है कि 'तीक्ष्णाग्रदण्ड' के रूप के आयुध से भूमि को खोदना। इस प्रकार 'अरं' 'सीर' के समान कोई औजार (आयुध) था, जो तीक्ष्णाग्रदण्डयुक्त था, जिससे जमीन खोदकर बीज वपन किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अरं' भारोपीय 'अर' से सम्बद्ध है, जिसका प्रयोग भूमि जोतने और हल के अर्थ में क्रिया और संज्ञा दोनों रूपों में होता था। अतः 'अरं' का अर्थ ऐसा आयुध है, जिसका रूप 'तीक्ष्णाग्रदण्ड' का था जो भूमि को खोदने के अर्थ में काम आता था और इस प्रकार 'कृत योनि' में बीज-वपन के माध्यम से प्रजनन-सामर्थ्य रखता था।

इस प्रकार 'अरं' के 'उत्पादन-सामर्थ्य' से दो अर्थों का विकास हुआ—(1) वाहुल्य-पर्याप्ति, (2) समर्थ और उत्पादक। 'अरं हितो वाजिनाय' ऋ० 10.71.10 में ऐतरेय-ब्राह्मण 1.13 के उद्धरणपूर्वक सायण 'अरं' का अर्थ 'पर्याप्त समर्थो भवति' करते हैं। पर्याप्त के अर्थ में 'अरं' के अनेक प्रयोग मिलते हैं।

इस प्रसंग में ऐतिहासिक काल की चकियों का अध्ययन अत्यन्त रोचक है। इन चकियों के मध्यवर्ती छिद्रों के चतुर्दिक नग्न स्त्री के साथ प्रायः लता-पत्र आदि अंकित हैं (चित्र 1)। कहीं-कहीं इनके अतिरिक्त मानव और पशु आकृतियां भी चित्रित हैं।[1] भारत में चकियों के निर्माण की परम्परा का ज्ञान हमें सिन्धु-सभ्यता के काल से ही होने लगता है। मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा में होने वाले पुरातात्त्विक उत्खननों के परिणामस्वरूप आधा इंच व्यास से लेकर चार फीट व्यास तक की बहुसंख्यक चकियां प्राप्त हुई हैं। इनमें से बड़ी चकियों का निर्माण जहाँ पाषाण से हुआ है, वहीं लघु चकियों के निर्माण के लिए विभिन्न वस्तुओं यथा—पाषाण, सव्यज, सीप आदि का प्रयोग किया

1. जे०एन० बनर्जी—डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० 489.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गया ।[1] इन चकियों पर चित्र अंकित नहीं हैं । ऐतिहासिक काल की चकियों पर बनी स्त्री-आकृतियों के प्रसंग में हड़प्पा से प्राप्त होने वाली एक मृण्मुद्रा उल्लेखनीय है जिस पर एक नग्न स्त्री के चित्र का अंकन किया गया है, जिसके पैर एक दूसरे से अलग और फैले हुए हैं तथा उसके गर्भ से एक पौधा निकलता हुआ दिखाया गया है । प्रारम्भिक गुप्त-कालीन मृण्मुद्रा पर मातृदेवी की प्रतिमा का लगभग इसी रूप में दर्शन होता है । अन्तर केवल इतना ही है कि पौधा को उसके गर्भ से निकलते हुए न दिखलाकर उसके ग्रीवा से निकलते हुए दिखाया गया है ।[2]

इन चकियों के प्रयोजन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । पटना संग्रहालय में सुरक्षित एक चकिया को (जिस पर मौर्यकालीन ब्राह्मी-लिपि में 'विशाख' अभिलेख अंकित है) डॉ० जायसवाल ने 'खिलौने का चक्का' की संज्ञा प्रदान की है । यद्यपि यह चकिया तक्षशिला से प्राप्त होने वाली चकिया के समान है, तथापि इस पर पशु, पौधे अथवा मानव का चित्र अंकित नहीं है । अवश्य ही मध्यवर्ती छिद्र के चतुर्दिक कई पंक्तियों में अलंकरण और ज्यामितिक रेखायें अंकित हैं । डॉ० बनर्जी के अनुसार जायसवाल की उक्त व्याख्या स्वीकार्य नहीं हो सकती है ।[3] कतिपय अन्य विद्वानों ने इन चकियों के दो अन्य प्रयोजनों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । जहाँ कुछ विद्वानों के अनुसार बड़ी चकियों का प्रयोग वास्तु-निर्माण कार्य के लिए किया जाता था, वहीं कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार इनका प्रयोग 'पाषाण-मुद्रा' के रूप में किया जाता था ।[4] किन्तु मार्शल महोदय ने इन चकियों के प्रयोजन के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों सुझावों का खण्डन करते हुए यह मत प्रस्तुत किया है कि ये चकियां वस्तुतः 'योनि' के रूप में निर्मित हैं और 'मातृत्व' तथा 'उर्वरता' का प्रतीक प्रस्तुत करती हैं । डॉ० बनर्जी ने मार्शल के इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि यदि इन चकियों को सैन्धवसभ्यता के लिंगाकार पाषाण-खण्डों के संदर्भ में देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि ये दोनों इतने वास्तविक और स्वाभाविक हैं कि इनके प्रयोजन के सम्बन्ध में कोई अन्य व्याख्या उपस्थित नहीं की जा सकती है ।[5] वास्तव में सैन्धव सभ्यता के 'लिंग' तथा 'योनि' स्वतंत्र रूप से प्राप्त होते हैं

1. तत्रैव, पृ० 169.
2. तत्रैव, पृ० 489.
3. तत्रैव, पृ० 173.
4. तत्रैव, पृ० 169.
5. तत्रैव, पृ० 169.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

और देवत्व के क्रमशः पितृ-पक्ष और मातृ-पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं ।[1] इस प्रकार 'पुंसत्व' और 'प्रसवन' के सिद्धान्त का प्रतीक प्रस्तुत करने के कारण इनका धार्मिक महत्त्व है ।[2]

इस परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक काल की चकियों का अध्ययन अत्यन्त रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है । हमें इन चकियों की प्राप्ति तक्षशिला, कोसम, राजघाट तथा पटना आदि स्थानों से प्राप्त हुई है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन सभी चकियों के मध्य में छिद्र हैं जिनके चतुर्दिक नग्न स्त्री, लता-पत्र, मानव तथा पशु आदि की आकृतियां बनी हुई है (चित्र 1)। सैन्धव चकियों एवं मृण्मुद्रा की नारी आकृतियों से समानता के कारण

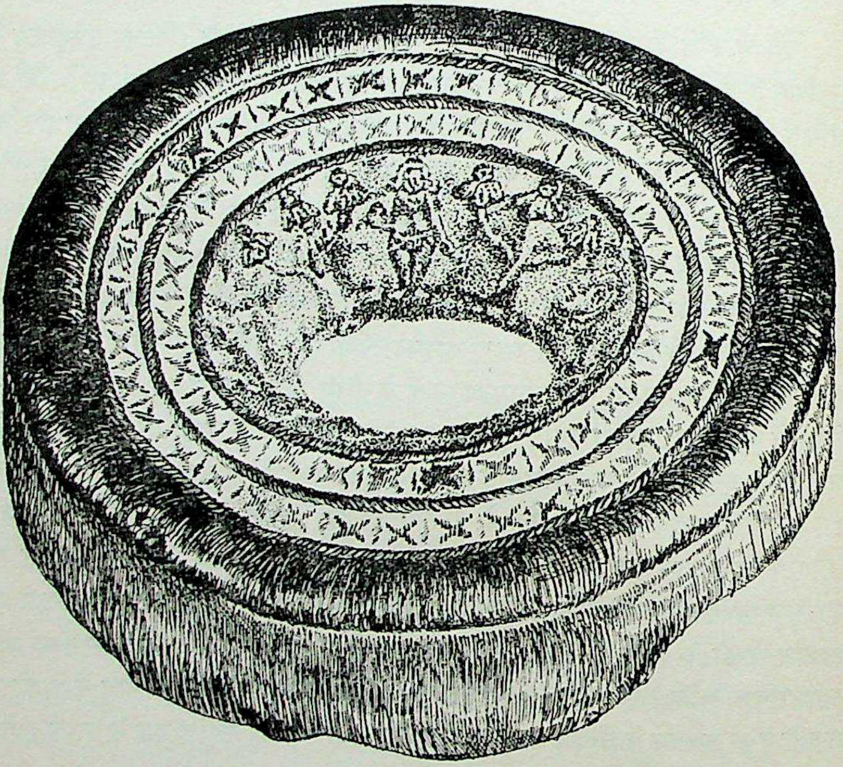

चित्र 1

यह कथन उचित होगा कि ऐतिहासिक काल की चकियां 'प्रजनन' एवं 'उर्वरता' से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हैं ।

1. तत्रैव, पृ० 489.
2. तत्रैव, पृ० 170.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चकियों के प्रयोजन के सम्बन्ध में कोसम्बी का यह अनुमान अत्यन्त तर्कसंगत प्रतीत होता है कि ईसा से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व इन चकियों का प्रयोग एक कृषि-यंत्र के रूप में किया जाता था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उस अतीत काल में इन चकियों को, जो गदामुख से तुलनीय हैं, 'शम्या' अथवा 'अरं' के ऊपर लगाया जाता था, जिससे कर्षण-क्रिया में सुविधा हो सके और इसके भार के कारण भूमि को एक निश्चित गहराई तक जोता जा सके। इस बात की भी अच्छी संभावना प्रतीत होती है कि 'शम्या' पर इसे लगा कर इसके छिद्र द्वारा बीज-वपन का कार्य कुछ उसी ढंग से किया जाता था जिस ढंग से आज कृषक 'डिब्लर' द्वारा बीज-वपन करते हैं। इस छिद्र के चतुर्दिक अंकित होने वाले नग्न स्त्रियों, पौधों, वनस्पतियों, मनुष्यों और पशुओं आदि के चित्र इन चकियों को निश्चित रूप से कर्षण तथा कृषि-कर्म से सम्बद्ध करते हैं। चकियों पर अंकित आकृतियां एकाकी एवं सम्मिलित रूप में प्रजनन एवं उर्वरता की प्रतीक हैं। इस प्रकार ये चकियां 'अरं' की अलौकिक 'उत्पादन-सामर्थ्य' का द्योतन करती हैं। सम्भवतः 'अरं' की इसी अलौकिक 'उत्पादन-सामर्थ्य' के प्रतीक के रूप में आज भी दक्षिण भारत की कतिपय आदिम जातियां इन चकियों को तावीज के रूप में धारण करती हैं।[2]

कर्षण एवं प्रजनन वास्तव में एक ही प्रकार की क्रियायें हैं। चकियों पर अंकित नग्न स्त्री उसी उर्वरता की प्रतीक है, जिसके कारण गर्भ से शिशु और पृथ्वी से सस्य की उत्पत्ति होती है। वैदिक साहित्य में तो अनेकशः कर्षण एवं प्रजनन प्रक्रियाओं के सादृश्य का उल्लेख है। कृषि-कर्म-कल्प में प्रतीकों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि कर्षण वह प्रक्रिया है, जिसमें वनस्पति (हल) का पृथ्वी के साथ उसी प्रकार संयोग होता है, जैसा कि पति का पत्नी के साथ।[3]

चकियों पर अंकित नग्न स्त्रियों के साथ वनस्पति, पुरुष, पशु आदि चित्रों के प्रसंग में कौषीतकी सूत्र 20.16 में उल्लिखित पत्नी की उपलब्धि यहाँ सर्वथा उल्लेखनीय है। यहाँ पत्नी अपनी उपलब्धियों में धन, ऐश्वर्य, कल्याण सन्तति, पशु और भोजन आदि की गणना करती है। चकियों में उकेरे गये चित्र क्या इन उपलब्धियों के दृश्य रूप नहीं हैं ?

चकियों में उकेरे गये सभी प्रतीक कृषि-कर्म से सम्बद्ध हैं। प्रारम्भ में कृषकों द्वारा

---

1. डी० डी० कोसम्बी—साइन्टिफिक अमेरिकन, फरवरी 1967, खण्ड 216, सं० 2, पृ० 107.
2. तत्रैव, पृ० 107.
3. देखिये, पीछे पृष्ठ 103.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इन चकियों का प्रयोग कृषि-यंत्र के रूप में किया जाता था। किन्तु कालान्तर में इन चकियों का प्रयोग कृषि-कर्म-कल्प के प्रसंग में 'उत्पादन-सामर्थ्य' के प्रतीक के रूप में किया जाने लगा। सम्भवतः इन चकियों की अलौकिक 'उत्पादन-सामर्थ्य' में श्रद्धा-पूरित आस्था के कारण ही दक्षिण भारत की कतिपय आदिम जातियां आज उन्हें तावीज के रूप में धारण करती हैं।

'अरं कृ' का केन्द्रीय अर्थ है 'प्रजनन-सामर्थ्य' अथवा उत्पादन-सामर्थ्य।[1] इस प्रजनन-सामर्थ्य अथवा उत्पादन-सामर्थ्य में जहाँ एक ओर अलौकिक शक्ति की अवधारणा उत्पन्न हुई, वहीं दूसरी ओर इसका विकास बाहुल्य, पर्याप्त, सम्पूर्ण आदि के अर्थ में हुआ। ऋग्वेद की कई ऋचाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है। यथा "ज्यायां समस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते।

यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदद्य उ स्वयं वहते सो अरं करत्"॥
ऋ० 5.44.8.

में प्रयुक्त 'अरम् करत्' का अर्थ सायण ने 'फलं अरं अलं करोति' किया है जिसका तात्पर्य फल करने से है। इसी प्रकार तैत्तिरीय-ब्राह्मण में 'अरं' शब्द का प्रयोग 'सम्पूर्ण' के अर्थ में किया गया है।[2]

प्रजनन-सामर्थ्य में उत्पन्न अलौकिक शक्ति की अवधारणा का प्रयोग रक्षा करने तथा अपायों को दूर करने के अर्थ में किया गया। "सास्मा अरं बाहुभ्यां यं पिता अकृणोत्" (ऋ० 2.17.6) में इन्द्र को 'अरं' और पिता कहा गया है। सायण ने इसमें प्रयुक्त 'अरं' का अर्थ 'अरं' अलं पर्याप्तो रक्षकत्वेन स्वामी बभूव' किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद (10.63.6) में 'अध्वरं अरं करत्' का अर्थ सायण ने "यज्ञं अलंकरोति स्तुतिभिर्हविर्भिश्च' किया है। स्पष्ट है कि यहाँ स्तुतियों और हवियों द्वारा अपायों को दूर कर यज्ञ की रक्षा का भाव अभिप्रेत है। इसी प्रकार—

"का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन्दाशेम।
विश्वा मतीरा ततने त्वायाधा म इन्द्र शृणवो हवेमा"॥ ऋ० 7.29.3.

---

1. (अ) "दुरोकशोचिःक्रतुर्न नित्यो जायेव योनावरं विश्वस्मै" ऋ० 1.66.5.
   (ब) "सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषःस होता।
   अन्यस्या गर्भमन्य ऊ जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा।" ऋ० 2.18.2
   (स) ऋ० 8.92.24.
2. "तनुवे त्वदीयाय शरीराय सोमोऽस्माभिर्दीयमान अरं भवति सम्पूर्णं भवति"।
तै० ब्रा० 2.4.3.12

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में प्रयुक्त 'अरंकृति': शब्द का प्रयोग दुष्ट शक्तियों को दूर कर रक्षा करने के अर्थ में किया गया है। अन्यत्र "अरम् कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः। तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै" ऋ० 1.170.4 में सामने अग्नि को जला कर वेदी को सजाने अथवा अलंकृत करने की बात कही गई है। स्पष्टतः यहाँ भी अग्नि को जला कर अपायों को दूर करने तथा इसके माध्यम से अग्नि की वेदी की रक्षा करने का भाव सन्निहित है। वस्तुतः दुष्ट शक्तियों का शमन ही यहाँ यज्ञ की वेदी का अलंकार है। इसी प्रकार "यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्नि दूतो अलंकृतः" अथर्व० 18.2.1 में 'अरंकृतः' शब्द का उल्लेख अपायों को दूर करने के अर्थ में किया गया है। अथर्ववेद के अन्य मंत्रों में भी 'अरंकृतः' शब्द का प्रयोग अपायों को दूर करने के अर्थ में किया गया है।[1] शुक्लयजुर्वेद 25.36 में प्रयुक्त 'अलंकुर्वन्ति' शब्द का अर्थ महीधर ने 'स्व व्यापारेण साधयन्ति' उव्वट ने 'परिरक्षन्ति वा' किया है। इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि इन विघ्नों को दूर करने के लिए कृषिजन्य विभिन्न पदार्थों का प्रयोग किया जाता था। उदाहरणार्थ यज्ञकर्ता के ललाट पर दर्भ घास का प्रयोग[2] अथवा उस वृक्ष की छाल पर, (जिससे यूप का निर्माण किया जाता था) दर्भ घास का प्रयोग[3] अथवा बध्य के नाभि पर दर्भ घास का प्रयोग[4] अथवा शिशु के प्रथम चौल संस्कार के समय उसके बाल में अथवा यज्ञ-पशु के वध के पूर्व उस पशु पर उपर्युक्त घास का प्रयोग[5] दुष्ट राक्षसों को दूर करने के लिए किया जाता था। इस प्रकार दर्भ घास को यज्ञ के अलंकार के रूप में स्वीकार किया जाता था और इसका प्रयोग यज्ञकर्ता, यूप के वृक्ष, बालक अथवा यज्ञ-पशु की रक्षा के लिए किया जाता था। इस प्रसंग में प्रेक्षण-कल्प भी सर्वथा ध्यातव्य है। यह सुविदित है कि इस कल्प का आयोजन यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियों की शुद्धि के लिए किया जाता है।[6] यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियों को फूलों अथवा दूर्वा से अभिसिंचित किया जाता है। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यज्ञ की वेदी के

1. "सप्तप्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
   अया यमस्य सादनमग्नि दूतो अरंकृतः"॥ अथर्व० 2.12.7
2. वाजसनेयी संहिता, 3.62.
3. तत्रैव, 5.42, 6.15.
4. तत्रैव, 5.42, 6.15.
5. शांश्वायन गृह्यसूत्र, 1.28.7, वाजसनेयी संहिता 6.15.
6. एगलिंग द्वारा अनूदित शतपथ ब्राह्मण, 4.182; 5.195, 274. इस प्रसंग में तुलनीय हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निर्माण के समय उसके चतुर्दिक रेखाओं का अंकन भी राक्षसों को यज्ञ की वेदी से दूर भगाने के लिए ही किया जाता है ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रजनन-सामर्थ्य की बहुलता अथवा सम्पूर्णता तथा उत्पादन की अलौकिक शक्ति में अपायों को दूर कर रक्षा करने की क्षमता के कारण ही 'अरं कृ' का प्रयोग शोभाधान के अर्थ में किया गया । इसीलिए न केवल शरीर पर धारण की जाने वाली विविध प्रकार की वस्तुओं को विघ्नों के हटाने अथवा सफलता प्रदान करने के अर्थ में अलंकार की संज्ञा प्रदान की गयी वरन् मंत्रों के उच्चारण से भी इस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती थी और इसीलिए इन मंत्रों को भी 'अलंकृत:' की संज्ञा प्रदान की गई ।[2]

यह एक रोचक तथ्य है कि 'अलंकार' के समानान्तर ही 'भूषण' शब्द का विकास भी क्रमश: प्रजनन-सामर्थ्य, बाहुल्य, पर्याप्त, अलौकिक शक्ति और उसके द्वारा अपायों को दूर कर रक्षा करने के अर्थ में हुआ और इसीलिए कालान्तर में इस शब्द का अर्थ भी शोभाधान के रूप में विकसित हुआ ।

"त्रीणि जाना परि भूषन्त्यस्य समुद्र एकं दिव्येकमप्सु ।
पूर्वामनु प्र दिशं पार्थिवानामृतून्प्रशासद्वि दधावनुष्ठु" ।। ऋ० 1.95.3.

में 'भूषन्ति' शब्द का 'त्रीणि जाना' शब्द के साथ उल्लेख उसके प्रजनन-सामर्थ्य की ओर इंगित करता है । इस ऋचा में अग्नि के तीन जन्म स्थानों (1) समुद्र, (2) आकाश तथा (3) अन्तरिक्ष का उल्लेख किया गया है जो अग्नि को अलंकृत करते हैं । इसी प्रकार ऋग्वेद 1.136.5 में जहाँ समुद्र, जल और आकाश द्वारा अग्नि को आभूषित करते हुए दिखलाया गया है, वहाँ यह भाव निहित प्रतीत होता है कि अग्नि इन तत्वों के मध्य में स्थित है और ये सभी तत्व उस को घेर कर उसकी रक्षा करते हैं । अत: आभूषित का अर्थ यहाँ अपायों को दूर कर रक्षा करने से अभिप्रेत प्रतीत होता है ।

ऋग्वेद की कई ऋचाओं में √ परिभूष् का प्रयोग वृद्धि, बाहुल्य अथवा समृद्धि प्रदान करने के अर्थ में किया गया है । यथा—

"सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत ।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत् श्रिये ।।" ऋ० 9.104.1.

---

1. वाजसनेयी संहिता 1.26, एग्गलिंग द्वारा अनूदित शतपथ ब्राह्मण, खण्ड 3 पृ० 272 तथा खण्ड 6, पृ० 137 में समान रेखाओं के अंकन का उल्लेख है । अत: यह तुलनीय है ।
2. एस० ए० डांगे—डॉ० मिराशी फेलिसिटेशन वालूम, पृ० 94-95.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में कहा गया है कि जिस प्रकार माता-पिता अपने बच्चों को आभूषणों से विभूषित करते हैं उसी प्रकार तुम यज्ञीय हवि आदि से शोभार्थ सोम को अलंकृत करो । इस प्रसंग में भूति अथवा विभूति (राख) का शरीर पर लेप सर्वथा ध्यातव्य है । हमें ज्ञात है कि इसको एन्द्रजालिक शक्ति सम्पन्न होने के कारण विविध प्रकार के अपायों को दूर कर रक्षा करने में समर्थ माना जाता है और इसीलिए इसको 'रक्षा' की संज्ञा प्रदान की जाती है ।

अत. स्पष्ट होता है कि 'अलंकार' और 'भूषण' शब्दों का अर्थ-विकास क्रमशः प्रजनन-सामर्थ्य, बाहुल्य, पर्याप्ति, अलौकिक शक्ति और इस शक्ति के द्वारा विविध विघ्नों को दूर कर रक्षा करने के अर्थ में हुआ जिसके कारण कालान्तर में ये शब्द शोभाधान के अर्थ-बोधक हो गये ।

इस प्रकार 'अर' का अर्थ है ऐसा तीक्ष्णाग्रदण्ड जो फाल के रूप से प्रयुक्त होता था और जिसमें प्रजनन-सामर्थ्य की अलौकिक शक्ति थी । इसी 'अर' से 'अरिओ' शब्द उसी प्रकार बना होगा जैसे अश्व से 'अश्वियो' और उसी 'अरिओ' का विकास 'अर्य' में हुआ ।

'अर' के समान 'अर्य' को भी उत्पादक माना गया। निम्नोक्त ऋचा देखें—'मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्वृधे चिदर्य उपरस्यायोः' (ऋ० 4.2.18)—"मनुष्यों की उर्वशी ने (प्रजा) बनाई तथा उस 'आयु' (पुत्र) को जिसको बीज के रूप से वपन किया गया था, अर्य ने प्रवृद्ध किया" । उर्वशी आदि मानवी मातृशक्ति हैं, आयु (मनुष्य) की जन्मदात्री हैं । मैत्रावरुण के द्वारा वसिष्ठ की उत्पत्ति दैवी रूप की अभिव्यक्ति है और पुरुरवा से आयु की उत्पत्ति प्रथम मानव का उद्भव है ।[1] 'जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः' (ऋ० 10.95.10) । "मानवीय (पुत्र) उर्वशी ने उत्पन्न किया और दीर्घकाल तक 'आयु' का वर्धन—पोषण किया", तथा उर्वशी का वचन "दधाथ म ओजः" है । इन सन्दर्भों में उपर्युक्त 4.2.18 स्पष्ट रीति से 'अर्य' को सन्तान-उत्पादक-ओज से सम्बद्ध करता है । अतः "अरं यं पिता अकृणोत्" ऋ० 2.17.6 में अर के उत्पादन-सामर्थ्य की स्मृति को अनुगुंजित करते हुए 'अर्य' का प्राथमिक अर्थ 'जनक'[2] प्रतीत होता

1. विस्तृत सूचना के लिए द्रष्टव्य ऋ० 10.95 सूक्त, शतपथ ब्राह्मण 11.5.1 आदि । निरुक्त (11.4.1) में उर्वशी का निर्वचन है—'उरुभ्यामश्नुते' । इसके साथ दृष्टव्य है—'दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन' (ऋ० 10.95.4).
2. क्या परवर्त्ती काल में पितामह के लिए प्रयुक्त आर्यक (संस्कृत), अय्यक (पालि), अय्यक (प्राकृत) तथा आर्य (श्वशुर यथा आर्य पुत्र में) एवं पितामही के लिए आर्यका (संस्कृत) अय्यका (पालि) एवं अय्यका (प्राकृत) इसी अर्थ=पिता की परम्परा से निरसृत हुए हैं ? द्रष्टव्य, महादेवीय अयकाय, नासिक अभिलेख, दिनेशचन्द्र सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 188.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है, यद्यपि यह विशेषतः अवधारणीय है कि यहाँ जनकत्व रक्त-सम्बन्ध पर आधृत नहीं, केवल वैचारिक है और जनन-प्रक्रिया की अलौकिक धारणा पर आधृत है । इससे ही विकसित होकर अर्य वह पुरोहित[1] है, जिसके माध्यम से देव अन्न आदि वरणीय धन देते हैं । अर्य के गौण अर्थ अनेक हैं ।

ऋग्वेद में 'अर्य' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं, जिनमें समूह, स्वामी, धनदाता, अन्नदाता, भोजनदाता, पुरोहित, युद्ध में रक्षक एवं शत्रु आदि प्रमुख हैं ।

अर्य—समूह :

"अर्यो विशां गातुरेति प्र यदानड् दिवो अन्तान् । कविरभ्रं दीद्यानः" ऋ० 10.20.4 में 'विशां अर्यः' का तात्पर्य मनुष्यों के समूह के रूप में द्योतित होता है । इसी प्रकार "हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः । अर्यो गिरःसद्य आ जग्मुषीरोस्राश्चाकन्तूभयेष्वस्मे ।" ऋ० 1.122.14 पर भाष्य करते हुए सायण ने अर्य का अर्थ 'विश्वेषां देवानां संघः अर्यः' अर्थात् सभी देवताओं के संघ को 'अर्य' कहा है । स्पष्टतः यहाँ भी अर्य का अर्थ समूह ही है । ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में भी 'अर्य' का उल्लेख 'स्तोता-समूह' के अर्थ में किया गया है ।[2] अन्यत्र धन की प्राप्ति के लिए अर्य (समूह) को संग्राम जीतते हुए दिखलाया गया है ।[3] ऋग्वेद की अन्य कई ऋचाओं में भी 'अर्य' शब्द का प्रयोग 'समूह' के अर्थ में किया गया है ।[4]

'अर्य—'स्वामी, अन्नदाता तथा प्रजापोषक :

ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में 'अर्य' शब्द का उल्लेख स्वामी के अर्थ में किया गया है । यथा—

"आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ अर्य आशिष उप नो हरिभ्याम् ।
इमा हि त्वा मतयः स्तोमतष्टा इन्द्र हवन्ते सख्यं जुषाणाः ।।"

---

1. क्या इसीलिए प्राचीन काल में आर्यान्त नाम ब्राह्मणों के होते थे ? द्रष्टव्य, विन्ध्यशक्ति द्वितीय का वासिम अभिलेख, दिनेशचन्द्र सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 408-409.
2. "तत्सु तो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः ।
   वृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम् ।।" ऋ० 6.45.33.
3. ऋ० 4.20.3.
4. ऋ० 1.185.9, 2.12.4.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋ० 3.43.2 में इन्द्र का आवाहन करते हुए कहा गया है कि हे इन्द्र। तुम समस्त पुरातन प्रजा का अतिक्रमण करके आओ। हमारी प्रार्थना है कि तुम अपने अश्वों के साथ यहाँ आकर सोमपान करो। सायण ने उक्त ऋचा में उल्लिखित अर्य शब्द का अर्थ अमरकोष के 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' को उद्धृत कर 'स्वामी' किया है। इसी प्रकार—

"आ नः स्तुत उप वाजेभिरूती इन्द्र याहि हरिभिर्मन्दसानः।
तिरश्चिदर्यः सवना पुरूण्याङ्गूषेभिर्गृणानः सत्यराधाः"॥

ऋ० 4.29.1 में 'अर्य' शब्द का उल्लेख स्वामी के अर्थ में किया गया है। इस ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र, तुम स्तुतिओं से प्रसन्न होकर अपने अश्वों के साथ हमारी रक्षा के लिए धनवान अर्य के समान हमारे यज्ञ में आओ। ऋग्वेद 4.2.18 में कहा गया है कि अङ्गिरा देवों के गो-समूह के निकट हैं। उनके द्वारा लाई गयीं गौओं से प्रजा समर्थ हुई थी। इस ऋचा में अर्य को स्वामी के रूप में अपने मनुष्यों का पोषण एवं वर्धन करने वाला कहा गया है। एक दूसरी ऋचा में अर्य को धनदाता कहा गया है।[1] अन्यत्र (ऋ० 1.70.1) 'अर्यः इषः वनेम्' में 'अर्य' का 'स्वामी' तथा 'अन्नदाता' अर्थ सुरक्षित है। इसी प्रकार "यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे। इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः"॥ ऋ० 1.81.6 में इन्द्र को 'अर्य' तथा सभी मर्तों को भोजन देने वाला कहा गया है। सायण इस ऋचा में प्रयुक्त 'अर्य' शब्द का अर्थ "स्वामी पालयिता" करता है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आज भी कृषक-समूह के स्वामी अपने कृषि-भूखण्डों पर कृषि कर्म करने वाले कृष्टि को भोजन प्रदान करते हैं। अन्यत्र 'अर्य' शब्द का प्रयोग 'यज्ञानां स्वामी' के अर्थ में किया गया है।[2]

"वहन्तु त्वा रथेष्ठामा हरयो रथयुजः।
तिरश्चिदर्यं सवनानि वृत्रहन्नन्येषां या शतक्रतो॥"

ऋ० 8.33.14 में प्रयुक्त 'अर्य' तथा 'रथेष्ठ' शब्द अत्यन्त रोचक हैं। इसमें 'अर्य' का अर्थ ईश्वर (स्वामी) और 'रथेष्ठ' का अर्थ 'रथ में स्थित' अथवा रथ में बैठा हुआ स्पष्ट है। इस ऋचा में इन्द्र से कहा गया है कि हे वृत्रघ्न और बहुप्रज्ञ इन्द्र, तुम रथ में बैठे हुए ईश्वर (स्वामी) हो। तुम्हारे रथ में जोते हुए अश्व दूसरों के यज्ञों का तिरस्कार करते हुए तुम्हें हमारे यज्ञ में ले आवें। ऋग्वेद 10.148.3 में इन्द्र को रथारूढ़ 'अर्य' कहा गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्राचीन ईरानी समाज के स्वामी अथवा

---

1. ऋ० 10.86.3.
2. ऋ० 4.4.6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शासक वर्ग को अवेस्ता में 'रथेष्ठ' की संज्ञा से संबोधित किया गया है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में अग्नि को 'राजा' और 'अर्य' दोनों कहा गया है।[1] यहाँ भी 'अर्य' का अर्थ 'स्वामी' है। ऋग्वेद 4.38.2 में 'अर्यः विश्व-कृष्टिं राजानं ददथुः' का उल्लेख किया गया है, जिससे 'अर्य-नृपति' का अर्थ बोधित होता है। उपर्युक्त ऋचाओं के अतिरिक्त अन्य बहुत सी ऋचाओं में भी 'अर्य' शब्द का उल्लेख 'स्वामी' के अर्थ में किया गया है।[2]

'अर्य'—पुरोहितः

ऋग्वेद के कई मंत्रों में 'अर्य' शब्द का प्रयोग पुरोहित के अर्थ में किया गया है—

"बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु ।
यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥"

ऋ० 2.23.15 में प्रयुक्त 'अर्य' शब्द का अर्थ सायण ने 'श्रेष्ठो ब्राह्मणः' बतलाया है। इस ऋचा में कहा गया है कि हे ऋत-प्रजात बृहस्पति, जिस धन की 'अर्य' पूजा करते हैं, जो दीप्ति और यज्ञवाला धन सब लोगों में शोभा पाता है, जो धन अपने तेज से दीप्तिवाला है, उसी विचित्र धन को हमें प्रदान करो। ऋग्वेद 5.16.3 में अग्नि को 'अर्य' कहा गया है। इसमें ऋत्विजों द्वारा 'अर्यै' के बलवर्धन की बात कही गई है। इसी प्रकार"—

"अर्यो वा गिरो अभ्यर्च विद्वानृषीणां विप्रःसुमतिं चकानः ।
ते स्याम ये रणयन्त सोमैरेनोत तुभ्यं रथोळह भक्षैः" ॥

ऋ० 10.148.3 में इन्द्र को विद्वान्, स्वामी, मेधावी और ऋषियों की स्तुति की कामना करने वाला कहा गया है। ऋ० 5.33.8 में 'अर्यै' को स्वामी तथा स्तुतिकर्ता कहा गया है।

'अर्य'—युद्ध-रक्षक अथवा योद्धा :

ऋग्वेद में 'अर्य' शब्द का प्रयोग युद्ध-रक्षक तथा योद्धा के अर्थ में भी किया गया है। यथा—

"सखायस्त इन्द्र विश्वह स्याम नमोवृधासो महिना तरुत्र ।
वन्वन्तु स्मा तेऽवसा समीके इ भीतिभर्यो वनुषां शवांसि" ॥ ऋ० 7.21.9

---

1. "इन्धे राजा समयो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।
नरो हव्येभिरीळते सबाध आग्निरग्र उषसामशोचि ॥" ऋ० 7.8.1
2. ऋ० 4.1.7, 4.2.12, 4.48.1, 5.39.9, 5.75.7, 10.27.8, 10.34.13 तथा 10.191.1 इत्यादि ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में इन्द्र को 'अर्य' कहा गया है तथा उससे यह प्रार्थना की गई है कि उसके संरक्षण में हम स्तोता संग्राम में आये अनार्यों को पराभूत कर सकें। इसी प्रकार "उत न एषु नृषु श्रवो धुः प्र राये यन्तु शर्धन्तो अर्यः" ऋ० 7.34.18 में 'अर्य' को धन की प्राप्ति के लिए प्रस्थान करने को कहा गया है। यहाँ प्रस्थान करने का तात्पर्य सम्भवतः युद्ध-प्रयाण से है। अतः इस ऋचा से भी 'अर्य' का सैनिक रूप स्पष्टतः द्योतित होता है। इसी प्रकार एक दूसरी ऋचा में इन्द्र को 'अर्य' तथा शत्रु-बल-विनाशक कहा गया है।[1]

"अध स्मा ते चर्षणयो येदजानिन्द्र त्रातोत भवा वरूता।
अस्माकासो ये नृतमासो अर्य इन्द्र सूरयो दधिरे पुरो नः"॥

ऋ० 6.25.7 में इन्द्र को अर्य, पालक, रक्षक तथा त्राता कहा गया है। अन्यत्र भी अर्य का युद्ध के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है।[2]

"भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनं धनम्।
विश्वा इदर्यो अभिदिप्स्वो 3 मृधो बृहस्पतिर्वि ववर्हा रथाँइव"॥

ऋ० 2.23.13 में बृहस्पति को 'अर्य' कहा गया है। इस ऋचा में अर्य (बृहस्पति) को युद्ध काल में आहवनीय एवं उपासनीय बतलाया गया है। सायण ने उसे "संग्रामेषु रक्षार्थं गमनशीलः" अर्थात् युद्ध में रक्षार्थ जाने वाला कहा है। अतः इससे 'अर्य' का युद्ध-क्षेत्र में रक्षण-कार्य प्रमाणित होता है।

'अर्य'—शत्रु :

कालान्तर में विभिन्न जन-समूहों में स्वार्थ-संघर्ष के कारण शत्रुता के भाव जाग्रत हुए। अतः ऐसे विरोधी वर्गों अथवा उनके स्वामियों के लिए 'अर्य' शब्द का प्रयोग शत्रु के अर्थ में किया गया[3] और विभिन्न देवताओं से उनके पराभव अथवा विनाश के लिए प्रार्थनायें की गईं। यथा ऋग्वेद 9.79.1 में "अरातयो अर्यः नशन्त" कह कर पवमान सोम देवता से उनके विनाश की प्रार्थना की गई। इसी प्रकार—

"ते ते अग्ने त्वोता इषयन्तो विश्वमायुः।
तरन्तो अर्यो अरातीर्वन्वन्तो अर्यो अरातीः"॥

---

1. "ते चिद्धि पूर्वीरभि सन्ति शासा विश्वां अर्य उपरताति वन्वन्।
इन्द्रो विभ्वां ऋभुक्षा वाजो अर्यः शत्रोर्मिथत्या कृणवन्वि नृम्णम्"॥ ऋ० 7.48.3
2. ऋ० 4.24.8, 10.59.3 तथा 10.76.2.
3. ऋ० 4.16.19, 5.33.2 तथा 6.48.16.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋ० 6.16.27 में 'अर्य' शब्द का प्रयोग शत्रु के अर्थ में किया गया है। इस ऋचा में अग्नि से कहा गया है कि हे अग्नि! तुम्हारे स्तोता तुम्हारे द्वारा रक्षित होते हैं, वे सब अभिलाषी होकर सम्पूर्ण आयु और अन्न को प्राप्त करते हैं। वे आक्रमणकारी शत्रुओं को पराजित और विनष्ट करते हैं। एक अन्य ऋचा में 'अर्य' शब्द का प्रयोग शत्रु के अर्थ में किया गया है।[1] इसमें इन्द्र और अग्नि देवताओं से हनन परायण और आक्रमणकारी अर्य (शत्रुओं) के विनाश की प्रार्थना की गई है। अन्यत्र इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि 'अर्य' हमारे धन को न खा जाय अथवा नष्ट न करे।[2] स्पष्ट है कि यहाँ 'अर्य' को धन-भक्षक के रूप में शत्रुवत् आचरण करते हुए दिखलाया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदीय समाज में 'अर्य' न केवल ऐहिक शक्ति-सम्पन्न थे अपितु धार्मिक क्षेत्र में भी वे पुरोहित तथा स्तुतिकर्ता के रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। जहाँ एक ओर हम उन्हें प्रशासनिक एवं व्यावसायिक कार्यों में लगे हुए देखते हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें उपदेशक तथा स्तुतिकर्ता का कार्य करते हुए भी देखते हैं, जिन्हें बाद में क्रमशः क्षत्र, विश् एवं ब्रह्म करने लगे। इस प्रसंग में ऋग्वेदीय समाज में सम्पन्न होने वाले प्रारम्भिक यज्ञों में गृहपति अथवा कृषक-समूह के स्वामी की भूमिका ध्यातव्य है। हमें ज्ञात है कि आर्यों के प्रारम्भिक यज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल तथा सीमित होता था। उनके इन यज्ञों का प्रयोजन प्रजा (पुत्र), गाय एवं भूमि की प्राप्ति तथा शत्रुओं का पराभव मात्र था। परिवार का स्वामी बिना किसी अन्य पुरोहित की सहायता के ऐसे यज्ञों के समुचित सम्पादन में अपने को सर्वथा समर्थ समझता था। अतः ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'अर्य' का पुरोहित के रूप में उल्लेख सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है।

ऋग्वेदीय समाज का स्तरीकरण हमें 'ब्रह्म', 'क्षत्र' और 'विश्' के रूप में मिलता है।[3] कालान्तर में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख हमें पुरुष-सूक्त में मिलता है।[4] ये ब्रह्म, क्षत्र एवं विश् अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी 'अर्य—

1. ऋ० 6.59.8.
2. "वरिष्ठे न इन्द्र वन्धुरेधा वहिष्ठयोः शतावन्नश्वयोरा।
   इषमा वक्षीषां वर्शिष्ठां मा नस्तारीन्मघवन्रायो अर्यः" ।। ऋ० 6.47.9.
3. ऋ० 8.35.16-18.
4. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
   उरुतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शद्रो अजायत् ।।" ऋ० 10.90.12.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं क्योंकि ऋग्वेद में हम अर्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योचित कार्यों को सम्पादित करते हुए देखते हैं। किन्तु बाद का सामाजिक स्तरीकरण ब्रह्म, राजन्य, अर्य और शूद्र के रूप में दिखाई देता है।[1] स्पष्ट है कि दूसरे स्तरीकरण में 'क्षत्र' के स्थान पर 'राजन्य' और 'विश्' के स्थान पर 'अर्य' शब्द का उल्लेख किया गया है। 'अर्य' शब्द का उल्लेख शुक्ल यजुर्वेद 26.2 तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण 26.6.2 में वैश्य के अर्थ में तथा शूद्र के विलोम के रूप में किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कालान्तर में 'अर्य' का पतन हो गया और अब इसका प्रयोग केवल वैश्य के अर्थ में ही होने लगा। अर्य के पतन का मूल कारण राजन्य और क्षत्र—परम्परा का विकास था, जिसके परिणामस्वरूप 'अर्य' के अधिकांश ऐहिक अधिकारों को राजन्य और 'क्षत्र' ने हस्तगत कर लिया।

अरि और अर्य की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

इस प्रकार वैदिक तथा सम्बद्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अर का अर्थ क्रमशः कर्षणयंत्र के रूप से प्रयुक्त तीक्ष्णाग्रकाष्ठदण्ड से प्रजनन-सामर्थ्य में विकसित हुआ और बाद में बाहुल्य भी अभिहित हुआ। 'अरंकृ' के रूप में बाहुल्य, अलंकृति और दारिद्र्य या बाधा-परिहार का भाव उपलब्ध होता है।

यह अर्थ और अर्थ-विकास की प्रक्रिया भारोपीय भाषाओं के प्रमाण से पूर्णतः समर्थित है। इसमें दो चरण हैं। प्रथम चरण में अर का अर्थ तीक्ष्णाग्रदण्ड और द्वितीय चरण में उत्पादन-शक्ति होता है। सुविधा के लिए हम द्वितीय चरण का साक्ष्य देखेंगे जो प्रायः ईरान और मध्य एशिया की भाषाओं से उपलब्ध हुआ।

कूची भाषा का √एर एवं अग्निदेशीय √अर का अर्थ है उत्पन्न करना। आसेटिक भाषा में भी √आर=(सन्तान) उत्पन्न करना और उससे व्युत्पन्न कृदन्त 'आर्द' उत्पन्न सन्तति के अर्थ में व्यवहृत हैं। कव्दस-आर्द (गोष्ठ में उत्पन्न) इसका सुन्दर उदाहरण है। तद्धित रूप में आर्ग का प्रयोग भी द्रष्टव्य है—आर्ग आर्य—बच्चों के प्रसव में।

बेली के अनुसार इसी √अर=उत्पन्न करने का विकास √अर=प्राप्त करने में हुआ। अवेस्ता में प्राप्त अॅरना वि और पश्चातवर्ती अर्त का अर्थ वैभव, श्री है। उनका

---

1. (अ) "यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयास मयं मे कामः समृद्ध्यतामुप मादो नमतु ।।" शु०यजु० 26.2.

(ब) तै० ब्रा० 26.6.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सुझाव है कि ग्रीक 'अर्नुमइ' और 'आर्मीनियन 'अर्नूम' भी इसी √अर से सम्बद्ध हैं और उनका अर्थ प्राप्त करना होता है। वे इसी अर्थ-विकास की प्रक्रिया में जर्मन (अ) जो स्तेज (श्रेष्ठतम उत्तराधिकारी अथवा सन्तति) और आयरिश आयर-अरियक (श्रेष्ठ, उदात्त, नेता) को भी सम्बद्ध करते हैं।

अर से सम्बद्ध अर्थ के विषय में आवेस्तिक और प्राचीन फारसी का साक्ष्य तो देखा ही गया है। सासानी काल की फारसी और पार्थिअन भाषाओं में र्य=(अर्य, पार्थियन), यल्प (फारसी) श्रेष्ठ, अभिजात आदि अर्थों में प्रयुक्त हैं।[1]

दूसरा वर्ग भारोपीय भाषाओं का है, जिसमें अर का अर्थ तीक्ष्णाग्रदण्ड और कर्षण-यंत्र है—यूनानी, अरो, लेटिन अरार, आइरिश एरिम और लिथुआनियन अर्ति है।[2]

इस प्रकार अर=तीक्ष्णाग्रकाष्ठदण्ड—=हल और अर=उत्पन्न करना, प्राप्त करना, अथवा वैभव, श्री, बाहुल्य है।

यह अर्थ-विकास की सरणि उपर्युक्त ऋग्वेदीय साक्ष्य के समानान्तर ही है।

इसी अर से अरि और अर्य शब्द व्युत्पन्न हुए। अरि और अर्य का अर्थ है अलौकिक उत्पादन-शक्ति से युक्त।

---

1. बेली—दी बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, यूनिवर्सिटी आफ लण्डन, खण्ड 23 (1960) पृष्ठ 19.
2. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 8.21.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चर्षणि

व्युत्पत्ति एवं अर्थ

सामान्य जन के यायावरीय जीवन से क्षिति निवास तक की ऐतिहासिक प्रक्रिया जानने के लिए 'चर्षणि' और 'कृष्टि' शब्दों का विशेष महत्त्व है।

ऋग्वेद में 'चर्षणि' शब्द के अनेक बार प्रयोग हुए हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति अद्यावधि संदिग्ध है। निरुक्त इसको √चाय्=दर्शने से निष्पन्न कर चायिता (द्रष्टा) के अर्थ में स्वीकार करता है। इसी प्रकार दुर्ग भी अपने भाष्य में 'चर्षणिः चायिता द्रष्टा बुद्ध्यधिदेवता भावेनावस्थितःसर्वभूतानाम्' में यास्क की व्युत्पत्ति और अर्थ मान लेते हैं। ऋग्वेद के भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी ने भी यास्क का ही अनुनयन किया। किन्तु भट्टभास्कर मिश्र इसकी तीन व्युत्पत्तियां देते हैं, जिनमें एक तो उपर्युक्त यास्क द्वारा दी गई √चाय् से है। किन्तु सिद्धेश्वर वर्मा का यह कथन सत्य है कि यह व्युत्पत्ति अशुद्ध है।[1] भट्टभास्कर मिश्र द्वारा दी गई जो अन्य दो व्युत्पत्तियां हैं, वे विशेष ध्यातव्य हैं।

प्रथम व्युत्पत्ति में वे इसे √चर् से सम्बद्ध मानते हैं और इसके लिए उणादि सूत्र 2.95 का सहारा लेकर 'चर्षणि' का अर्थ 'चरणशील' करते हैं। द्वितीय व्युत्पत्ति में वे उणादि सूत्र 2.97 'कृषेरादेश्च च' (कृष् धातु के आदि में 'च' आदेश होता है) के सहारे चर्षणि को सिद्ध करते हैं और √कृष् से सम्बन्ध जोड़कर चर्षणि को आकर्षित करने वाले के अर्थ में परिगृहीत करते हैं।

व्याकरण की उणादि-परम्परा में चर्षणि को कृष् धातु से सम्बद्ध माना गया और इसे कर्षक, खेतिहर, अर्थ में स्वीकृत किया गया। दशपादी वृत्ति में उक्त है— 'कृषेर्धातोरनिःप्रत्ययो भवति आदेश्च चकारादेशः। .... कर्षति कृषति वा चर्षणिः कर्षकः।'[2]

1. "चर्षणि (णिः R.V. 1.46.4, णिः चायिता, आदित्यः (N. 5.24) 'a seer' an epithet of आदित्य is traced to √चाय् 'to see'. If it is a derivative and not a 'paraphrase' it is unsound, for there is no phonological connection between चर्षणि and √चाय्. But even otherwise the etymology and the sense of the word are obscure"
   सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त, पृष्ठ 76.
2. पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित—दशपाद्युणाति वृत्ति 4 (प० उ० 2/105) पृ० 5.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्वेतवनवासी अपनी उणादि वृत्ति में उपर्युक्त मत का ही उल्लेख कर चर्षणि को सेना, आयु, पुंश्चली और मनुष्य के अर्थों का वाचक मानते हैं ।[1] नारायण भट्ट प्रक्रिया-सर्वस्व में 'कृष्यते कर्मभिः चर्षणिः नरः' लिखकर√ कृष् से इसको व्युत्पन्न और नरवाची स्वीकार करते हैं ।[2] महादेव वेदान्ती 'उणादिकोश' में 'चर्षणिः' का अर्थ 'जन', सामान्य मनुष्य करते हैं ।[3]

इस प्रकार भारतीय व्याकरण की उणादि-परम्परा इस विषय में एकमत है कि चर्षणि का अर्थ सामान्यजन है और इसकी निष्पत्ति 'कृष्' धातु से हुई है ।

यहाँ यह वक्तव्य है कि√चृष् से व्युत्पन्न शब्द प्राकृत भाषाओं में भी उपलब्ध हैं और वहां वे कर्षण से सम्बद्ध हैं । देशीनाममाला में[4] 'चास' का अर्थ 'हलविदारित भूमि-रेखा' दिया गया है । आधुनिक भाषाओं में भी यह शब्द जीवित है । भोजपुरी और मैथिली में 'चास'का अर्थ है हल से भूमि जोतना और बंगला में 'चासी' शब्द का अर्थ 'हलवाहा' अथवा 'मजदूर' होता है । उड़ीसा की मुख्य कृषक जाति का नाम 'चास' है ।[5] इस प्रकार भट्टभास्कर के इस मत का कि चर्षणि√कृष् से सम्बद्ध है, व्याकरण-परम्परा और आधुनिक आर्य-भाषाओं का साक्ष्य समर्थन करता है । उणादि सूत्र के विषय में यह वक्तव्य है कि इस सूत्र के द्वारा उन शब्दों को व्युत्पन्न करने का प्रयास किया गया जो सामान्य सूत्रों से सिद्ध नहीं हो सके । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उणादि सूत्र के अन्तर्गत व्युत्पत्तियां साधारणतः दूरारुढ़ हैं और शुद्ध नहीं । यह बात चर्षणि शब्द के साथ भी है ।

---

1. 251—कृषेरादेश्च चः 2. 105.
   "कृष् विलेखने" अस्मादनिप्रत्ययो भवति धातोरादेश्च चकारादेशः । चर्षणि सेना आयुः पुंश्चली मनुष्यश्च । श्वेतवनवासी-उणादि सूत्र, पृ० 91.
2. उणादिसूत्र, द्वितीयभाग, प्रक्रिया सर्वस्व—'कृषेरादेश्च चः' 2. 103, पृ० 52.
3. 'कृषेरादेश्च चः' । 2. 105 अथो चर्षणिजने 1307 उणादिकोशः— पृ० 47.
   मेरहॉफर 'चर्षणि' का प्राथमिक अर्थ मनुष्य, साधारणजन करते हैं तथा कृष्टि के साथ सम्बद्ध मानते हैं । विशेषण के रूप में इस शब्द का अर्थ चरणशील, क्षिप्रगति करते हैं किन्तु इसकी व्युत्पत्ति अज्ञात बतलाते हैं ।
4. देशीनाममाला, 3.1
5. आर० वी० रसेल—दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दी सेण्ट्रल प्राविन्सेज आफ इण्डिया, खण्ड 2, पृ० 424.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भट्टभास्कर की दूसरी व्युत्पत्ति-प्रक्रिया भी विचारणीय है। वे उणादि सूत्र—2.95 के आधार पर चर्षणि को √चर से सम्बद्ध करते हैं और 'चर्षणयः' का अर्थ 'चरणवन्तः', 'चरणशीलाः' मानते हैं।[1] उणादि सूत्र की परम्परा इसका समर्थन नहीं करती है। किन्तु ऋग्वेदीय साक्ष्य 'चर्षणि' को चरणशीलता के साथ भी सम्बद्ध करता है।

चर्षणि-चरणशीलता

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'चर्षणि' शब्द का उल्लेख चरणशील मनुष्यों के अर्थ में किया गया है। "एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे" ऋग्वेद 8.68.4.में प्रयुक्त 'एवैः' का अर्थ सायण ने 'गमनैः' किया है। इसका पल्लवित अर्थ निरुक्त में है—"महतो वलस्य एवैश्च कामैरधनैर वनैर्वा। चर्षणीनां मनुष्याणां ऊत्या च पथा रथानाम्।"[2] दुर्गाचार्य निरुक्त के भाष्य में ऊत्या का अर्थ 'पथा' देकर इसको और भी स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद 8.70.1 में चर्षणियों के राजा को रथों के माध्यम से आगे-आगे जाता हुआ कहा गया है—"राजा चर्षणीनां याता रथेभिः"। इस प्रसंग में 'रजस्तूर्विश्वचर्षणिः' ऋ० 6.2.2 उल्लेखनीय है। अन्यत्र 'रजस्' का अर्थ नवीन क्षेत्र, लोक तथा राज्य आदि निश्चित किया गया है।[3] अतः 'रजस्तूः' अभिहित करता है—रजों—विभिन्न नवीन क्षेत्रों में गमन करना। क्योंकि यह शब्द विश्व=सर्व, चर्षणिः का विशेषण है इसलिए चर्षणियों का गमन से सम्बन्ध यहां भी संकेतित है। सायण भी यही अर्थ करते हैं—"रजसां लोकानां तरिता गन्ता विश्वचर्षणिः"।

ऋग्वेद 1.7.9 में 'चर्षणीनां' तथा 'पञ्चक्षितीनां" के 'वसु' पर शासन करने का उल्लेख है, जिससे दोनों वर्गों में पार्थक्य अभिहित है। 'क्षितीनां वसुः' का अर्थ तो निश्चय ही निवासियों का धन है। इसलिए चर्षणियों से तात्पर्य गमनशील यायावरों से हो सकता है। 'ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्। अपो याचामि भेषजम्' ऋग्वेद 10.9.5 में प्रयुक्त 'चर्षणीनां' का अर्थ सायण ने 'मनुष्याणां' तथा 'क्षयन्तीः' का अर्थ 'निवासयित्रीः' किया है, जिसका तात्पर्य है कि 'चर्षणि' वर्ग 'क्षयन्ती' वर्ग से भिन्न था। इसलिए ये शब्द क्रमशः यायावर जनों तथा क्षिति में निवास करने वाले लोगों के वाचक हैं। "तमर्केभिस्तं

---

1. "चर्षणयः। चरतेर्धातोः (भू० प०) अर्तिसृधृधम्य श्यवितृभ्योऽनिः (उ० 2.95) इति बहुलवचनादनिप्रत्येषुगागमश्च चरणवन्तः चरणशीलाः।·····इत्यर्थः भट्टभास्कर मिश्रः।" ·····दुर्गाचार्य का भाष्य—निघण्टु, 2.8.
2. निरुक्त, 12.21.
3. द्रष्टव्य, आगे पृ० 177

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सामभिस्तँ गायत्रैर्चणयः । इन्द्रं वर्धन्ति क्षितयः" ऋग्वेद 8.16.9 में चर्षणयः' तथा 'क्षितयः' शब्दों का प्रयोग साथ-साथ किया गया है । सायण ने यहाँ 'चर्षणयः' शब्द का अर्थ 'चर्षणि' शब्द को √चाय् से व्युत्पन्न मानकर 'द्रष्टारो मँत्राणां' किया है । किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'चर्षणि' शब्द की इस व्युत्पत्ति को अशुद्ध माना जाता है ।[1] प्रसंग से 'चर्षणय' शब्द का अर्थ 'चरणशील प्रजा' और 'क्षितयः' का अर्थ क्षिति में निवास करने वाली प्रजा प्रतीत होता है ।

चर्षणि—कर्षणशीलता

इस प्रकार 'चर्षणि' शब्द 'चरणशीलता' से सम्बद्ध दिखायी देता है । किन्तु ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'चर्षणि' शब्द 'कर्षणशीलता' से भी सम्बद्ध दिखायी देता है तथा 'कृष्टि' का समानार्थक प्रतीत होता है । इसीलिए 'कृष्टि' और 'चर्षणि' दोनों शब्दों के लिए कहीं-कहीं एक ही प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ— 'पञ्चकृष्टीः'[2] 'पञ्चचर्षणि'[3], 'पूर्वीकृष्टीः'[4] तथा 'पूर्वी चर्षणीः'[5] । 'कृष्टि' शब्द के अर्थ का विवेचन बाद में किया गया है । 'कृष्टि' का अर्थ मुख्यतः कृषक है। इस प्रकार 'चर्षणि' का यह अर्थ-विकास एक समानान्तर आर्थिक स्थिति के विकास का द्योतन करता है, जिसमें चरणशीलता की वृत्ति कर्षणशीलता की वृत्ति में परिवर्तित हो गयी ।

चरणशीलता और कर्षणशीलता के अन्तरालवर्ती स्थितियों पर प्रकाश डालनेवाली ऋचायें भी ऋग्वेद में उपलब्ध हैं । "इक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीनामुत व्रजमपवर्ता सि गोनाम्" ऋग्वेद 4.20.8. यहाँ 'चर्षणि' के 'क्षय' के उल्लेख के साथ ही 'गोनां'— पशुओं के 'व्रज'—बाड़े का उल्लेख है जो पशुपालनजन्य आर्थिक स्थिति की ओर इंगित करता है ।

'चर्षणि' का अर्थ विभिन्न भाष्यकारों और अवान्तर कोशकारों ने 'नर' अथवा सामान्यजन किया है, जो इसका केन्द्रीय अर्थ प्रतीत होता है और जिससे अन्य अर्थ यथा— सेना, शत्रु आदि निकले । मूलार्थ में तो यह चरणशीलता के भाव से सम्बद्ध है ।

ऋग्वेद 8.2.33 में 'यास्मिन् विश्वाचर्षणयः' का उल्लेख किया गया है । इसका अर्थ है—जिस (शासक अथवा इन्द्र) में सब चर्षणियां (अन्तर्भूत) हैं । सायण की व्याख्या

1. सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त, पृ० 76.
2. ऋ० 4.38.10, 10.178.3 तथा अथर्व० 3.24.3, 12.1.42.
3. ऋ० 5.86.2, 7.15.2 तथा 9.101.9.
4. ऋ० 8.62.2.
5. ऋ० 3.43.2, 5.86.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समुचित प्रतीत होती है— "यस्मिन् इन्द्रे सर्वाः प्रजाः वर्तन्ते, यदधीना भवन्ति"— जिसके अधीन समस्त प्रजा है। ऋग्वेद 1.17.2 में इन्द्र और वरुण को तथा ऋग्वेद 5.67.2 में वरुण और मित्र को चर्षणियों का धारक (धर्तारा चर्षणीनां) कहा गया है। यहाँ धारक का तात्पर्य रक्षक ही प्रतीत होता है। यहाँ विचारणीय है कि शासक (अथवा मित्र-वरुण) का यह धारकत्व किस प्रकार का है? क्या वह बाह्य आक्रामकों से अपनी प्रजा की रक्षा करता है अथवा अपने कुशल प्रशासन से अपनी प्रजा के सुख एवं ऐश्वर्य में वृद्धि करके उसका धारक सिद्ध होता है? प्रसंग से दूसरा ही भाव सही प्रतीत होता है। सायण की व्याख्या है—"मनुष्याणां योगक्षेमसम्पादनेन धारयितारौ"। यह अर्थ ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा—"राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव" ऋ० 1.32.15—राजा अपनी चर्षणियों को अपने बीच में उसी प्रकार धारण करते हुए निवास करता है जिस प्रकार चक्रनेमि अराओं को व्याप्त करती है,[1] से समर्थित होता है। ध्यातव्य है कि चक्रनेमि के ऊपर ही अराओं की स्थिति निर्भर रहती है। सम्भवतः प्रजा की स्थिति भी इसी प्रकार राजा पर निर्भर होती है।

चर्षणि—सामान्यजन

ऋग्वेद में 'चर्षणी' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है, जिनमें प्रजा,[2] साधारणजन, शत्रुभूतजन[3] अथवा शत्रुसेना[4] आदि अर्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। "आशुं दूतं विवस्तो विश्वा यश्चर्षणीरभि। आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशे विशे" ऋग्वेद 4.7.4 में प्रयुक्त 'विश्वाः चर्षणी' का अर्थ सायण में ने 'सर्वाः प्रजा' किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि जो अग्नि समस्त प्रजाओं को अभिभूत करते हैं, उन्हीं शीघ्रगामी यजमान के दूत, केतु स्वरूप और दीप्तिमान् अग्नि का आनयन समस्त प्रजाओं के लिए मनुष्यगण करते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस ऋचा में 'चर्षणी', 'आयव' और 'विश्' तीनों शब्दों का प्रयोग एक साथ किया गया है। सायण ने 'चर्षणी' का अर्थ 'प्रजाः', 'आयव'

---

1. "स एवेन्द्रः मनुष्याणां राजा भूत्वा निवसति। तानि व्याप्तवान्। यथा रथचक्रस्य परितो नेमिः अरान् कीलितान् व्याप्नोति तद्वत्।" ऋ० 1.32.15 पर सायण-भाष्य।

2. ऋ० 1.109.6, 1.127.2, 3.10.1, 3.62.6, 4.8.8 आदि।

3. ऋ० 1.86.5.

4. ऋ० 8.1.2, 8.19.35 तथा 10.103.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का अर्थ मनुष्या:' और 'विश:' का अर्थ 'प्रजा:' किया है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[1] में प्रयुक्त 'चर्षणीसहं' का अर्थ सायण ने 'सर्वेषां मनुष्याणां' किया है । इस ऋचा में कहा गया है कि हे इन्द्र, तुम्हारा जो अतिशय साधक कर्म है, वह हम लोगों की रक्षा के लिए हो । तुम्हारा कर्म सब मनुष्यों को अभिनव करने वाला है । वह शुद्ध है और युद्ध में दूसरों के द्वारा अनभिभवनीय है । इसी प्रकार ऋग्वेद 6.31.5 में प्रयुक्त 'चर्षणिभ्य:' शब्द का अर्थ सायण ने 'प्रजाभ्या:' किया है । इस ऋचा में कहा गया है कि हे प्रख्यात इन्द्र, प्रजाओं के मध्य में हमें प्रख्यात करो । ऋग्वेद 10.180.3 में प्रयुक्त 'चर्षणीनां' का अर्थ सायण ने 'मनुष्याणामस्माकम्' किया है । इस ऋचा का अर्थ है कि हे इन्द्र, तुमने ऐसे तेज को लेकर जन्म धारण किया है, जिसके द्वारा दूसरों के अत्याचार का निवारण होता है । तुम मनुष्यों की कामनाओं को पूर्ण करते हो और शत्रुवत् आचरण करने वाले लोगों को दण्डित करते हो । तुमने देवताओं के लिए लोक (स्वर्गलोक) का विस्तार किया है । इसी प्रकार ऋग्वेद की अन्य ऋचाओं[2] में भी 'चर्षणी' शब्द का प्रयोग 'प्रजा', 'मनुष्य' अथवा सामान्यजन' के अर्थ में किया गया है ।

चर्षणि—विविध प्रकार

'चर्षणी' के विभिन्न प्रकारों यथा 'पञ्चचर्षणी'[3], 'पूर्वी: चर्षणी:[4]' और 'शुत्रुभूत चर्षणी' आदि का उल्लेख ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में किया गया है। "य ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम् । य: पञ्चचर्षणीरभि रयिं येन वनामहै" ।। ऋग्वेद 9.101.9 में प्रयुक्त 'पञ्चचर्षणी' शब्द का अर्थ सायण ने 'पञ्चजनान्निषाद पञ्चमांश्चतुरो वर्णान्' किया है । अत: यहाँ 'पञ्चचर्षणी' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद के लिए किया गया है । इस ऋचा का अर्थ है कि सोम, तुम्हारा जो ओजस्वी तथा चमत्कारपूर्ण रस है, उसको तुम क्षरित करो । वह रस पांचों जनों के पास रहता है ।

---

1. ऋग्वेद : 5.35.1.
2. ऋग्वेद : 6.18.1, 6.30.5, 6.21.1, 8.16.1, 8.23.7, 8.60.17, 8.64.4, 8.96.18, 8.92.1, 8.93.16, 8.70.1, 10.126.6, 10.134.1 आदि ।
3. ऋग्वेद 5.86.2, 7.15.2 तथा 9.101.9.
4. ऋ० 3.43.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उस रस से हम धन को प्राप्त करें। "यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे। कविर्गृहपतिर्युवा" ऋग्वेद 7.15.2 में प्रयुक्त 'पञ्चचर्षणीः' शब्द का अर्थ भी सायण ने 'पञ्चजनान् मनुष्यान्' किया है। इस ऋचा में कहा गया है कि प्राज्ञ, गृहपालक और नित्यतरुण अग्नि पञ्चजनों—(चार वर्णों और निषाद) के घरों में बैठते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद की अन्य ऋचाओं[1] में भी 'पञ्चचर्षणी'[2] शब्द का उल्लेख पञ्चश्रेणी (चार वर्ण एवं निषाद) के अर्थ में किया गया है। यहाँ कहा गया है कि जो इन्द्र और अग्नि दुष्टों अर्थात् शत्रुओं से अनभिभवनीय हैं, जो संग्राम में या अन्न के विषय में स्तवनीय हैं तथा जो पञ्चश्रेणी के मनुष्यों की रक्षा करते हैं, उन दोनों महानुभावों का हम लोग स्तवन करते हैं।

"आ याहि पूर्वीरति चर्षणीरां अर्य" ऋग्वेद 3.43.2 में प्रयुक्त 'पूर्वीः चर्षणीः' शब्द का अर्थ पुरातन प्रजा ही प्रतीत होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'अर्य' और 'चर्षणी' दोनों शब्दों का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। सायण ने 'अर्य' का अर्थ 'स्वामी' तथा 'पूर्वीः चर्षणीः' का अर्थ 'सर्वाः प्रजाः' किया है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि इसी प्रकार ऋग्वेद 8.62.2 में 'पूर्वीकृष्टीः' का प्रयोग पुरातन प्रजा के अर्थ में किया गया है। सायण ने भी 'पूर्वी कृष्टीः' का अर्थ 'पूर्वतन्यः प्रजाः' किया है।

ऋग्वेद में कहीं-कहीं 'चर्षणी' शब्द का प्रयोग 'शत्रुभूत जन' अथवा 'शत्रु' के अर्थ में किया गया है। "विश्वा यश्चर्षणीरभ्याइ सा वाजेषु साहसत्" ऋग्वेद 5.23.1 में प्रयुक्त 'विश्वाःचर्षणीः' का अर्थ सायण ने 'सर्वान् मनुष्यान् शत्रून्' किया है। इस ऋचा

---

1. ऋ० 1.86.5, 5.23.1, 6.46.6, 7.94.7, 8.1.2, 8.19.35, 10.103.1.

2. पंकुसॅ-पञ्च शब्द पर अनेक शोध-पत्र लिखे गये। ए० गॉत्ज, वि० वि० इवानोव, जोहन फ्रेडरिख, पोलोमे, जमेरेन्यी आदि ने बीसवीं शती के उत्तरार्ध में इसके व्याकरण और अर्थ-निर्धारण के विविध प्रयास किये। प्रो० पोलोमे के इस प्रस्ताव में काफी वजन है कि पुराभारोपीय पेंक्वे-पंच शब्द का अर्थ सम्पूर्ण है। और इस सम्पूर्णता का आधार है। हाथ में पाँच ही अंगुलियां हैं और इसलिए पंच का अर्थ सम्पूर्णता है। नैषधकार हर्ष ने अवान्तर काल में 'प्रपंचवाची खलु पंच शब्दः" में इसी की स्मृति का अनुगुंजन किया। पंचानन=सिंह का अर्थ विशाल होता है। विनफ्रेड पी० लेहमन—लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर ऐज डायक्रिटिक एवीडेंस आन् प्रोटोकल्चर, इण्डोयोरोपियन ऐण्ड इण्डोयोरोपियन्स, पृष्ठ 3—4

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में कहा गया है कि अग्नि, तुम मुझ द्युम्न ऋषि के लिए एक बलशाली तथा शत्रुविजेता पुत्र प्रदान करो जो स्तोत्र से युक्त होकर संग्राम में निखिल शत्रुओं को अभिभूत करे। ऋग्वेद 1.86.5 में प्रयुक्त 'विश्वा: चर्षणी:' शब्द का अर्थ भी सायण ने 'सर्वान् शत्रु-भूतान्मनुष्यान्' किया है। इसमें कहा गया है कि मरुद्गण समस्त शत्रुभूत मनुष्यों का अभिभवन करते हैं। "त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन्देवेषु हूमहे। विश्वा सु नो विथुरा पिव्दना वसोऽमित्रान्त्सुषहान्कृधि" ।। ऋ० 6.46.6 में प्रयुक्त 'चर्षणीसहं' का अर्थ सायण ने 'चर्षणीनां शत्रुभूतानां प्रजानामभिभुवितारं" किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि हे इन्द्र, तुम देवताओं में सबसे बली और शत्रुभूत प्रजाजनों का अभिभवन करने वाले हो। हम अपनी रक्षा के लिए तुम्हारा आवाहन करते हैं। हे गृहदाता इन्द्र, तुम हमें शत्रुओं के ऊपर विजय प्रदान करो। ऋग्वेद 7.94.7 में प्रयुक्त 'चर्षणी सहं' का अर्थ सायण ने 'चर्षणीनां मनुष्याणां शत्रुभूतानामभिभवतारौ' किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि हे इन्द्र और अग्नि, तुम शत्रुओं को अभिभूत करते हो। तुम अन्न के साथ हमारे पास आओ। कठोर वचन बोलने वाला शत्रु हमारा प्रभु न होवे। इसी प्रकार ऋग्वेद की अन्य कई ऋचाओं[1] में भी 'चर्षणी' शब्द का प्रयोग शत्रु-जन अथवा शत्रु-सेना के अर्थ में किया गया है।

चर्षणियों का शासन

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में चर्षणी के नेता, धारक, राजा और सम्राट् के उल्लेख किये गये हैं। "नेतार ऊ षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा। अति विश्वानि दुरिता राजा-नश्चर्षणीनामति द्विष:" ऋग्वेद 10.126.6 पर सायण का भाष्य है "चर्षणीनां मनुष्याणां राजान: स्वामिनो वरुणादयो देवा: विश्वानि सर्वाणि दुरिता दुरितानि दुर्गमनानि पापफल-रूपाण्यस्मान् अति नयन्तु"। अत: स्पष्ट है कि इस ऋचा में वरुण, मित्र और अर्यमा को मनुष्यों (चर्षणियों) का राजा और कुशल नेता कहा गया है। इन देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे हमें समस्त पापों और शत्रुओं के हाथों से बचावें। "व्रता ते अग्ने महतो महानि तव क्रत्वा रोदसी आ ततन्थ। त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्"। ऋ० 3.6.5 में प्रयुक्त 'जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाँ' पर सायण का भाष्य है—'हे वृषभ वर्षणशील त्वं चर्षणीनां यजमानानां नेता असि फलप्रापकोऽसि'। इस ऋचा में कहा गया है कि हे इन्द्र, तुम सर्वोत्कृष्ट हो। तुम्हारा कर्म महान् है। तुमने यज्ञ द्वारा द्यावापृथिवी को विस्तृत किया है। हे अभीष्टवर्षी अग्नि, उत्पन्न होने के साथ ही तुम यजमानों के नेता

1. ऋग्वेद 8.1.2, 8.19.35, तथा 10.103.1 आदि।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बनो। ऋग्वेद की एक ऋचा[1] में मित्र और वरुण को 'चर्षणीनां धारकौ' अर्थात् मनुष्यों का धारक अथवा रक्षक कहा गया है। अन्यत्र इन्द्र और वरुण को गन्तारा और चर्षणियों का धारक कहा गया है।[2]

"इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव ।।"

ऋ० 1.32.15 में इन्द्र को 'चर्षणियों का राजा कहा गया है। इस ऋचा का अर्थ है कि शत्रु-विनाश के अनन्तर वज्रबाहु इन्द्र स्थावरों, जंगमों, शान्त पशुओं और शृंगी पशुओं के राजा हुए थे। इन्द्र मनुष्यों में राजा होकर निवास करते हैं। जिस प्रकार चक्रनेमि अराओं को धारण करती है, उसी प्रकार इन्द्र ने अपने बीच सभी मनुष्यों को धारण किया था। इसी प्रकार ऋग्वेद 10.89.1 में इन्द्र को नेताओं में श्रेष्ठ तथा चर्षणियों को धारण करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद की एक ऋचा[3] में "मघोनां मंहिष्ठं चर्षणीनां राजानम्" का उल्लेख किया गया है, जिस पर सायण का भाष्य है— हविर्लक्षण धनवतां वः युस्माकं अतिशयेन पूज्यं मनुष्याणां राजानम् इन्द्रम्"। इसका अर्थ हुआ कि हविर्लक्षण धन से युक्त एवं पूज्य इन्द्र मनुष्यों के राजा हैं। एक अन्य ऋचा[4] में "राजाभवो जगतश्चर्षणीनां" का उल्लेख किया गया है। इस पर सायण का भाष्य है—"अपि च त्वं (इन्द्रः) जगतः सम्बन्धिनीनां प्रजानां अधिपति भवसि"। इसका अर्थ हुआ कि हे इन्द्र, तुम जगत्-सम्बन्धी प्रजाजनों के राजा होओ।

ऋग्वेद की एक ऋचा[5] में शासक (वरुण, मित्र और अर्यमा) को चर्षणियों का न केवल राजा और अत्यन्त निपुण मार्ग-दर्शक कहा गया है, वरन् उनसे यह भी प्रार्थना की गई है कि वे हमें समस्त पापों और शत्रुओं से भी बचावें। अतः इस ऋचा से भी शासक

---

1. ऋ० 5.67.2.
2. "गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः। धर्तारा चर्षणीनाम्।" ऋग्वेद 1.17.2 में प्रयुक्त 'धर्तारा चर्षणीनां' का अर्थ सायण ने 'मनुष्याणां योगक्षेमसम्पादनेन धारयितारौ' किया है।
3. ऋ० 5.39.4.
4. ऋ० 6.30.5.
5. "नेतार ऊ षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा।
अति विश्वानि दुरिता राजानश्चर्षणीनामति द्विषः ।।"
ऋ० 10.127.6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का वह धारकत्व प्रमाणित होता है, जिसमें अपनी प्रजा को न केवल पापादि कर्मों से अपितु शत्रु आक्रामकों से रक्षा करने का भाव भी सन्निहित है। इसी प्रकार ऋग्वेद 6.30.5 में इन्द्र को जगत्-सम्बन्धिनी चर्षणियों का राजा कहा गया है—"राजा भवो जगतश्चर्षणीनां"। ऋग्वेद 3.62.6 के शासक का अभिमत फल-प्रदायक रूप स्पष्ट होता है। इस ऋचा में "वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपं" का उल्लेख है, जिस पर सायण का भाष्य है—"मनुष्याणां अभिमतफलवर्षकं व्याप्तरूपं"। अर्थात् शासक अपनी प्रजा को उसका मनोवांच्छित फल प्रदान करता है तथा अपने संरक्षण से उसको व्याप्त कर लेता है, अथवा घेर लेता है।[1] अन्यत्र भी शासक (इन्द्र) को चर्षणियों का नेता और वृषभ[2] कहा गया है। यहाँ भी वृषभ शब्द का अर्थ फलप्रापक ही है।

ऋग्वेद 4.20.8 में शासक (इन्द्र) को न केवल प्रजा के धन और गृह का पर्यवेक्षक (ईक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीनां) वरन् (असुरों से) उसके गो-समूह को उन्मुक्त करने वाला (व्रजमपवर्तासि गोनाम्) भी कहा गया है।[3] इससे शासक द्वारा अपनी प्रजा की सम्पत्ति यथा धन, क्षय और गो-समूह के लिए किये गये संरक्षण-कार्य की पुष्टि होती है। इस ऋचा में इन्द्र को "शिक्षानरः नेतासि"—शिक्षा के क्षेत्र में प्रजाजनों का नेता भी कहा गया है। इतना ही नहीं वरन् शासक अपनी प्रजा की धारणा के लिए शत्रुओं से उसकी रक्षा भी करता था। ऋग्वेद 6.46.6 में "अवसे चर्षणीसहं राजन् हूमहे" का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ है कि हम शत्रुभूत प्रजाओं का अभिभवन करने वाले राजा (इन्द्र) का अपनी रक्षा के लिए आवाहन करते हैं। इसमें राजा का शत्रुओं से अपनी प्रजा की संरक्षा का भाव स्पष्ट है। यह अर्थ सायण के भाष्य—"चर्षणीनां शत्रुभूतानां प्रजानानभिभवितारं त्वाम् रक्षणाय आह्वयामः" से भी समर्थित होता है।

ऋग्वेद 9.101.9 में शासक (सोम) को पंचचर्षणियों—के मध्य निवास करते हुए दिखलाया गया है तथा उससे धन की प्राप्ति के लिए याचना की गई है—"रयिं येनव नामहे"। इसी प्रकार ऋग्वेद 3.37.4 में कहा गया है कि इन्द्र

---

1. ऋ० 10.180.3 में इन्द्र को चर्षणियों का वृषभ (चर्षणीनां वृषभ) कहा गया है जिसका अर्थ है मनुष्यों की कामनाओं को पूरा करने वाला। इसका यही अर्थ सायण के भाष्य—"मनुष्याणां कामानां वर्षितः" से भी समर्थित होता है।
2. "नेता वृषभ चर्षणीनां" ऋ० 3.6.5.
3. ऋ० 4.20.8 में प्रयुक्त "व्रजमपवर्ता सि गोनाम्" पर सायण का भाष्य है "अपि च गवां समूहम् अपवारकः असि"।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सबकी स्तुति के योग्य असीम तेजवाले और मनुष्यों के स्वामी हैं। हम उनकी स्तुति करते हैं।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में चर्षणी के सम्राट् का भी उल्लेख किया गया है। "उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषाइव। महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनां देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ।।" ऋ० 10.134.1 में कहा गया है कि हे इन्द्र तुम उषा के समान द्यावा-पृथिवी को अपने तेज से परिपूर्ण करते हो। तुम महान् से भी महान् हो। तुम चर्षणियों—मनुष्यों—के सम्राट् हो। 'तस्मिन्ना वेशया गिरो य एकश्चर्षणीनाम्। अनु स्वधा यमुप्यते यवं न चर्कृष द्वृषा ।।" ऋ० 1.176.2 में प्रयुक्त 'एकश्चर्षणीनाम्' पर सायण का भाष्य है—"य इन्द्रः चर्षणीनां ज्ञानवतां मनुष्याणाम् एकः एक एव स्थानीयः"। इसका अर्थ हुआ कि इन्द्र मनुष्यों के अद्वितीय अधीश्वर हैं। "त्वामग्ने मनीषिणः सम्राजं चर्षणीनाम्। देवं मर्तासि इन्धते समध्वरे"। ऋ० 3.10.1 में प्रयुक्त 'त्वामग्ने सम्राजं चर्षणीनाम्' पर सायण का भाष्य है—"हे अग्ने त्वाम् प्रजानां अधिपतिं"। इस ऋचा का अर्थ है कि हे अग्निदेव, तुम प्रजाओं के अधिपति और दीप्तिमान् हो। तुम्हें बुद्धिमान् मनुष्य उद्दीप्त करते हैं। इसी प्रकार एक अन्य ऋचा[1] में मनुष्यों के सम्राट् इन्द्र की स्तुति करने के लिए कहा गया है। यह भी कहा गया है कि इन्द्र स्तुति द्वारा स्तुत्य नेता, शत्रुओं के अभिभवकर्ता और सर्वापेक्षा दाता हैं।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से चर्षणियों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों की सूचना मिलती है। ऋग्वेद 6.48.15 में "यथा शता सं सहस्रा कारिषच्चर्षणिभ्यः" का उल्लेख है, जिस पर सायण का भाष्य है—"स च मरुद्गणः यथा येन प्रकारेण शता शतसंख्याकानि धनानि सं सहैव चर्षणिभ्यः मनुष्येभ्योऽस्मभ्यं कारिषत् कुर्यात्"। इसका अर्थ हुआ कि मरुद्गण जिस प्रकार चर्षणियों से सहस्र प्रकार का धन पैदा करवाते हैं। इससे चर्षणियों द्वारा विविध प्रकार के धन पैदा कराये जाने की प्रतीति होती है। इसी प्रकार "मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन्। विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ" ऋग्वेद 1.84.20 में प्रयुक्त "विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ", पर सायण का भाष्य है—"हे मनुष्यहितेन्द्र मन्त्रद्रष्टभ्यः अस्मभ्यं सर्वाणि धनानि च सर्वत आहृत्यस्मत्समीपे कुरु"। इसका अर्थ हुआ कि "हे मनुष्यहितैषी

---

1. "प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः।
   नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ।।" ऋ० 8.16.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इन्द्र, हमें चर्षणियों के माध्यम से सभी प्रकार धन प्रदान करो।" इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि धन-प्राप्ति के लिए चर्षणियों का प्रयोग किया जाता था।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'चर्षणी' शब्द का उल्लेख अर्य, मनीषी, विप्र, विश्, आयव, और पृतना आदि शब्दों के साथ किया गया है। किन्तु अर्थ की दृष्टि से 'चर्षणी' शब्द इनसे भिन्न अर्थ को वहन करता हुआ प्रतीत होता है। "आ याहि पूर्वीरति चर्षणीरां अर्य आशिष उप नो हरिभ्याम्। इमा हि त्वा मतयः स्तोमतष्टा इन्द्र हवन्ते सख्यं जुषाणाः।" ऋ० 3.43.2 में प्रयुक्त 'अर्य' को सायण ने √ऋ=गतौ से निष्पन्न बतलाते हुए इसका अर्थ स्वामी और वैश्य किया है। सायण ने इसी ऋचा में प्रयुक्त 'चर्षणीः' शब्द का अर्थ 'प्रजाः' बतलाया है। इसी प्रकार "अध स्मा ते चर्षणयो यदेजानिन्द्र त्रातोत भवा वरूता। अस्माकासो ये नृतमासो अर्य इन्द्र सूरयो दधिरे पुरो नः" ऋग्वेद 6.25.7 में प्रयुक्त जहां 'चर्षणयः' शब्द का अर्थ सायण ने 'पुरुषाः' किया है, वहीं 'अर्य' शब्द का अर्थ 'प्रापयितारः' किया है, जिसमें श्रेष्ठता का भाव निहित है। ऋग्वेद की एक ऋचा[1] में 'चर्षणयः कृतेभिः आर्यन्ति' का उल्लेख किया गया है। इस पर सायण का भाष्य है— "चर्षणयः मनुष्याः कृतैः कर्मभिश्चार्यन्ति ईश्वरं कुर्वन्ति"। अतः इसका अर्थ हुआ कि मनुष्य अपने कर्मों द्वारा उनको ईश्वर बनाते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ भी 'आर्यन्ति' शब्द में श्रेष्ठता अथवा स्वामित्व का भाव निहित है।

ऋग्वेद की ऋचाओं में 'चर्षणी' को मनीषियों से भिन्न बतलाया गया है। 'त्वामग्ने मनीषिणः सम्राजं चर्षणीनाम्। देवं मर्तास इन्धते समध्वरे" ऋग्वेद 3.10.1 में प्रयुक्त 'चर्षणी' शब्द का अर्थ जहाँ सामान्य प्रजा है, वहीं 'मनीषिणः' शब्द का अर्थ बुद्धिमान् मनुष्य है। इस ऋचा में कहा गया है कि हे अग्निदेव, तुम प्रजाजनों के अधिपति अथवा सम्राट् और दीप्तिमान् हो। तुम्हें बुद्धिमान् मनुष्य उद्दीप्त करते हैं। ऋग्वेद 1.17.2 में 'विप्रस्य' और 'चर्षणीनां' शब्दों का प्रयोग साथ-साथ किया गया है। सायण ने जहाँ 'विप्र' शब्द का अर्थ ब्राह्मण-पुरोहित किया है, वहीं 'चर्षणी' शब्द का अर्थ मनुष्य किया है। अतः स्पष्ट है कि चर्षणी शब्द का तात्पर्य साधारणजन अथवा प्रजाजन से है। इस ऋचा में इन्द्र और वरुण से प्रार्थना की गई है कि मेरे जैसे पुरोहितों की रक्षा के लिए मेरा आवाहन ग्रहण करो। तुम मनुष्यों के स्वामी हो। "त्वां ही इन्द्रावसे विवाचो हवन्ते चर्षणयः शूरसातौ। त्वं विप्रेभिर्वि पणींरशायस्त्वोत इत्सनिता वाजमर्वा॥" ऋग्वेद 6.33.2 में चर्षणयः, 'विप्र' और 'पणी' शब्दों का उल्लेख एक साथ किया गया, है, किन्तु उनके

1. ऋ० 8.16.6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्थ में अन्तर है। सायण ने 'चर्षणयः' का अर्थ 'मनुष्याः',' विप्र' का अर्थ 'मेधावी' और 'पणि' का अर्थ 'असुर' किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि हे इन्द्र, विविध स्तुति रूप वचन वाले मेधावी तुम्हारा आवाहन युद्ध में रक्षा के लिए करते हैं। तुमने असुरों का संहार किया था।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'चर्षणी' का शब्द प्रयोग 'पृतना' से भिन्न अर्थ में किया गया है।[1] ऋग्वेद की एक ऋचा[2] में इन्द्र को 'चर्षणीनां राजा' और 'पृतनानां तरुता' कहा गया है। सायण ने 'चर्षणीनां' का अर्थ 'मनुष्याणां' और 'पृतनानां' का अर्थ 'सेनानां' किया है। अतः इसका अर्थ हुआ कि इन्द्र मनुष्यों के राजा और सेना के तारक हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद 6.72.5 में 'चर्षणिभ्यः' और 'पृतनासहं' का उल्लेख हुआ है जिनका अर्थ सायण ने क्रमशः 'मनुष्येभ्यः' और 'शत्रुसैन्याभिभावकं' किया है।

कृष्टि

व्युत्पत्ति और अर्थ-निर्धारण

सामान्यजन अथवा प्रजा के अर्थ में दो शब्द मिलते हैं—'चर्षणि' और 'कृष्टि'। इसीलिए 'चर्षणि' और 'कृष्टि' दोनों के लिए कहीं-कहीं एक ही विशेषण का भी प्रयोग किया गया है—उदाहरणार्थ—'पञ्चचर्षणीः'[3] 'पञ्चकृष्टीः'[4], 'पूर्वी चर्षणीः',[5] 'पूर्वी कृष्टीः'[6] आदि। चर्षणि शब्द व्युत्पत्ति तथा ऋग्वेदीय प्रसंग-साक्ष्य से 'चरणशीलता' और 'कर्षण' से सम्बद्ध है। यहाँ यह तथ्य अप्रसक्त है कि √चृष् को √चर् अथवा √कृष् से सम्बद्ध करना वैज्ञानिक है अथवा नहीं, जो प्रमुख तथ्य है, वह यह कि ऐसा प्रयत्न वैयाकरणों और भाष्यकारों द्वारा हुआ। इससे इतिहास पर एक नवीन प्रकाश पड़ता है और वह यह है कि चर्षणि चरणशीलता की स्थिति से चलकर कर्षणशीलता की ओर गया। दूसरे शब्दों में 'चर्षणि' शब्द उस काल का शब्द प्रतीत होता है, जब प्रजाजन चरणशील अथवा भ्रमणशील थे। प्रजाजन के लिए 'कृष्टि' शब्द का प्रयोग उस समय

1. ऋ० 5.86.2. 8.70.1,
2. ऋ० 8.70.1.
3. ऋग्वेद : 5.86.2, 7.15.2 तथा 9.101.9.
4. ऋग्वेद : 4.38.10, 10.178.3 तथा अथर्ववेद 3.24.3, 12.1.42.
6. ऋग्वेद : 3.43.2,
6. ऋग्वेद : 8.62.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया गया जब चरणशीलता का ह्रास हुआ और क्षिति-निवास का क्रमशः विकास हुआ। इसका सबसे अच्छा उदाहरण ऋग्वेद 8.16.9 में मिलता है, जहाँ 'चर्षणयः' और 'क्षितयः' शब्दों का उल्लेख एक साथ किया गया है। यहाँ भी 'चर्षणयः' का अर्थ चरण-शील प्रजा और 'क्षितयः' का अर्थ क्षिति में निवास करने वाली प्रजा प्रतीत होता है।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में √कृष् (कर्षणे, जोतने के अर्थ में) से व्युत्पन्न 'कृष्टि' शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है। इसलिए इस शब्द का अर्थ होगा कर्षक-समूह अथवा प्रजाजन।[1] कुछ भारोपीय भाषाओं में कृष्टि के समानार्थक शब्दों का प्रयोग भी साधारण-जन के अर्थ में हुआ है। उदाहरणार्थ यूनानी 'ख्रिस्टियानोस', रूसी 'क्रेस्टजनिन', ओल्ड हाई जर्मन 'क्रिस्टिजानि' और चर्च स्लावी 'क्रिस्टिजनु' शब्दों का प्रयोग साधारणजन के ही अर्थ में हुआ है।[2] यहाँ साधारणजन का तात्पर्य 'कर्षक-समूह' ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद 7.85.3 में प्रयुक्त 'कृष्टीः' और 'अप्रतीनिवृत्राणि' शब्दों का अर्थ सायण ने क्रमशः 'प्रजाः' और 'अन्यैरप्रतिगतानि शत्रुजातानि' किया है। इस ऋचा में कहा गया है कि वरुण और इन्द्र इन दोनों को उनके पुण्यापुण्य विवेक के आधार पर क्रमशः धारण और नाश करते हैं। अर्थात् जहाँ वरुण प्रजा का संरक्षण करते हैं, वहीं इन्द्र दूसरों द्वारा अप्रतिहत शत्रुओं का विनाश करते हैं।[3] इसी प्रकार "सत्राभवो वसुपतिर्वसूनां दत्रे विश्वा अधिथा इन्द्र कृष्टीः" ऋ० 4.17.6 में प्रयुक्त 'कृष्टीः' शब्द का अर्थ सायण ने 'प्रजाः'

---

1. (अ) ऋ० 1.189.3, 3.59.1, 5.1.6 तथा 6.3.1 आदि।
   (ब) 'कृष्टि—(ष्टीः R.V. 3.59.1. ष्टयः विकृष्टदेहाः, (N. 10.22) 'a man' lit. one who can stretch his body. This word, however, probably may be traced to √कृष् 'to cultivate' as P.W. suggests, It originally meant 'agricultural settlement' and subsequently 'man in general'.
   सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त, पृष्ठ 76.
   मेरहॉफर इस शब्द का अर्थ करते हैं मनुष्य, जनसमुदाय, प्रजाति और कबीला। मैले इसका अर्थ गृह-सेवक करते हैं जो सही प्रतीत नहीं होता।
2. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 8.11.6.
3. "आपश्चिद्धि स्वयशसः सदः सु देवीरिन्द्रं वरुणं देवता धुः।
   कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति॥"
   ऋ० 7.85.3.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

किया है ।[1] इस ऋचा में जहाँ एक ओर इन्द्र को धनपति और पशुओं का स्वामी कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसको धन के निमित्त कृष्टी को धारण करने वाला कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि से धन के उत्पादन में पशुओं की ही तरह कृष्टी को भी एक महत्त्वपूर्ण साधन समझा जाता था । ऐसे भी प्रमाण हैं कि पशु तथा भूमि आदि की ही तरह कृष्टी का भी दान दिया जाता था । अन्य सम्पत्ति की ही भाँति कृष्टी को भी सामरिक विजयों में प्राप्त किया जाता था । कृष्टी को उत्तराधिकार के रूप में भी प्राप्त किया जाता था । ऋग्वेद 6.18.3 में कहा गया है कि हे इन्द्र, अकेले तुमने ही आर्य को 'कृष्टी' प्रदान किया था ।[2] इसी प्रकार ऋग्वेद की एक ऋचा से स्पष्ट होता है कि विजयी राजा रण-स्थली में पराजित होने वाले न केवल शत्रु पर वरन् उसकी 'कृष्टी' पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करता था ।[3] ऋग्वेद की एक ऋचा में "यः विश्वाः कृष्टीः अभ्यस्ति" का उल्लेख है जिसका अर्थ सायण ने किया है 'इन्द्रः सर्वाः शत्रुसेनाः अभिभवति" अर्थात् अकेले इन्द्र ही सारी कृष्टी को अभिभूत करते हैं ।

ऋग्वेद 6.18.2 में "मानुषीणां कृष्टीनां" का उल्लेख किया गया है, जिस पर सायण का भाष्य है—"मनोः सम्बन्धिनां प्रजानां यजमानानां" । अतः 'मानुषी कृष्टीः' का अर्थ हुआ मनु की प्रजा अथवा सन्तान । इस ऋचा में इन्द्र को मनु की प्रजा की रक्षा करने वाला कहा गया है । ऋग्वेद 8.62.2 में प्रयुक्त 'पूर्वीः कृष्टीः' का अर्थ सायण ने 'पूर्वतन्यः प्रजाः' किया है । अतः इसका अर्थ होगा वंशक्रमानुयात कर्षकों का वह समूह जो अपने स्वामी 'अर्य' की अधीनता में कृषि-कार्य करता था । इसके आधार पर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि 'अर्य' अथवा आर्य लोग अपने पूर्वजों से भूमि की ही तरह भूमि पर कार्य करने वाली 'कृष्टी' को भी उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करते थे । अर्य कभी-कभी अपने शत्रुओं को पराभूत कर उनकी अन्य सम्पत्ति की ही

---

1. ऋ० 4.17.6 पर सायण का भाष्य है : "······हे इन्द्र त्वं वसुपतिः धनपतिः । न केवलं धनपतिः किन्तु वसूनां सर्वेषां पश्वादीनां धनानां पतिः सत्रा सत्यमेव अभवः भवसि । हे इन्द्र त्वं दत्ने धने निमित्तभूते सति विश्वाः सर्वाः कृष्टीः स्तोत्रीः प्रजाः अदिथाः धारयसि" ।

2. "त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय । अस्ति स्विन्नु वीर्यं ? तत्त इन्द्र न स्विदस्ति तदृतुथा वि वोचः ।।" ऋ० 6.18.3.

3. ऋ० 8.24.19 पर सायण का भाष्य है कि "······यः इन्द्रः एक इत एकोऽसहाय एव सन् विश्वाः सर्वाः कृष्टीः शत्रुसेनाः अभ्यस्ति अभिभवति । तं स्तावमेति शेषः ।"

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भाँति उनकी कृष्टी पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते थे और उसे अपनी मौलिक 'कृष्टी' में सम्मिलित कर लेते थे। इसका सबसे अच्छा प्रमाण ऋग्वेद की एक ऋचा[1] में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि इन्द्र ने दस्युओं को जीतकर उनकी 'कृष्टी' 'आर्य' को दे दी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि विजयी मनुष्यों द्वारा विजित लोगों को कर्मकरों के रूप में नियुक्त करने की परम्परा परवर्ती काल तक चलती रही है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब आर्यों ने दस्युओं को पराजित कर उनकी 'कृष्टी' को अपनी 'कृष्टी' में सम्मिलित किया तब इन दोनों कृष्टियों में अन्तर स्थापित करने के लिए अपनी मौलिक कृष्टी को उन्होंने 'पूर्वीः कृष्टीः' की संज्ञा प्रदान की।

विभिन्न प्रकार

कृष्टी के विभिन्न प्रकारों यथा 'पञ्चकृष्टीः'[2], 'मानुषी' कृष्टीः'[3], 'पूर्वी-कृष्टीः'[4] 'अनग्नित्राः कृष्टीः'[5] तथा 'शत्रुसम्बन्धिनीः कृष्टीः'[6] आदि का उल्लेख ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में किया गया है। 'पञ्चकृष्टीः' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। सायण ने इसका अर्थ देव, मनुष्य, असुर, राक्षस और पितृगण अथवा चारों वर्ण और निषाद बतलाया है।[7] कुछ विद्वानों के अनुसार पञ्चकृष्टी का तात्पर्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और भृत्य से है।

ऋग्वेद 1.189.3 में 'अनग्नित्राः कृष्टीः' का उल्लेख अत्यन्त रोचक तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। सायण ने 'अनग्नित्राः कृष्टी' का अर्थ 'अग्निना अपालिताः प्रजाः' किया है। यहाँ स्पष्टतः 'अनग्नित्राः कृष्टीः' को 'अग्नित्राः कृष्टीः' अथवा 'आर्य कृष्टीः' से भिन्न बतलाया गया है। उपर्युक्त ऋचा में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि तुम हमारे पास से सब रोगों को दूर करो तथा जो अग्निहोत्र नहीं करते हैं अथवा जो हमारे विद्रोही

---

1. ऋ० 6.18.3.
2. ऋ० 4.38.10, 10.178.3 तथा अथर्व० 3.24.3, 12.1.42.
3. ऋ० 1.59.5 तथा 6.18.2.
4. ऋ० 8.62.2.
5. ऋ० 1.189.3.
6. ऋ० 4.21.2.
7. ऋ० 4.38.10 पर सायण-भाष्य।
8. अथर्ववेदः 12.1.42 पर दामोदर सातवलेकर-भाष्य।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं उनको भी हटाओ। यहाँ अग्निहोत्रविहीन कृष्टी का तात्पर्य 'अनार्य कृष्टी' से ही है क्योंकि अनार्य लोग अग्निहोत्र नहीं करते थे।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'कृष्टी' शब्द का उल्लेख अनार्य कृष्टी, शत्रुजन, शत्रुंजातानि अथवा शत्रुसेना के अर्थ में किया गया है।[1] 'इन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्ण आ यं ते श्येन उशते जभार। यस्य मदे च्यावयसि प्र कृष्टीर्यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ" ऋ० 3.43.7 में प्रयुक्त 'कृष्टी:' शब्द का अर्थ शत्रुभूत मनुष्य है। इस ऋचा में कहा गया है कि इन्द्र सोम-पान-जन्य हर्ष के उत्पन्न होने पर शत्रुभूत मनुष्यादि को दण्डित करते हैं। 'एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखाय: स्तोम्यं नरम्। कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्" ऋग्वेद 8.24.19 में प्रयुक्त 'य: विश्वा: कृष्टी: अभ्यस्ति' का अर्थ सायण ने किया है "इन्द्र: सर्वा: शत्रुसेना: अभिभवति"। इस ऋचा में कहा गया है कि अकेले इन्द्र ही सारी कृष्टी (शत्रुसेना) को अभिभूत करते हैं। इसलिए इन्द्र की शत्रु-विनाशक सामर्थ्य के कारण ही उसकी स्तुति करने के लिए समस्त मित्रभूत ऋत्विजों को शीघ्र ही एकत्र होने के लिए कहा गया है। इसी प्रकार "तस्येदिह स्तवथ वृष्ण्यानि तुविद्युम्नस्य तुविराधसो नॄन्। यस्य क्रतुर्विदथ्यो न सम्राट् साह्वान्तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टी:" ऋग्वेद 4.21.2 में प्रयुक्त 'कृष्टी:' का अर्थ सायण ने 'शत्रु सम्बन्धिनी: प्रजा:' किया है। इस ऋचा में कहा गया है कि सम्राट् की तरह इन्द्र का अभिभावक तथा त्राणधारक-कर्म शत्रु-सम्बन्धिनी प्रजा को अभिभूत करता है।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से स्पष्ट होता है कि 'अर्य' ने अपनी 'कृष्टी' का विस्तार किया। ईशान अधिपति अथवा अर्य की यह इच्छा रहती थी कि वह दूसरों की 'कृष्टी' पर अपना आधिपत्य स्थापित कर अपनी 'कृष्टी' का विस्तार करे। "वृषा यूथेव वंसग: कृष्टीरियर्त्योजसा। ईशानो अप्रतिष्कुत:" ऋग्वेद 1.7.8 में उपमा के माध्यम से यह इच्छा व्यक्त की गई है। इस ऋचा में कहा गया है कि जिस प्रकार वृषभ गायों के समूह पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है उसी प्रकार ईशान अपने ओज अथवा बल से कृष्टी पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है। "यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एक: कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वा:। य: शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेद:॥" ऋ० 7.19.1 में प्रयुक्त 'कृष्टी:' शब्द का अर्थ सायण ने 'शत्रुजनान्' किया है तथा 'अदाशुष:' शब्द का अर्थ 'अयजमानस्य' अर्थात् यज्ञ न करने वाला अथवा हव्यशून्य किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि जो इन्द्र तीखी सींग वाले बैल की तरह भयंकर (इन्द्रतीक्ष्ण-शृंगवृषभो इव भयंकर:) होकर सारे शत्रुओं को स्थान-च्युत करते हैं और जो हव्य-

1. ऋ० 1.189.3.7.19.1,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शून्य लोगों के घर को ले लेते हैं, वे ही इन्द्र अतीव सोमाभिषव-कर्ता को धनदान करें। यहाँ अयज्ञीय अथवा हव्य-शून्य लोगों का तात्पर्य अनार्यों से ही है, क्योंकि अनार्य न तो यज्ञ करते थे और न तो अग्नि में हव्य ही डालते थे। अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्यों ने अनार्यों को जीतकर उनके निवास-स्थानों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया तथा अपनी कृष्टी का विस्तार किया। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[1] में द्यावा-पृथ्वी से प्रभूत अन्न तथा बल प्रदान करते हुए 'कृष्टी' (पुत्रादिरूपाप्रजा:) के विस्तार के लिए प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार "अभूरको रयिपते रयीणाणा हस्तयोरधिथा इन्द्र कृष्टी:। वि तोके अप्सु तनये च सूरेऽवोचन्त चर्षणयो विवाच:।।" ऋ० 6.31.1 में इन्द्र की तुलना गायों के मध्य में स्थित वृषभ के साथ की गई है। अर्थात् जिस प्रकार वृषभ गो-समूह पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है, उसी प्रकार इन्द्र अपने पराक्रम से कृष्टी को धारण करते हैं अथवा उस पर अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं।[2] "त्वमध प्रथमं जायमानोऽमे विश्वा अधिथा इन्द्र कृष्टी:। त्वं प्रति प्रवत आशयानमहिं वज्रेण मधवन्वि वृश्च:"।। ऋ० 4.17.7 पर सायण का भाष्य है कि "प्रथम जायमान: इन्द्र: सर्वा: प्रजा: रक्षकत्वेन धारयसि" अर्थात् इन्द्र पहले ही उत्पन्न होकर अपने संरक्षण से सम्पूर्ण प्रजाओं को धारण करते हैं। इस ऋचा में यह भी कहा गया है कि इन्द्र अपने वज्रादि आयुधों से कभी-कभी वृत्रासुर को छिन्न करते हैं।

कृष्टियों का शासन

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में कृष्टि के पति[3], राजा[4] और सम्राट्[5] के भी उल्लेख हुए हैं। "य एक इत्तमु ष्टुहि कृष्टीनाम् विचर्षणि:। पतिर्जज्ञे वृषक्रतु:।" ऋ० 6.45.16

1. "ते नो गृणाने महिनी महि श्रव: क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथो बृहत्। येनाभि कृष्टीस्ततनाम विश्वहा पनाय्यमोजो अस्मे समिन्वतम्।।" ऋ० 1.160.5.
2. ऋ० 6.31.1 पर सायण का भाष्य है "हे रयिपते धनस्य पालक इन्द्र एक: प्रधान भूतस्त्वं रयीणां धनानां स्वामी अभू: भवसि। यद्वा। रयीणां रयिपत इति संवंध:। एको रयिशब्दोऽनुवादो यथा 'गवामसि गोपतिरेक इन्द्र:' ऋ० सं० 7.98.6) इति। तदानीमेको मुख्यस्त्वं भवसीति योजनीयम्। अपि च हे इन्द्र त्वं हस्तयो: आत्मीययोर्बाह्वो: कृष्टी: प्रजा: आ अधिथा: आधत्से। सर्वं जगत्तवाज्ञायां वर्तत इत्यर्थ:।"
3. ऋ० 6.45.16, 7.5.5, 8.13.9.
4. ऋ० 1.59.5, 1.177.1 तथा 4.17.5.
5. ऋ० 4.21.2, 7.6.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में 'कृष्टीनां पतिः' का उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ सायण ने 'प्रजानां अधिपतिः' किया है। इस ऋचा में सर्वदर्शी, वर्षणशील और मनुष्यों के अधिपति रूप में जन्म धारण करने वाले इन्द्र की स्तुति करने की बात कही गई है। ऋग्वेद 8.13.9 में 'कृष्टीनां पतिः' का उल्लेख किया गया है, जिस पर सायण का भाष्य है—"मनुष्याणां पालयितेति"। अतः इसका अर्थ हुआ मनुष्यों का पालक। इसी प्रकार ऋ.7.5.5 में वैश्वानर को मनुष्यों के स्वामी (पति), धनों के नेता और उषा तथा दिन के मध्य महान् केतु के रूप में निरूपित किया गया है। ऋग्वेद 1.59.5 में वैश्वानर अग्नि को "मानुषीणां कृष्टीनां राजा असि" कहा गया है। 'मानुषीणां कृष्टीनां" का अर्थ सायण ने 'मनोर्जातानां प्रजानाम्' किया है। अतः इसका अर्थ हुआ कि हे वैश्वानर, तुम मानुषी अथवा मानवी प्रजा के राजा हो। इस ऋचा में आगे यह भी कहा गया है कि वैश्वानर ने देवताओं के लिए असुरों द्वारा अपहृत धन का उद्धार किया है। ऋग्वेद 4.17.5 में इन्द्र को समस्त प्रजाओं का राजा (कृष्टीनां राजा) तथा शत्रुजनित भय को विनष्ट करने वाला कहा गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद 1.177.1 में "आ चर्षणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः" का उल्लेख किया गया है। इस ऋचा में इन्द्र को प्रीतिदायक, इच्छाओं को पूर्ण करने वाला तथा मनुष्यों के राजा के रूप में हव्य ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया गया है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में इन्द्र को असुरों, वीरों एवं कृष्टी का सम्राट् कह कर पूज्य एवं स्तुत्य कहा गया है।[1]

अर्य और कृष्टि

'अर्य' और 'कृष्टी' नामक दो परस्पर भिन्न परम्परायें समानान्तर ढंग से विकसित होती हुई दिखाई देती हैं। "त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय। अस्ति स्विन्नु वीर्यं ! तत्त इन्द्र न स्विदस्ति तद्दृतुथा वि वोचः" ऋग्वेद 6.18.3 में 'आर्य' (अर्य), 'कृष्टी' और 'दस्यून्' तीनों शब्दों का उल्लेख एक साथ किया गया है। सायण ने 'आर्य' शब्द का अर्थ 'कर्मकृत जन' (याज्ञिक कर्म करने वाला), 'कृष्टी' का अर्थ 'पुत्रदासादीन्' और दस्यून्' का अर्थ 'कर्महीनान् जनान्' (अर्थात् याज्ञिक कर्म न करने वाला) किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि अकेले तुमने ही याज्ञिक कर्म करने वाले आर्यों को कृष्टी (पुत्रदासादि) प्रदान किया था। उपर्युक्त ऋचा से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथमतः 'कर्महीनान् जनान्' का तात्पर्य यहाँ अनार्यों से है। यह ध्यातव्य है कि अनार्य याज्ञिक-कर्मों का संपादन नहीं करते थे। द्वितीयतः 'आर्य' (अर्य) की स्थिति 'कृष्टी' की अपेक्षा

1. ऋ० 7.6.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उच्चतर थी। हम पहले विचार कर चुके हैं कि 'अर्य' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में पुरोहित, शासक, धनदाता, रक्षक और सामाजिक नेता आदि के अर्थ में हुआ है। इस शब्द का क्रमिक ह्रासोन्मुख विकास स्वामी और वैश्य (अर्यः स्वामि वैश्ययोः) के रूप में हुआ। कालान्तर में 'अर्य' के समस्त ऐहिक अधिकारों को 'क्षत्र' और 'राजन्य' ने हस्तगत कर लिया। इसी 'अर्य' से सम्बद्ध समूह का नाम 'आर्य 'हुआ।

ऋग्वेद में 'कृष्टीः' शब्द का उल्लेख 'पुत्रादिरूपाप्रजाः', 'सामान्यजनः', 'शत्रुजनः', 'शत्रुसम्वन्धिनीः प्रजाः' और 'शत्रुसेना' के अर्थ में किया गया है। इस शब्द के अर्थ का अन्तिम विकास दास, खेतिहर मजदूर और कर्षक-समूह के रूप में दिखाई देता है। इस कृष्टी को उत्तराधिकार में भूमि अथवा पशुओं आदि की तरह प्राप्त किया जा सकता था। उसे किसी के प्रति दान में दिया जा सकता था। विजयी अपने पराजित शत्रु की अन्य सम्पत्ति की तरह उसकी कृष्टी पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता था।

अरि-अर्य एवं कृष्टि-चर्षणी सम्बन्ध

कृष्टियों और चर्षणियों के संदर्भ में जो अरि-अर्य के उल्लेख हैं, उनमें निश्चय ही ज्येष्ठता-श्रेष्ठता के भाव सन्निहित हैं। भारतीय परम्परा में अरि-अर्य को स्वामी अर्थ का वाचक माना गया, किन्तु मूलतः इस स्वामित्व का आधार न तो राजनीतिक प्रतीत होता है, और न आर्थिक। इसी प्रकार अरि-अर्य को जनक माना गया, किन्तु इस जनकत्व का आधार भी भौतिक नहीं वैचारिक है और अलौकिक शक्ति से सम्बद्ध है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि देवों को अरि-अर्य कहा गया। इन्द्र (1.81.6, 3.42.2, 4.29.1, 8.33.4); वायु (4.48.1); अग्नि (4.1.7, 4.2.12) और अश्विनद्वय (5.75.7); वरुण (7.64.3); सविता (10.34.13) को अर्य माना गया। उनको राजा, सम्राट्, क्षत्र, ईशान आदि नेतृत्वशाली अभिधान भी दिये गये। यह सच है कि बाद में भी 'सोमोऽस्माकं राजा'[1] कहा गया।

यह भी अवधारणीय है कि अरि-अर्य में जो वर्धन या उत्पादन की अलौकिक शक्ति है, वह देवों से प्रदत्त बताई गई। अरि-अर्य की प्रार्थना पर ही चर्षणियों और कृष्टियों को देवगण वरणीय धन, अन्न आदि देते हैं। इस प्रकार अरि-अर्य और चर्षणि-कृष्टि के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रत्यक्ष या परोक्षरीति से देव उपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में त्रिविध

---

1. शतपथ ब्राह्मण 11.5.7.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्वकीयता के भाव हैं। देव और अरि-अर्य के बीच में स्वकीयता है—'अरिरग्ने तव स्विदा'—'हे अग्नि मैं तेरा ही अरि हूँ'।

इसी प्रकार इन्द्र और चर्षणियों का सम्बन्ध है—'अध स्मा ते चर्षणयो यदेजान्द्रि' (ऋ० 6.25.7) 'हे इन्द्र, ये जो तेरी चर्षणी हैं'। चर्षणियां इन्द्र को अपना आर्य बनाती हैं—'तमिच्यौलेरार्यन्ति तं कृतेभिश्चर्षणयः। एध इन्द्रो वरिवस्कृत्" (ऋ० 8.16.1)। ऐसी ही स्वकीयता अर्य और चर्षणियों के बीच में भी हैं—'अस्माकासो ये नृत मासो अर्य'—'ये हमारे जो श्रेष्ठ नेता अर्य हैं।' इसी स्वकीयता के सम्बन्ध होने से ही अरियों में 'स्व' और 'अन्य' का भेद किया गया था।

इस त्रिविध—देव, अर्य और चर्षणि—कृष्टि के अन्तराल में स्थित स्वकीयता के संदर्भ में इनका पारस्परिक सम्बन्ध अन्वेष्टव्य है।

सम्बन्ध के वैशिष्ट्य के लिए ऋ० 1.121.15 के इस अंश का अध्ययन करें—'आनो भज मधवन्गोष्वर्यो—'हे धनवान् अर्य हम लोगों को गायें दो।' यहाँ भज् धातु का साधारण अर्थ देना है, किन्तु यह देना साधारण नहीं, इसमें स्वकीयता और भागीदारी के भाव अन्तर्निलीन हैं। अतः किंचित् विस्तार से इस पर विमर्श किया जावे।

भारतीय वैयाकरणों के अनुसार भज्[1] धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है—सेवायां,

1. भज्-भक्त की ईरानी परम्परा भी अवलोकनीय है। बक्त भक्त का ईरानी रूप है और इसका अर्थ होता है भागीदार होना—

नोइत् मज़्दा अवास्त्रयो। दर्वास्चिना हुमॅरॅतो इश बक्श्ता ।। (अवेस्ता, यस्न 31.10)' हे मज़्दा कभी भी प्रतारक इस शुभ सिद्धान्त के बक्श्त (भागीदार) न हों।' भज-बक्स का अवेस्ता में अर्थ है देना, स्वामित्व-प्राप्ति करना—गव इरिस्तह वक्षइते (यस्न, 10.13) 'हओम उनको देता है', द्रॅग्वो बक्षइति—'शत्रु उसका स्वामी है'। भक्त का प्राचीन फारसी में रूप है बक्स। दारायवौष के शत्रु गौमत का साथी बेहिस्तून अभिलेख (4.85) में बगबक्स है—बग का अर्थ है भगवान् और बक्स का अर्थ है भक्त। आधुनिक फारसी में इसका रूप है बख़्त और भागीदार होना। द्रष्टव्य, स्टाइनगॉस, पर्सियन-इंग्लिश डिक्शनरी, पिदर बख्त, फरूख बख्त आदि नामों में वही शब्द है।

भाग के बाजि का प्रयोग प्राचीन फारसी अभिलेखों में आया है—मना बदका आहता मना बाजिम् अबरता (बेहिस्तून अभिलेख 1, 19) 'वे मेरी प्रजा' (बदका=बंधुका=बंदा) हैं, मुझे बाजि (आधुनिक फारसी बाज़) देते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विश्राणने (दाने) और भोगे । ये तीनों अर्थ—सेवा, दान और भोग, परस्पर सम्पृक्त है । सेवा का अर्थ यहाँ उतना आराधना नहीं जितना कि आश्रयत्व अथवा स्वकीयता है । इस ऋचा (9.102.2) को देखें—'उप त्रितस्य पाष्योरभक्त यद्गुहापदम्' । 'त्रित के जो पाषाणीय गुहा स्थान को सोम ने निवेशित किया' । इसमें गुहापद के आश्रयण, निवास के लिए भज् का प्रयोग है । इसी भाव का पल्लवन है—'यदीं गणं भजते' (ऋ० 5.45.12)—'जिससे वह इस गण का आश्रय ग्रहण करता है—गण को अपनाता है' । यहाँ आश्रयत्व का भाव स्वकीयता के भाव से सम्बद्ध है । इसीलिए 'भक्त' और 'विभक्त' का भी अर्थ सम्बद्ध या स्वकीय व्यक्ति होता है । इस स्वकीयता-भाव-सम्पन्न भक्त के अर्थ का स्पष्ट दर्शन ऋग्वेद 1.27.6 में है—'विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ । सद्यो दाशुषे क्षरसि' । 'तुम (हमारे) विशिष्ट भक्त हो, उसी प्रकार जैसे नदी अपने ऊर्मियों में समीपवर्ती धाराओं की विशिष्ट भक्त है' । इस ऋचा के अर्थ को समझने के लिए निम्नोक्त ऋचाओं से तुलना करणीय है—"सिन्धोरूर्माविधि श्रितः" (ऋ० 9.14.1), "वृथा क्रीळन्त इन्दवः सधस्थमभ्येकमित् । सिन्धोरूर्मा व्यक्षरन्" (ऋ० 9.21.3) तथा "अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ । सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत्" (ऋ० 9.39.4)। इन ऋचाओं में सोमरस का जल से मिलकर कलश में संकलित होने का भाव है । उपर्युक्त विचारणीय ऋचा (ऋ० 1.27.6) के 'सिन्धोरुर्मा उपाक आ' का भाव 'सिन्धोरूर्मा अधिश्रितः' (नदी के जल में सोम अधिश्रित हुआ) से ही व्यक्त हुआ । इसी के अधिश्रयण को 'सधस्थं अभ्येकमित्' (साथ ही साथ एकीकृत होते हुए) कहा गया, जिसको अन्तिम उक्त ऋचा में सिन्धु के ऊर्मियों अर्थात् नदी के जल में अविविषन् प्रवेश करते हुए कहा गया । प्रस्तुत ऋचा में इसी प्रक्रिया की उपमा देते हुए कहा गया—विभक्तासि—'तुम मेरे विशिष्ट भक्त हो' । अतः तुम मुझ में वैसे ही अधिश्रयण करो जैसे नदी के जल में सोम निवास करता है । यहाँ अधिश्रयण का भाव एकीकरण का है । इसलिए √भज् का अर्थ है अधिश्रयण, एकीकरण—स्वकीय हो जाना ।

इस स्वकीयता के वृत्त के अन्तर्गत ही भज् धातु का अर्थ देना और हिस्सेदार होना है । इस अर्थ के वाचन करने वाले अनेक उल्लेख हैं—"आ नो भज परमेस्वा वाजेषु" ऋ० 2.27.5, 'भजन्त पित्वः' ऋ० 10.5.3, 'आ नः स्पार्हे भजतना वसव्ये' 7.56.21, 'वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठ नो' ऋ० 4.56.21 आदि । किन्तु यहाँ दान का अर्थ केवल देय के ऊपर दाता के स्वत्व का प्रतिग्रहीता को संक्रमण मात्र नहीं है, किन्तु यहाँ दान का अर्थ उस दाय के समीप है, जो 'स्वामिसम्बन्धादेव स्वं भवति'—'जिसमें स्वत्व की उपलब्धि स्वामी के साथ सम्बन्ध होने के कारण होती है ।'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अत: यहाँ दान का अर्थ है भाग की प्राप्ति और इसीलिए √भज् के साथ 'भाग' का भी प्रयोग हुआ—

'यदद्य भागं विभजासि नृश्य उषो देवि' ऋ० 1.123.3, 'क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य विभक्ता भागं धिषणेव वाजस्' ऋ० 3.49.4, 'भागं देवेषु यज्ञियम्' ऋ० 1.20.8

इस संदर्भ में निम्नोक्त ऋचा—वेधा उजिन्वत्त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमान-माभजत्। (ऋ० 1.156.5) 'तीन स्थानों पर स्थित विष्णु ने ऋत के भाग को आर्य (अरि-अर्य-आर्य) यजमान को दिया।'

इसी √भज् के स्वकीयता भाव से भक्त का अर्थ भी प्राप्त भाग हो गया जिसका अवान्तर अर्थ अन्न हुआ—'सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि' ऋ० 7.81.2—'सूर्य के भाग को हम प्राप्त करें।' सायण की व्याख्या है 'भक्तेन अन्नेन सं गमेमहि वयम्'। इसी अर्थ में 'सुम्नं देवभक्तं' ऋ० 10.45.9, 'रत्नं देवभक्तं' ऋ० 4.1.10 और 'श्रवो देवभक्त दधान' ऋ० 1.74.7 में 'भक्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

भाववाचक संज्ञा के रूप से भक्ति[1] का अर्थ वह स्वकीयता सम्बन्ध है, जिसमें 'भाग' प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त होती है—'इदा हि व उपस्तुतिमिदा वाभस्य भक्तये' ऋ० 8.27.11—'अब तुम्हारे प्रिय की भक्ति (प्रिय धन में भाग) के लिए स्तुति का' सर्जन करूंगा।

इस √भज् से ही भग, विभक्तृ आदि शब्द और भक्ष धातु सम्बद्ध हैं, किन्तु उनका यहाँ विवेचन अभीष्ट नहीं और न सम्प्रति 'भक्ति' शब्द का अर्थ-विकास ब्राह्मण-उपनिषद् साहित्य में करना इष्ट है। हम यहाँ विषय के स्पष्टीकरण के लिए वैयाकरण परम्परा में भक्ति के अर्थ की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। अष्टाध्यायी 4.3.95 का सूत्र है—भक्तिः। इसका अर्थ किया गया—सोऽस्येति—'जो इसका है', अर्थात् जिसकी स्वकीयता 'इस' से है। इस अधिकार-सूत्र के अन्तर्गत पाँच सूत्र हैं—उनमें प्रथम सूत्र के द्वारा आपूपिक (अपूप=पुआ में जिसकी भक्ति हो) आदि शब्द बनते हैं। दूसरे सूत्र से महाराजिक (महाराज कुबेर में जिसकी भक्ति हो) शब्द व्युत्पन्न हुआ। तीसरे वासु-देवक अर्जुनक (वासुदेव अर्जुन में जिसकी भक्ति हो) चौथे से ग्लौचुकायन (ग्लुचुकायन गोत्र में जिसकी भक्ति हो) आदि तथा पाँचवें से जनपद निवासी अथवा जनपद में भक्ति

---

1. भक्ति शब्द का यह अर्थ ही नैरुक्त, वैयाकरण, मीमांसक और साहित्यिक परम्परा में भक्ति की परिभाषा का आधार बना।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रखने के आधार पर आंगक, पांचाल, पौरवीय आदि शब्द सिद्ध होते हैं। यहाँ भक्ति का अर्थ स्पष्टतः स्वकीयता का भाव है।

'भाग' कृष्टि-चर्षणी तथा अरि-अर्य का अन्तरालवर्ती सम्बन्ध का व्यापार है। ऋग्वेद में 'भाग' के अर्थ प्रमुखतया तीन हैं[1]—प्रथम ज्येष्ठ को विशेषतः देवों को प्रदत्त उपहार, द्वितीय कनिष्ठ को दिया गया अंश और तृतीय पारिवारिक सम्पत्ति के अंश का

1. "Further it will be seen that in giving Agni his 'due' or 'share' (bhāga) (in Rv. 8,100.1)...... India becomes a bhaktṛ just as in Rv. 10.51.8–9 where Agni demands "his share of the oblation" (*havisho datta bhāgam*), the gods who grant it are *bhaktṛs*. The like is implied for the human sacrificer who gives his "portion" (*bhāga*) to Agni (Rv. 2.10.6) and "in appointing to the each their share, endears the Gods" (yathā bhāgaṁ tad devatāh prīṇṇti, AB. 3.4. and 38); Cf. Rv. 4.2.8–10, where the generous sacrificer "in offering the oblation, endeareth Thee" (*priyaṁ vā tvā kṛṇavate havishmān*) and ib. 14 where "dear to thee be his invocation". So also in TS. 5.4.5.4 where Agni "endeared by the gift of his own portion (*svena bhāgadheyena prītáh*), burns away the sacrificer's evil" (*pāpmānam api dahati*); Cf. TS.2.1.4.6 where Indra approaches Agni "with his one share" and Agni then burn away the sixteen coils of vṛtra in which Indra is wrapped, and in like manner in the case of "whoever approaches him with his own share (*svena bhāgadhéyemópa-sṛtaḥ*), agni burns up his evil" and "approaches" might have been rendered by "takes refuge with"; the preceding texts from TS are echoed in BU 6.3.1. bhāgadhéyam juhomi, etc, and the Gods having, been thus "delighted" (tṛptah), "may they delight me" (má . tarpayantu) and a reciprocity is implied as much as it is in the older *bhakti* texts; it is never for nothing that a man devotes himself. The "sacrificial offering" (*yajñiyáṁ bhāgám*) to which Agni moves in Rv. 10.124.3, in the same way implies a bhaktṛ, here again doubtless Indra. That "thou art ours and we are thine" (Rv. 8.92.32) implies no less a mutual loyalty, like that of thane and earl or wife and husband (Cf. the oaths in the AB : 8.15. that belongs to the very essence of "Bhakti". Ananda K. Coomaraswamy– *Spiritual Authority and Temporal Power in the Indian Theory of Government*, pp. 5-6, fn.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दाय । परवर्ती काल में तृतीय अर्थ का यथेष्ट विकास होता है—दाय भाग के विभिन्न सम्प्रदाय बन जाते हैं । प्रथम अर्थ भी चलता रहा—धर्मसूत्रों में 'षड्भाग भृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्', किन्तु द्वितीय अर्थ क्रमशः लुप्त हो गया, यद्यपि उसकी अवधारणा ही ग्राम के पारस्परिक सम्बन्धों की उस प्रक्रिया का आधार बनी जिसे आधुनिक समाजशास्त्री 'जजमानी-प्रथा' के नाम से पुकारते हैं । तृतीय अर्थ—दाय के बीज भी ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं—

'ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधात्' ऋ० 3.38.5.

'माता (उषा) ने अपने पुत्र (अग्नि) के लिए ज्येष्ठ भाग रख लिया । इसी प्रकार अविवाहिता पुत्री के पैतृक धन में भाग लेने का उल्लेख है—

'अमाजूरिव पित्रोः······भागं तन्यो येन मामह" ऋ० 2.17.7, "दम्यं गृहमेधीयं भागं" ऋ० 7.56.14 में भी निर्दिष्ट है । किन्तु ऐसे उल्लेख अत्यन्त विरल हैं । देव-प्रसंग में उपमा के माध्यम से आये हैं । निश्चित ही यह अर्थ अरि-अर्य के काल के पश्चात् का होगा । प्रारंभ में तो 'दाय' का अर्थ ही कर्म के कारण दान है—'श्रमस्य[1] दायो विभजन्त्येभ:' (ऋ० 10.114.10) । 'भाग' के पहले दो अर्थ ही अर्य-कृष्टि समुदाय के लिए प्रासंगिक हैं। पहला अर्थ है ज्येष्ठ को उपहार । इसके अनेक उल्लेख हैं—ऋ० 1.73.5, 1.116.19, 1.183.4 आदि । दूसरे अर्थ कनिष्ठ को प्रदत्त अंश के भी विविध उल्लेख हैं—"श्रायन्तइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत । वसू:न जाते-जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ।" ऋ० 8.99.3, 'गां भागम-व्ययम्····तं धहि मा पणौ" (ऋ० 8.97.2) ।

---

1. श्रम् धातु का अर्थ तपसि खेदे, तपस्या करना और खिन्न होना । खिन्न होने से तात्पर्य है कर्म के बाद ग्लानि और थकावट । ऋ० 2.28.4 में वरुण की नदियां (निरन्तर संचरण के पश्चात् भी) न तो थकावट से खिन्न होती हैं, और न (संचरण के कार्य को) छोड़ती हैं—"सिन्धवो वरुणस्य यन्ति न श्राम्यन्ति न मुञ्चन्ति ।" कर्म के पश्चात् खिन्नता की तीन स्थितियां तमत् ग्लानि होना, श्रमत् थकना और तन्द्रत का ऋ० 2.30.7 में उल्लेख है—"न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न ।" परिश्रम के अर्थ में श्रम का प्रयोग है—(पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा—'कई विगत वर्षों की रात में कर्मशीला में रही' । श्रम का अर्थ उपर्युक्त ऋचा (10.114.10) में परिश्रम ही प्रतीत होता है ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसी प्रसंग में भज् धातु के समानार्थक वन् और सन्[1] धातु महत्त्वपूर्ण हैं, जो अर्थ के प्रसंग में प्रयुक्त हैं——

"सनेम वाजं समिथेष्वर्यो भागं देवेषु श्रवसे दधानाः" ऋ० 1.73.5, "सनये धनानां त्वया वयमेव आजिं जयेम" ऋ० 1.20.3, "एना विश्वान्दर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् । सिषासन्तो वनामहे" ऋ० 9.61.11, "दस्यूञ्छिम्यूंश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्यां शर्वा निवर्हीत् । सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः" ।। ऋ० 1.100.18, "श्नथत्वृत्रमुत सनोति वाजम्" (ऋ० 6.60.1), 'आजिषु' ····'अयं वाजं भरति यं सनोति" ऋ० 4.17.1, "देवजूतभियानाः······ सनुयाम वाजम्" ऋ० 7.26.5,

उपर्युक्त सभी उल्लेखों में युद्ध में प्राप्त धन की राशि का अंश प्राप्त करने का प्रसंग है ।

यह भक्ति की अवधारणा जिसमें समाज के विभिन्न अंग स्वकीयता की भावना से पारस्परिक आदान-प्रदान करते हैं, परवर्ती काल में समाज-व्यवस्था और समाज-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण मूलाधार बना । इसी को कुमारस्वामी ने जीवन की ब्रह्म दृष्टि कह कर समीक्षित किया । उनका विचार है कि भारत की अध्यात्म-दृष्टि ने सम्पूर्ण सृष्टि में जो अखण्डता का दर्शन किया, उससे सम्पूर्ण मानवों में एकात्मता की धारणा बनी । इस एकात्मता के संदर्भ में ही सामाजिक स्तरीकरण को देखना होगा । इसी आधार पर 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' आदि ऋचाओं की व्याख्या करनी चाहिए ।[2] इसी भक्ति की अवधारणा से निःसृत दक्षिणा और दान के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए माउस और थापर ने इसे दान-प्रतिदान व्यवस्था के रूप में व्याख्या की । थापर का कथन है कि दान-

1. कृष्टि-चषणी के प्रसंग में √भज् के साथ √वन् और √सन् का भी प्रसंग मिलता है । भारतीय वैयाकरणों के अनुसार √वन् आत्मनेपद का अर्थ याचना करना है तथा उसके परस्मैपद रूप में संभक्तौ—विभाजन करना, प्राप्त करना, अर्थ है । सन् धातु का अर्थ भी संभक्ति करना है ।

2. "What, then, is the Brāhman view of life ?... .. We have already indicated that this science recognizes the unity of all life—one source, one essence, and one goal—and regards the realization of this unity as the highest good, bliss, salvation, freedom, the final purpose of life"

Ananda K. Coomaraswamy—*The Dance of Shiva*, p. 9.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रतिदान-प्रक्रिया धार्मिक-कृत्य का रूप है, जिसमें दान अतीन्द्रिय सत्ता का सांसारिक पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।[1]

सारांश में यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेदीय समाज के त्रिवर्ग स्तरीकरण ब्रह्म, क्षत्र और विश् का पूर्व रूप भी साहित्य में सुरक्षित है। अर्य और चर्षणि-कृष्टि विभाजन यायावरीय अथवा अल्पकालिक निवास के युग में था, जब कि त्रिवर्ग विभाजन बाद में हुआ, जब अर्य-स्वामी निवास बना कर रहने लगे। √क्षि=निवसने से व्युत्पन्न 'क्षत्र' शब्द की अवधारणा का प्रारम्भ मानव के स्थायी निवास और कृषि-जन्य आर्थिक व्यवस्था के साथ हुआ। वैदिक 'क्षत्र' और अवेस्ता 'क्षथ्र' भारतेरानी काल के शब्द हैं, जिनका प्रयोग राजत्व, राज्य क्षेत्र, सेना और शासन आदि अर्थों में तो समानान्तर रीति से होता रहा, किन्तु जहाँ वैदिक 'क्षत्र' का प्रयोग हमें कालान्तर में भारतीय सामाजिक स्तरीकरण के प्रसंग में दिखाई देता है, वहीं अवेस्ता के 'क्षथ्र' को हम इस महत्त्व से वंचित होते हुए देखते हैं। 'क्षत्र' और 'विश्' से ज्ञापित होने वाले सामाजिक स्तरीकरण के पूर्व वैदिक समाज मुख्यत: 'अर्य' और 'चर्षणि' अथवा 'अर्य' और 'कृष्टि' में विभक्त प्रतीत होता है। प्रारम्भ में जहाँ 'अर्य' स्वामी का अर्थबोधक था वहीं 'चर्षणि' और 'कृष्टि' सामान्यजन अथवा प्रजा के अर्थ-वाहक थे। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि वैदिक 'अर्य' के भारोपीय सगोत्र शब्द यथा यूनानी 'एरिओ' और ईरानी 'अर्य' का भी प्रारम्भिक अर्थ 'स्वामी' अथवा 'भू-स्वामी' था जो उच्च कुलीनता से सम्बद्ध था। 'चर्षणि' शब्द का प्रयोग सामान्यजन अथवा प्रजा के अर्थ में उस काल में किया गया जब प्रजाजन संचरण-शील थे। जब वे कर्षणशील बने तो उनको अभिहित करने के लिए 'कृष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया।[2] कालान्तर में 'अर्य' के स्वरूप में ह्रासोन्मुख परिवर्तन हुआ और उसके

1. "Ostensibly it serves a magico-religious function where gift is symbolic of communion with the supernatural."

Romila Thapar—*Ancient Indian Social Histo y*, p. 110.

2. आनन्द के० कुमारस्वामी—दी ऋग्वेद ऐज लैण्ड-नामा-बुक, पृ० 1-3, किन्तु इस मत के विरुद्ध द्रष्टव्य है विनफ्रेड पी० लेहमन के निम्नलिखित विचार....

"... we may recall other words for the 'five peoples of Rigveda *Carṣaṇis* and *Krṣtis*. M. Mayrhafer equates them, admitting little less than common translation people, peoples, though he favours relationship with *Karṣati*, 'plough'. Meillet's comparison with GK. *Kelos* 'host' is certainly preferable, with derivation from PIE *Kwel*—'move about, dwell'. If so, the early meaning

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अधिकांश ऐहिक अधिकारों को 'क्षत्र' और 'राजन्य' ने हस्तगत कर लिया। परिणामस्वरूप 'अर्य' शब्द का प्रयोग अब मात्र वैश्य के अर्थ में होने लगा। इस अर्थ-परिवर्तन अथवा अर्थ-संकोच के आधार पर प्रारम्भिक सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन का विनम्र प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

---

is not 'ploughman' but rather 'active (men)', as in Skt. *abhi-cara* 'companion', GK *oio-pólos* 'sheep-herd', etc. A Hittike derivative of this *Kwel*—may be *Kaluti*—'group', which in KUB VI.3.12 corresponds to *pangau as* of other texts. If *telos* is a reflex of an earlier term for 'people', even 'clan', we may have another survival of this type of organization in the word *teletas* 'an initiated person priest'. See Liddell and Scott (*Greek-English Dictionary* 2, 1970-71). The interpretation is also supported by related forms, such as *telete* 'sacred office'—and in the plural 'festival accompanied by mystic rites'."

लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर ऐज डायक्रिटिक एवीडेन्स ऑन प्रोटो-कल्चर, इण्डोयोरोपियन ऐण्ड इण्डोयोरोपियन्स, पृ० 9.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चतुर्थ अध्याय

राजनीतिक संगठन का प्रारूप

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र-परम्परा में विवेचित राज्य की अवधारणा के दो मूलाधार हैं—राजा और जनपद । आदिकाल में राजा का रूप मात्र प्रशासक का नहीं था और यायावरीय एवं अल्पकालिक निवास के युग में जनपद का महत्त्व भी क्षीण था । अत: राज्य की अवान्तरकालीन अवधारणा के प्रसंग में आदिकाल के राजनीतिक संगठन का विवेचन नहीं हो सकता । 'अर्य' के कार्य को 'राजा' और 'क्षत्र' बाद में वहन करते हुए दिखाई देते हैं और राजन्यों का सैनिक-वर्ग—'शर्ध', 'गण' और 'व्रात' के रूप में । इसी प्रसंग में हमें भारतीय इतिहास के आदिकाल के राजनीतिक संगठन की धूमिल रेखा उपलब्ध होती है ।

आदिम काल में शासकत्व के तीन चरण दिखाई देते हैं । प्रथम स्थिति गोपा, पशुपति अथवा शेफर्ड की है, जिनके सन्दर्भ में गोपा, गण, शर्ध और व्रात के रूप विचारणीय हैं । यह पशुपालन की संस्कृति का शासकत्व है । द्वितीय अवस्था क्षत्र-क्षथ्र की है, जो यायावरीय जीवन की परिसमाप्ति पर √क्षि=निवसने से क्षिति-निवास की संस्कृति से सम्बद्ध है । तृतीय अवस्था राज्य, साम्राज्य वैराज्य और भौज्य की है, जो राजपद से सम्बन्धित है ।

पशुपालन—शासकत्व :—इस अवधारणा को व्यक्त करने के लिए गोपा, गण और शर्ध का शासकत्व विवेचनीय है । गोपा, गो का रक्षण करने वाला ही जनस्य गोपा ऋ० 3,43.5, सम्पूर्ण जन का शासक बन गया था । गण शब्द भी इस अवधारणा को अभिहित करता है । भारोपीय धातु है ग्वॅहन् जिसके हन् (संस्कृत), जॅन् (अवेस्ता), थेनो (यूनानी), गिन्ति (लिथुआनी), कुन् (हित्ती) आदि रूप मारने, आघात करने के अर्थ में मिलते हैं । इसी से पशुओं के हाँकने के अर्थ में यह धातु लिथुआनी, लेट्टिश और स्लाव भाषाओं में प्रयुक्त होने लगी[1] तथा लिथुआनी गन्यतोजस्, तथा लेट्टिश गनस् का अर्थ चरागाह और पशुप हो गया ।[2]

गोपा और गण की ही भाँति वैदिक शर्ध शब्द से भी हमें आदिमकालीन शासकत्व की अवधारणा को समझने में सहायता मिलती है । शर्ध के अनेक सगोत्र शब्द नेता अथवा

1. वाल्दे पोकॉर्नी—पूर्वोक्त, 1.680.
2. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 3.18.5

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सेना से सम्बद्ध अर्थ में प्राचीन जर्मन वर्ग की भाषाओं में तथा प्राचीन फारसी एवं पहलवी में उपलब्ध होते हैं। अत: शर्ध शब्द-समूह का अर्थ 'वर्ग' अथवा सैनिक-वर्ग ही प्रतीत होता है, किन्तु प्रारम्भ में ये पशुपालन से सम्बद्ध थे।

सामी परम्परा के समान ही भारोपीय परम्परा में शासक की प्राचीनतम अवधारणा—गोपा, पशुप (शेफर्ड) की है। सामी परम्परा में गोपों का वक्र-लकुट का चित्राङ्क 'हेक' का अर्थ ही है शासन करना।[1] सुमेरीय शासक तुगलबन्द और एलन[2] को गोपा कहा गया। इसी प्रकार असीरी नरेशों—शलमनेसर प्रथम, तुकुलतीउर्त्त प्रथम, तिगलथपिलेसर प्रथम, और शलमनेसर तृतीय आदि[3] को इसी विरुद से विभूषित किया गया।

गोपा:

भारतीय परम्परा में इस अवधारणा को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द हैं। इस संदर्भ में हम सर्वप्रथम गोपा शब्द का विवेचन करेंगे। गोपा शब्द का अर्थ-विकास विशेष महत्त्वपूर्ण है। गोपा शब्द ऋग्वेद में बहुश: प्रयुक्त है और इसका व्युत्पत्तिगत अर्थ है—गायों का त्राण करने वाला, पशुपालक—गो+पा=त्राण करना।[4] इस अर्थ में गोपा के कुछ प्रयोग ऋग्वेद में मिलते हैं। 'यथा भुवना व्यख्या पशून्न गोपा इर्य: परिज्मा'।[5] ऋग्वेद 7.13.3—"जैसे गोपा अपने पशुओं को चतुर्दिक घूमकर (रक्षण करने के प्रयोजन से) देखता है, वैसे ही अग्नि भी भुवन को देखता है।" यही तथ्य 'स हि गोपा इवेर्यो'

---

1. अल्फ्रेड वीडमन—रेलिजन्स आफ दी एन्श्येण्ट ईजीप्सियन्श, 1807, पृ० 293.
2. (अ) सिड्नी स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री आफ असीरिया, 1928, पृ० 122.
   (ब) लेनार्ड वूली—दी सुमेरिअन्स, 1928, पृ० 21.
3. डी० डी० लुकेन्बिल—एन्शेयण्ट रेकार्डस आफ असीरिया एण्ड वेबीलोनिया, 1, 1926, पृ० 38.
4. यहाँ यह निवेदनीय है कि पशुपालक के लिए शब्द पोइयेन (होमर) और पियेमुओ (लिथुआनी) इसी √पा=त्राणे धातु से सम्बद्ध है। किन्तु संस्कृत में गोपा के आधार पर नाम धातु √गुप्=रक्षणे बनाया गया। द्रष्टव्य—(अ) गोपायतम्न: सुमनस्यमाना (ऋ० 6.74.4), (ब) जुगुपुदर्वादशस्य ऋतम् (ऋ० 7.103.9), (स) सहस्रणीथा: कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् (10.154.5)
5. 'व्यख्य:' की व्याख्या सायण 'रक्षार्थ पश्यसि' करते हैं। यह सम्भवत: स्लाव 'व्यक्नोति=जानता है' से सम्बद्ध प्रतीत होता है (हर्मन लोमेल, कन्ट्रीब्यूशन्स टु एन इन्टरप्रेटेशन आफ दी गाथाज्, पृ० 285)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋग्वेद—8.41.4 से भी ज्ञात होता है। उपमा का तात्पर्य ऋग्वेद 1.144.6 से स्पष्ट हो जाता है—'त्वं ह्यग्ने दिव्यस्य राजसि त्वं पार्थिवस्य पशुपा इवत्मना'।—"हे अग्नि तुम देव लोक के राजा हो और पृथ्वीलोक के उसी प्रकार जैसे पशुपालक होता है।" सायण और स्पष्ट करते हैं—'पशुपालको यथा स्व सामर्थ्ये नैव पशूनां निरोध निर्गमनादि व्यापारेषु समर्थो भवति'। पुनः गोपा का प्रयोग शासक के अर्थ में किया गया। ऋग्वेद 1.91.21 में 'वृजनस्य गोपा' का उल्लेख है, जिसकी तुलना ऋ० 9.97.23 के 'धर्मा भुवत् वृजनस्य राजा' से की जा सकती है। 'वृजनस्य गोपा' ही 'वृजनस्य राजा' है। अवेस्ता (यस्न 45.9) भी यहाँ विवेचनीय है—'मज़्दो क्षथ्रा वॅरॅज़ॅन्यो द्यात् अहुरो'। "क्षथ्रा वॅरॅज़ॅन्यो' और 'वृजनस्य गोपा' तथा 'वृजनस्य राजा' समानार्थक प्रतीत होते हैं।

शासक के रूप में गोपा के कार्यों का विवरण ऋग्वेद 1.91.21 में है—'युत्सु पृतनासु प्रप्रि'—युद्ध के अवसरों पर सेनाओं को सहायता देना, 'अप्सां (दातारं)'—जल का प्रबन्ध करना, और 'सुश्रवसं सुक्षितिं जयन्तुं'—'समृद्धिशाली निवासभूमि को जीतना' गोपा के प्रमुख कार्य थे। गोपा नवीन मार्गों का अन्वेषण करता था—'पथिकृद्विचक्षणः' (ऋ० 2.21.6)।

अनेक देवताओं को गोपा कहा गया जिनमें प्रमुख हैं मित्र, वरुण और अर्यमा[1]—'यथा नो मित्रो अर्यमा वरुणः सन्ति गोपाः' ऋ० 8.31.13—अग्नि और इन्द्र भी गोपा के अभिधान से विभूषित हैं। किन्तु इस दैवी गोपा-पद में भी गोपालकत्व की ध्वनि रक्षित है। ऋग्वेद 10.17.3 में गोपा का विशेषण 'अनष्ट पशुः' है और अन्यत्र उसे पथिकृत् कहा गया।

---

1. "We digress to remark that the notion of a divine shepherd may well be of high antiquity going back to pastoral times. The notion of a divine pastor and of an analogous human pastorate is one of the very many formulae common to Platonic and Vedic philosophy, nor is there anything in either of these forms of the philosophia Perennis that can be called unique."

Anand K. Coomaraswamy: *Spiritual Authority and Temporal Power in the Indian Theory of Government*, p. 46. n.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्थ-विकास के इतिहास[1] में सबसे मनोरंजक तथ्य यह है कि गोपा शब्द का रक्षक अर्थ ऋग्वेद के बाद बिल्कुल विलुप्त हो जाता है, यद्यपि गोपालक अर्थ में गोपा शब्द निरन्तर चलता रहता है। इतना ही नहीं वरन् गोपा शब्द का अपभ्रष्ट रूप गोप्ता बनाया गया और उसने गोपा-रक्षक का उत्तरदायित्व वहन किया। उत्तर वैदिक काल से मध्य-काल तक गोप्ता का प्रचलन रहा। सर्वप्रथम यह शब्द अथर्ववेद में आता है और यहाँ भी उसका रक्षक अर्थ होते हुए भी उसका गोपालन से संबंध है—

"शतं कंसा: शतं दोग्धार: शतं गोप्तारो अधिपृष्ठे अस्या:" अथर्ववेद—10.10.5—वशी गौ (कामधेनु) के पीछे सौ दोहन करने वाले और सौ रक्षक (गोप्ता) थे। इसके बाद तो अनेकश: इसका प्रयोग हुआ। केवल निदर्शन के लिए—

'इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्आकुमारकथोद्धातं शालिगोप्यो जगुर्यश:'। (रघुवंश 4.20)। यहां गोपा के स्त्री रूप गोपी का प्रयोग गोपालिका के लिए और गोप्ता का अर्थ राजा है। पुन: 'सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन्' (स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख) में गोप्ता शब्द शासक के अर्थ में प्रयुक्त है।

इस अर्थ-परिवर्तन का कारण यही प्रतीत होता है कि पूर्ववैदिक काल में राजत्व की धारणा बिल्कुल बदल गयी और गोपालकत्व की अवधारणा राजत्व से सर्वथा पृथक ही नहीं असंगत भी हो गयी थी।

गोपालकत्व और राजत्व का सम्बन्ध द्योतित करने वाला दूसरा शब्द शर्ध है। किन्तु इसके पहले यम के सम्बन्ध में विवेचन कर लिया जावे। विवस्वान् के पुत्र यम की कथा उपनिषद् और पुराणों में निबद्ध है। ऋग्वेद में भी यम को वैवस्वत का पुत्र और राजा कहा गया—

---

1. इसी प्रकार प्राचीन स्लावी भाषा में जुप=क्षेत्र शब्द की व्युत्पत्ति मनोरंजक है। प्राचीन चेक भाषा के गॅपनु=क्षेत्रपति में 'पनु' शब्द प्राचीन स्लावी भाषा के शब्द पन=पति, पनि= पत्नी से सम्बद्ध है। और 'ग' वैदिक—गो (प्रथु और अवान्तर काल में पृथ्वी) का स्लावी रूप है। गु प नु का वैदिक रूप होगा गोपति। स्लावी भाषाओं में गुपनु का सगोत्र जुपन भी क्षेत्रपति के अर्थ में प्रयुक्त है। किन्तु बाद में जुप शब्द क्षेत्र का अर्थ रखने लगा। इस जुप में 'प' निरर्थक है। जुपन के प्रभाव से ही 'गु' 'जु'=पशु, क्षेत्र, जुप हो गया। द्रष्टव्य, वर्नर विण्टर—"सम वाइड स्प्रेड इण्डोयोरोपियन टाइटिल्स", इण्डोयोरोपियन ऐण्ड इण्डोयोरोपियन्स, पृ० 50.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविधा दुवस्य' ऋ० 10.14.1. अवेस्ता में यिम को वीवङुहतो पुथ्रो और प्रथम राजा कहा गया--

उसके दो विरुद अवेस्ता में मिलते हैं--क्षअेतो और ह्वाँथ्वो--

यत् हे पुथ्रो उस् जयत

यो यिमो क्षअेतो ह्वाँथ्वो (यस्न 9.4)

वेन्दीदाद (2.20) और यस्न (5.25, 17; 28; 31; 19.34) में भी यिमो क्षअेतो का उल्लेख है। अन्यत्र (यस्न 19.31, 19.35) क्षअेतो के ही रूप क्षअेतॅम, आदि उपलब्ध होते हैं। क्षअेत विरुद यिम के साथ ऐसा संयुक्त हो गया कि पहलवी और फारसी में यिम का रूप जमशेद (यिम+क्षअेत) हो गया, जिसमें क्षअेत उसके नाम के अंश के रूप में परिगृहीत हुआ। क्षअेत का अर्थ शासक अथवा राजा है।[1] क्षअेतो के वैदिक रूप क्षैतो का ऋग्वेद में दो बार उल्लेख हुआ है—'यशस्तरो यशसां क्षैतो अस्मे' ऋ० 9.97.3, 'त्वं हि क्षैतवद् यशः अग्ने मित्रो न पत्यसे' (ऋ० 6.2.1)। दोनों स्थलों पर क्षैत का अर्थ राजा है। क्षअेतो यिमो—राजा यम—का दूसरा विरुद ह्वाँथ्वो है—जिसका अनुवाद पशुसमूह का स्वामी (मिल्स, यस्न 9.5) और भद्र पशुप (डरमेस्टेटर, वेन्दीदाद, 2, 21 (42)) किया गया है। 'ह्वाँथ्वो' और 'वोरु-वाथ्वहे' (फ्रवरदीन यस्न 29.130) में वाँथ्व का अर्थ पशुसमूह है। बाँथ्व का इस अर्थ में अवेस्ता में अनेक प्रयोग हैं :—

'यथ अज़॑म् फ्षओनि वाँथ्व अवावरानि' (गोश यस्न, 9.9)--जिससे मैं वैभव और पशुसमूह लाऊँ। किन्तु वाँथ्व का वैदिक रूप वास्त्व है जो ऋग्वेद में वृहद्रथ के विरुद में दो बार मिलता है--

'अहं स यो नव वास्त्वं वृहद्रथम्' (ऋ० 10.49.6)। यहाँ वास्त्व का अर्थ पशुसमूह और पशुपालक है।

सारांश में प्रथम शासक 'क्षअेतो यिमो' अथवा 'क्षैतो यमः' का ह्वाँथ्व विरुद भी राजत्व की प्राथमिक अवधारणा पशुपालकत्व पर आधृत करता है।

---

1. एन ओल्ड पाजंद—पहलवी डिक्शनरी, बम्बई, लंदन 1870, पृ० 230 पर उद्धृत Kīnig Yima und Saturn p. 97 में 'the proper meaning is however ruler.'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गण: व्युत्पत्ति एवं अर्थ

यद्यपि 'गण' का उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद, तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर हुआ है, तथापि इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। संस्कृत वैयाकरणों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति √गण संख्याने से की है। पोकॉर्नी ने इसकी व्युत्पत्ति √'गेर्' से की है, किन्तु इसके समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है।

वैदिक साहित्य में देवताओं के गणों के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं।[1] इनमें त्रिविधगण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं (1) बृहस्पतिगण (जिसका तात्पर्य मंत्रों के समूह से है), (2) इन्द्रगण और (3) मारुतगण। हम यहाँ मरुतगणों के संबंध में विशेष-रूप से विचार करेंगे। मरुतों को रुद्र का पुत्र कहा गया है और उनकी संख्या उन्चास[2] अथवा तिरसठ वतलाई गई है, जो सात भागों में विभक्त हैं,[3] और प्रत्येक भाग में नव होते हैं। ऋग्वेद की कई ऋचाओं में मरुतगण का उल्लेख सेना अथवा सैनिक टुकड़ी के अर्थ में किया गया है। यथा 'युवा स मारुतो गणस्त्वेषरथो अनेद्यः। शुभंयावाप्रतिष्कुतः' ऋ० 5.61.13 में कहा गया है कि मारुतगण नित्य तरुण, दीप्तस्थ विशिष्ट, अनिद्य, शोभनरूप से गमन करने वाले हैं। इसी प्रकार "रोदसी आ वदता गणश्रियो नृषाचः शूराः शवसाहिमन्वयः। आ बन्धुरेष्वमतिर्न दर्शता विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः" ऋ० 1.64.9 में शूरों को गण में (दलबद्ध होकर) प्रस्थान करते हुए दिखलाया गया है। यहाँ मारुतगण को मनुष्य-हितैषी और वीर्यशाली कहा गया है। उनसे विध्वंसक क्रोध से युक्त होकर आकाश और पृथिवी को शब्दायमान करने के लिए प्रार्थना की गई है। इस ऋचा में रथारूढ़ मारुत गण के तेज की तुलना विद्युत से की गई है। इस पर सायण का भाष्य है—"यथा निर्मलं रूपं सर्वैर्दृश्यते। दर्शता विद्युन्न। यथा वा दर्शनीया विद्युत्मेथस्था सर्वैर्दृश्यते एवं रथे स्थितानां युष्माकं ज्योतिरपि सर्वैर्दृश्यते इत्यर्थः"। इस प्रकार गण का दलबद्ध होना, विध्वंसक क्रोध से आकाश और पृथिवी को शब्दायमान करना अथवा कम्पित करना तथा रथारूढ़ होकर विद्युत की तरह तेज-युक्त होना—सभी युद्ध के वातावरण

---

1. "गणं देवानामृभवः सुहस्ताः" ऋ० 4.35.3, तैत्ति० ब्रा० 2.8.6.4, शत० ब्रा० 13.2.8.5.
2. ताण्ड्य ब्रा० 19.14.2.
3. शत० ब्रा० 2.5.1.12, ऋ० 8.96.8, तै० ब्रा० 1.6.2.3., आर० एस० शर्मा—आस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आंईडियाज एण्ड इंस्टीच्यूशंस इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 82 पर उद्धृत।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की ओर संकेत करते हैं। अतः गण का अर्थ निश्चय ही यहाँ सेना अथवा सैनिक टुकड़ी ही है।

"इच्छं च नो गवेषणं सातये सीषधो गणम्। आरात्पूषन्नसि श्रुतः" ऋ० 6.56.5 में पूषन् से उन मनुष्यों के गण का नेतृत्व करने की प्रार्थना की गई है जो गायों के जीतने की आकांक्षा करते हैं। इस ऋचा में पूषन् के नेतृत्व की प्रसिद्धि की बात भी कही गई है। ऋग्वेद की अन्य ऋचा[1] में मरुतगण को दीप्तिमान्, बलशाली, कम्पन विधायक, ज्ञान-सम्पन्न, धनदाता और अतुल ऐश्वर्य-सम्पन्न नेता कहा गया है।

"याँ आभजो मरुत इन्द्र सोमे ये त्वामवर्धन्नभगन्गणस्ते। तेभिरेत राजोषा वावशानो इग्नेः पिव जिह्वया सोममिन्द्र" ऋ० 3.35.9 में मारुत गण का युद्ध से सम्बन्ध स्पष्टतः दिखाई देता है। इस ऋचा में कहा गया है कि हे इन्द्र! तुम सोम-पान के समय जिन मरुतों को सम्मानित करते हो, युद्ध में जो तुम्हें वर्द्धित करते हैं और जो तुम्हारे सहायक होते हैं, उन्हीं मरुतों के साथ सोम-पानाभिलाषी होकर अग्नि की जिह्वा द्वारा सोमरस का पान करो। "तमु नूनं तविषीमन्तमेषां स्तुषे गणं मारुतं नव्यसीनाम्। य आश्वश्वाअम-वद्वहन्त उतशिरे अमृतस्य स्वराजः" ऋ० 5.58.1. यह ऋचा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मनोरंजक है। इसमें मारुत गण को जहाँ एक ओर शीघ्रगामी अश्वों पर बैठकर बलपूर्वक सर्वत्र जाते हुए दिखाया गया है, वहीं उनको जल का स्वराज अथवा स्वराट् कहा गया है। इस पर सायण का भाष्य है—"ये मरुतः आश्व श्वाः शीघ्रगाम्यश्वो पेताः अमवत् बलवन्तो यथा भवन्ति तथा वहन्ते गच्छन्ति उत अपि च ईशिरे ईश्वरा भवन्ति अमृतस्य उदकस्य स्वराजः स्वायत्त दीप्तयः स्वयमेव राजमानाः तेषां गणं स्तुषे"। शीघ्र-गामी अश्वों पर बैठ कर मारुतगण का बलपूर्वक सर्वत्र जाना उनके सामरिक अभियान की ओर इंगित करता है, जिससे गण शब्द का सेना अथवा सैनिक टुकड़ी अर्थ प्रमाणित होता है। अन्यत्र मारुत गण को बल द्वारा शत्रुओं को पराभूत करने वाला कहा गया है।[2] इसी प्रकार "उग्रं व ओजः स्थिरा शवांस्यधा मरुद्भिर्गणस्तुविष्मान्" ऋ० 7.56.7 में कहा गया है कि हे मारुतगण, तुम्हारा बल स्थिर है। उग्र तेज और स्थिर बल से युक्त गण निश्चय ही सैनिकों का संगठन प्रतीत होता है।

सामरिक अभियानों में प्राप्त होने वाली वस्तुओं का उपभोग गण के सदस्य व्यक्तिगत रूप से नहीं करते थे। गण के सदस्यों का यह कर्तव्य होता था कि वे अधिकृत सभी वस्तुओं

1. ऋ० 5.58.2.
2. ऋ० 2.52.14, 5.56.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को गण के समक्ष उपस्थित करें। जैसा कि "यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव। तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तहतं बदामि" ऋ० 10. 34.12 से स्पष्ट होता है। उक्त ऋचा में एक व्यक्ति गण के नेता तथा सेनानी से कहता है कि मैं तुमको अपनी दसों अंगुलियों को विस्तृत कर दिखलाता हूँ। मैं सच कहता हूँ कि मैं कोई धन नहीं छिपाता हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि गणपति अधिकृत सम्पत्ति का बँटवारा सभी सदस्यों में समान रूप से करता था।[1]

वैदिक साहित्य में गणों के विशिष्ट आयुधों का उल्लेख मिलता है।[2] "स इषुहस्तैः स निषंगिभिर्वशी संसृष्टा स युध इन्द्रो गणेन। संसंष्टेजित्सोमपा बाहुशर्ध्यु ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता" ऋ० 10.103.3 में इन्द्र के जय-साधन-सामर्थ्य को दर्शाया गया है। इस ऋचा में कहा गया है कि वाण और तूणीर वाले (गण) उनके संग में रहते हैं। वे सबको वश में करते हैं। युद्ध-काल में वे शत्रुओं के साथ संघर्ष करते हैं। जो उनके सामने आते हैं, उनको वे जीत लेते हैं। उनका भुजबल विलक्षण और उनका धनुष भयावह है। उसी धनुष से वाण छोड़कर वे शत्रुओं को गिराते हैं।

गणों के आयुधों की ही भाँति उनके आभरणों का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद 5.56.1 में "रुक्मेभिः अज्जिभिः पिष्टं मारुतं गणं" का उल्लेख किया गया है। इस ऋचा में अग्नि से कहा गया है कि वह रोचमान आभरणों से युक्त और शत्रुओं को पराभूत करने वाले मारुत गण का आवाहन करें। ऐसा प्रतीत होता है कि रोचमान आभरणों से युक्त यह मारुत-गण अन्य सामान्य मारुत-गण से भिन्न कोई विशिष्ट गण था। इसी प्रकार ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[3] में 'खादिहस्तं धुनिव्रतं तवसं गणं" का उल्लेख एक विशिष्ट अलंकार-युक्त गण की ओर संकेत करता है।

मारुतगण के विविध कार्यों का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है--"धृषुं पावकं वनिनं विचर्षणिं रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि। रजस्तुरं तवसं मारुतं गण मृजीषिणं वृषणं सश्चतश्रिये" ऋ० 1.64.12. इस ऋचा में मारुत-गण को रिपु-विध्वंसक, सर्ववस्तु-शोषक, वृष्टिदाता, सर्वद्रष्टा धूलिप्रेरक, शक्तिशाली, ऋजीषयुक्त और अभीष्ट-वर्षी कहा गया है। इसमें धन की प्राप्ति के लिए मारुतगण के पास जाने की बात कही गयी

1. आर० एस० शर्मा—पूर्वोक्त, पृ० 86.

2. ऋ० 10.103.3, अथर्व० 19.13.4.

3. ऋ० 5.58.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है । एक अन्य ऋचा[1] में मारुत-गण को सबको शुद्ध करने वाला, कल्याण की उत्पत्ति करने वाला तथा धन की वृद्धि करने वाला कहा गया है । इस ऋचा में कहा गया है कि मैं विशेष रूप से अन्न की प्राप्ति के लिए मारुत-गण का ध्यान करता हूँ । इसी प्रकार ऋग्वेद 1.87.4 में मारुतगण को नित्य तरुण, वीर्यशाली, ऋण से मुक्त करने वाला, क्षमता सम्पन्न तथा यज्ञ का रक्षक कहा गया है ।

ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में गण शब्द का उल्लेख राजा, ज्येष्ठराज, और आदित्य के साथ किया गया है । ऋग्वेद 6.16.24 में गण शब्द का उल्लेख राजा और आदित्य के साथ किया गया है । इस ऋचा में गृह-प्रदाता अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह प्रसिद्ध, राजमान और सुन्दर कर्म करने वाले मित्रावरुण, अदिति पुत्र, मारुत गण और द्यावा-पृथिवी का इस यज्ञ में यजन करें । एक अन्य ऋचा[2] में मारुतगण को 'अमृतस्य स्वराजः' कहा गया है । इस पर सायण का भाष्य है "अमृतस्य उदकस्य स्वराजः स्वायत्त दीप्तयः स्वयमेव राजमानाः तेषांगणं स्तुषे" । "गणानां त्वागणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपम-श्रवस्तमम् । ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः ऋण्वन्नूतिभिः सीदसादनम्" ऋग्वेद—2.31.1 में ब्रह्मणस्पति को देवताओं के गण का गणपति, प्रशंसनीय लोगों में ज्येष्ठ-राज और मंत्रों का स्वामी कहा गया है । ऋग्वेद की इस ऋचा के आधार पर डॉ० आर० एस० शर्मा ने लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि गण के गणपति ने शनैः शनैः राज-पद की प्राप्ति की ।[3]

शर्धः व्युत्पत्ति एवं अर्थ

शर्ध शब्द का ऋग्वेद में अनेकत्र प्रयोग हुआ है । संस्कृत वैयाकरणों के मतानुसार यह √शृध् से निष्पन्न है । यह परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों रूपों में व्यवहृत होती थी । क्षीरस्वामी और हेमचन्द्र के अनुसार परस्मैपद में इसका अर्थ 'अप्रसहने' और काश-कृत्स्न के अनुसार 'प्रसहने' होता है । क्षीरस्वामी और मैत्रेय के अनुसार इस धातु का प्रयोग प्रसहने=अभिभवे के रूप में भी होता है । आत्मनेपद में √शृध् का प्रयोग शब्द कुत्सायां के अर्थ में होता है । दुर्गाचार्य का कथन है 'शर्द्धतिरुत्साहार्थः इति स्कन्दस्वामी असून् । शत्रुजयादावनेन उत्साहित्वात् । अभ्राजि शर्द्धोमरुतो यदर्णसम् इति निगमः,

---

1. ऋ० 10.36.7.
2. ऋ० 5.58.1.
3. पूर्वोक्त, पृ० 85.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋ० 5.54.6. यहाँ उत्साहार्थ का तात्पर्य युद्ध-कार्य में उत्साहवर्धन करने अथवा ललकारने से है। कुछ वैयाकरणों के अनुसार वर्ण-विपर्यय के कारण शृध् का रूप घृष् हो गया और इसका प्रयोग घर्षण करने के अर्थ में होने लगा। अतः शृध् धातु से निष्पन्न शर्ध शब्द का अर्थ चुनौती देने वाला अथवा लड़ने वाला वर्ग प्रतीत होता है।

शर्ध का अवेस्ता में 'सर्द' रूप मिलता है, जिसका अर्थ है—नस्ल, प्रकार आदि। यही शब्द भारोपीय भाषाओं में 'हिर्डि' (प्राचीन अंग्रेजी), 'हर्ड' (अंग्रेजी), 'हिर्टि' (प्राचीन जर्मन) और 'हर्ट' (जर्मन) के रूप में उपलब्ध होता है।[1] समास के रूप से भी 'काउहर्ड' और 'शेफर्ड' में यह विन्यस्त है। इन शब्दों का अर्थ है 'वर्ग'। इस प्रकार इन अर्थ-परंपराओं के विश्लेषण से शर्ध का मौलिक अर्थ 'वर्ग' ही प्रतीत होता है। आधुनिक फारसी भाषा में सरॅद का अर्थ सेना है। अतः शर्ध-शब्द-समूह का अर्थ 'वर्ग' अथवा सैनिक वर्ग ही प्रतीत होता है, किन्तु प्रारंभ में यह पशुपालन से सम्बद्ध था। इस निष्कर्ष का समर्थन और विस्तार ऋग्वेदीय प्रयोगों से होता है। "स शर्धदर्यो विष्णुस्य अन्तोमां शिश्नदेवा अपि गुऋृतं नः" ऋ० 7.21.5 में भी शर्धत् शब्द का प्रयोग उत्साहित करने के अर्थ में किया गया है। इस ऋचा पर सायण का भाष्य है—"अर्यः स्वामी सः इन्द्रः विष्णुस्य विषमस्य जन्तोः प्राणिनः शासने शर्धत् उत्सहेत्।" अतः इस ऋचा का अर्थ हुआ कि उस अर्य ने विष्णु के लोगों को उत्साहित किया कि शिश्नदेव उनके यज्ञ अथवा व्रत को भंग न कर दें।[2]

ऋग्वेद में कई प्रकार के शर्धों का उल्लेख मिलता है जिनमें दिव्य[3] शर्ध, राक्षसी[4] शर्ध, मनुष्यों के[5] शर्ध, इन्द्र-वरुण[6]-शर्ध, अग्नि[7]शर्ध तथा मारुत[8]शर्ध के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

---

1. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 3.18.4.
2. इस ऋचा पर यास्क का कथन है "स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य मा शिश्न-देवा अब्रह्मचर्याः। शिश्नं श्नथतेः अपि गुर्ऋतं नः सत्यं वा यज्ञं वा" निरुक्त, 4.19.
3. ऋ० 3.19.4, 7.44.5.
4. ऋ० 1.133.3.
5. ऋ० 2.1.5.
6. ऋ० 6.68.8.
7. ऋ० 1.71.8.
8. ऋ० 2.3.3, 2.11.14, 6.48.15, 9.88.7, 10.103.9 आदि।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'शर्ध' शब्द के मुख्यतः प्रारम्भिक दो अर्थ प्रतीत होते हैं—(1) दल, समूह अथवा सैनिक टुकड़ी और (2) युद्ध, संघर्ष, चुनौती और प्रशासन। किन्तु यह शब्द शीघ्र ही अनुपयुक्त हो गया। अतः वैयाकरणों को इस शब्द के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हुई। "इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुता शर्ध उग्रम्। महामनसां भुवनच्य वानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्।" ऋ० 10.103.9 में प्रयुक्त 'उग्रम् शर्धः' का अर्थ सायण ने 'उद्गूर्ण शर्धः' किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि वारिवर्षक इन्द्र, राजा वरुण, आदित्यगण और मरुतगण का शर्ध अत्यन्त उग्र है। देवता लोग जिस समय भुवन को कँपा कर विजयी होने लगे उस समय कोलाहल उत्पन्न हुआ। इस ऋचा में देवताओं की विजय और इस संदर्भ में उत्पन्न होने वाले कोलाहल की बात से यह अनुमान लगता है कि 'शर्ध' शब्द का अर्थ कोलाहल करने वाले सैनिक दल से है। एक अन्य ऋचा "त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे" ऋ० 2.1.6 में प्रयुक्त 'मारुत शर्धो' का अर्थ सायण ने 'मरुत्समूह रूपं बलमसि' किया है जो मारुत वर्ग की शक्ति की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद की दूसरी ऋचा[1] में प्रयुक्त 'नरां शर्धस्तरो' का अर्थ सायण ने 'नराणां अतिशयेत नाभिभचिता अथवा अतिशयेन बलवान्" किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि मनुष्यों के मध्य दीप्तिमान् दंसुजूत अथवा अश्वों पर सवारी करते हुए शर्ध सब युद्धों (विश्वासु पृत्सु) में श्रेष्ठ शूर हैं। यहाँ शर्ध का सैनिक स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

ऋग्वेद की अन्य ऋचा[2] में 'मारुतं तुविष्वाणि शर्धं' का उल्लेख किया गया है जिसका अर्थ होगा—यथेष्ट ध्वनि से युक्त शर्ध। इस ऋचा में यह भी कहा गया है कि सेना-विजय करने के लिए अग्नि का याग करना उचित है। इससे भी शर्ध का अर्थ सैनिक दल ही परिलक्षित होता है। "क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्। कण्वाअभि प्र गायत" ऋ० 1.37.1 में कण्व-गोत्रोत्पन्न ऋषिगणों से क्रीड़ासक्त और शत्रुशून्य मरुतों के रथ में स्थित शर्ध की प्रशंसा करने के लिए प्रार्थना की गई है। यहाँ रथारूढ़ शर्ध का भी सैनिक रूप ही स्पष्ट होता है। ऋग्वेद 3.19.4 में शर्ध शब्द का प्रयोग 'अनीक' (सेना) के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद 9.88.7 में 'शर्ध' का प्रयोग बल अथवा सेना के अर्थ में किया गया है। इस ऋचा में कहा गया है कि हे सोम, तुम बली हो।

1. "स व्राधतो नहुषो दंसुजुतः शर्धस्तरो नरां गूर्तश्रवाः। विसृष्टरातिर्याति बाळ्हसृत्वा विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूरः॥" ऋ० 1.122.10.

2. ऋ० 1.127.6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मरुतों के बल अथवा सेना के समान क्षरित होओ अर्थात् गतिशील होओ। स्वर्ग की सुन्दर प्रजा के समान (वायु के समान) वहो। जल के समान हमारे लिए सुमतिदाता होओ। तुम बहुरूप हो। सेना-जेता इन्द्र के समान तुम यजनीय हो। "रासि क्षयं रासि मित्रमस्मे राशि शर्ध इन्द्र मारुतं नः। राजोषसो ये च मन्दसानाः प्र वायवः। पान्त्यग्रणीतिम्", ऋ० 2.11.14 में 'अग्रणीतिं मारुतं शर्धः' का प्रयोग उपनिवेशन के अर्थ में प्रतीत होता है। इस ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि तुम मुझे निवास हेतु गृह दो, मुझे मित्र दो और मरुतों के अग्रगामी बल (सेना) की तरह मुझे बल (सेना) दो। जो एक दूसरे के साथ प्रेम तथा मोद करते हैं एवं अग्र-नीति—आगे ले जाये जाने वाले को रक्षण प्रदान करते हैं—अथवा (सोम को) पीते हैं।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से शर्ध के प्रशासनिक कार्यों की ओर संकेत मिलता है। "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निभूतये मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन" ऋ० 1.106.1 में प्रयुक्त 'मारुतं शर्धः' का अर्थ सायण ने 'मरुत्समूह रूपं बलं' किया है। इस ऋचा में कहा गया है कि रक्षा के लिए हम इन्द्र, मित्र-वरुण, अग्नि और 'मारुतं शर्ध' को बुलाते हैं। सारथी जिस प्रकार रथ को दुर्गम स्थान से रक्षित करता है, उसी प्रकार दानशील तथा वास-गृह-दाता देवता लोग हमें सभी पापों अथवा कठिनाइयों (अंहस्) से निकालकर हमारा उद्धार करें अथवा हमारी रक्षा करें। प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि शर्ध का कार्य विविध बाधाओं से लोगों की रक्षा करना था। ऋग्वेद की अन्य ऋचा[1] में मारुतशर्ध के दीप्तिबल की स्तुति करते हुए उससे सैकड़ों-सहस्रों प्रकार के धन एक ही समय प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। इस ऋचा में मारुतशर्ध की विशेषता 'तुविष्वणि अनर्वाणं पूषणं शर्धः' कह कर बतलाई गई है। इसी प्रकार 'रक्षा च नो ददुषां शर्धो अग्ने वैश्वानर प्र च तारीः स्तवानः' ऋ० 6.8.7 में प्रयुक्त 'शर्धः' का अर्थ सायण ने 'बलं' किया है। इस ऋचा में अग्नि से रक्षाकारी बल (शर्ध) द्वारा स्तोताओं की रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। साथ ही वैश्वानर अग्नि से हव्यदाताओं के बल की रक्षा की भी प्रार्थना की गई है। अतः प्रतीत होता है कि शर्ध का कार्य युद्ध करने के साथ ही साथ रक्षण करना भी था।

व्रातः

ऋग्वेद में 'गण' और 'शर्ध' की ही भाँति 'व्रात' शब्द का उल्लेख भी समूह अथवा संगठन के अर्थ में किया गया है। "शर्धं शर्धं वा एषां व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः।

---

1. ऋ० 6.48.15

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुक्रामेम धीतिभिः" ऋ० 5.53.11 में शर्ध, व्रात और गण—तीनों का एक साथ उल्लेख किया गया है। इस ऋचा का अर्थ है कि हे मरुतों, हम शोभन स्तुति और हवि प्रदानादि लक्षण कार्य द्वारा तुम्हारे वल का, अविवक्षित गण का और सप्त-सप्त समुदायात्मक गण का अनुसरण करते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ शर्ध, व्रात और गण—तीनों शब्दों का प्रयोग किसी बल-सम्पन्न समुदाय के अर्थ में किया गया है। ऋ० 10.34.12 में "सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव" का उल्लेख किया गया है। इस पर सायण का भाष्य है—"हे अक्षाः वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य यः अक्षः सेनानी नेता बभूव भवति व्रातस्य च। गण व्रातयोरल्पो भेदः" इससे स्पष्ट होता है कि सायण गण और व्रात में अल्पभेद स्वीकार करते हैं। अतः उपर्युक्त ऋचा से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ गण एक प्रकार का सैनिक संगठन था, जिसके प्रधान अथवा मुख्य को सेनानी अथवा सेनापति की संज्ञा दी जाती थी, वहीं व्रात एक प्रकार का राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन था, जिसके मुख्य व्यक्ति को राजा की संज्ञा दी जाती थी।

ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[1] में अक्षों के तिरपन व्रातों के विहार की बात कही गई है। सायण ने इस ऋचा में प्रयुक्त व्रात शब्द का अर्थ संघ किया है। इन व्रातों के विहार की तुलना सत्यस्वरूप सूर्यदेव के जगत् में विचरण करने से की गई है। इसमें आगे यह भी कहा गया है कि अक्षों का व्रात उग्र से उग्र व्यक्तियों के समक्ष भी नतमस्तक नहीं होता अर्थात् उनके वश में नहीं आता। राजा तक इनको नमस्कार करते हैं। अतः स्पष्ट होता है कि व्रात की शक्ति किसी राजा की शक्ति से अधिक होती थी।

ऋग्वेद 3.26.6 में कौशिक-व्रात और गण का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार "पुनर्नः पितरौ मनौ ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातुं सचेमहि" ऋ० 10.57.5 में 'आंगिरस-व्रात' का उल्लेख किया गया है। इस ऋचा पर सायण का भाष्य है—"न अस्माकं पितरः पितृभूता अंगिरसः जनः तेषां संघ इत्यर्थः। स च जीवं व्रातं प्राणादिन्द्रिय संघातं पुनः ददातु। तथा दैव्योजनः। जन शब्द संघ वचनः। देवानां संघोऽपि जीवं व्रातं च ददातु। तथा दैव्योजनः। जन शब्द संघ वचनः। देवानां संघोऽपि जीवं व्रातं च ददातु। वयं च तदुभयं सचेमहि प्राप्नुयाम्"। उपर्युक्त दो ऋचाओं में व्रात का क्रमशः कौशिक एवं आंगिरस से सम्बद्ध होना, संभवतः इसका लड़ाकू लोगों का एक संघ अथवा

---

1. "त्रिपंचाशः क्रीळति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्योनमइत्कृणोति॥" ऋ० 10.34.8.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समूह होना प्रमाणित करता है—क्योंकि कौशिक एवं आंगिरस ब्राह्मणों का युद्ध से सम्बन्ध प्रसिद्ध है ।

ऋग्वेद 9.14.2 में 'सम्बन्धव: पञ्च व्राता' का उल्लेख किया गया है । ये 'पञ्च व्रात' किस आधार पर एक दूसरे से सम्बद्ध थे—इसके बारे में इस ऋचा से हमें कोई सूचना नहीं मिलती है ।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास के उषाकाल में राज्य की साम्प्रतिक अवधारणा का सर्वथा अभाव था । निरन्तर संचरणशील यायावरों अथवा अल्पकालिक निवास में रहने वाले 'क्षेम्यों' का किसी भूमि-खण्ड विशेष से कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं था । उनकी आवश्यकतायें भी अपेक्षाकृत न्यून एवं सीमित थीं । उनको यदि किसी वस्तु की अपेक्षा थी तो यह कि उन्हें ऐसे क्षेत्रों का ज्ञान हो सके जहाँ वे पशु-चारण एवं खाद्य की उत्पत्ति तथा संग्रह का कार्य सुगमतापूर्वक कर सके । इसके लिए उन्हें एक ऐसे अन्वेषक, मार्ग-निर्देशक अथवा नेता की आवश्यकता थी, जो उनके लिए ऐसे क्षेत्रों की खोज कर सके तथा उनको उस स्थान तक सुरक्षित एवं सुविधाजनक ढंग से पहुंचा सके । नवीन क्षेत्रों के अन्वेषक तथा अपने कबीलों को उस स्थान तक सुरक्षित ढंग से ले जाने वाले नेता का ही विकास कालान्तर में ऋजुनयन से क्रमशः राजा के रूप में हुआ । इसी अर्थ में ऋ० 10.126.6 में वरुण, मित्र और अर्यमा को स्पष्टत: 'नेतार: राजान:' कहा गया है ।

इस आदिम अवस्था में दण्ड-संहिता का अभाव था । साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा मूलत: सामाजिक और समष्टिगत प्रतीत होती है । विवाह-संस्कार, कौटुम्बिक व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण केवल बीज रूप से ही निबद्ध थे । इस स्थिति को ही प्राचीन भारतीय साहित्य में अराजक स्थिति अथवा वैराज्य के नाम से पुकारा गया है ।

कालान्तर में कृषि-कर्म के ज्ञान से मनुष्य की जीवन-पद्धति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ । अब वह स्थायी निवास बनाकर एक स्थान पर रहने लगा तथा अपने क्षेत्र, कृषि-कर्म-भूमि के प्रति आसक्त हुआ । सस्योत्पादन के परिणामस्वरूप उसमें साम्पत्तिक स्वत्त्व की अवधारणा भी उत्थित हुई । स्थायी निवास की स्थिति में अब उसे एक ऐसे सामर्थ्यवान् व्यक्ति की आवश्यकता पड़ी जो उसके 'क्षय' और 'क्षेत्र' दोनों की रक्षा कर सके । ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में ऐसे ही व्यक्ति के लिए 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग किया गया है । यहां यह ध्यातव्य है कि √क्षि=निवसने से ही 'क्षय' (निवास), 'क्षेत्र' (कृषि-कर्म-भूमि) और 'क्षत्र' (शासक अथवा रक्षक) शब्द व्युत्पन्न हैं । कालान्तर में अपनी वृद्धिमती आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अब अन्य लोगों के क्षेत्र पर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आधिपत्य स्थापित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस कार्य के लिए उसे एक सैन्य-दल अथवा बल की आश्यकता पड़ी जो उसके राजा अथवा 'क्षत्र' के निर्देशन अथवा नेतृत्व में दूसरों पर आक्रमण कर सके। ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में प्रयुक्त 'शर्ध', 'गण' और 'व्रात' शब्द 'क्षत्र' अथवा राजन्यों के ऐसे सैनिक-वर्ग के अर्थ-बोधक प्रतीत होते हैं।

क्षत्र : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

राज-पद के समान ही महत्त्वपूर्ण संस्था है 'क्षत्र'। इसका प्रमुख कार्य 'क्षय' अथवा निवास का रक्षण करना था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक रूप में यह एक वर्ग था और अवान्तर काल में 'ब्रह्म' और 'विश्' के संयोग से इसने वर्ण का रूप धारण किया।

भाष्यकारों ने क्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति √क्षद्=स्थैर्ये (स्कन्दस्वामी), √क्षदि=हिंसायां (माधव), तथा √क्षद=गतिहिंसनयोः (सुबोधिनीकार) से की है। यथार्थतः क्षत्र=क्षथ्र शब्द भारतेरानी है और आधुनिक भाषाविद् इसको √क्षि=ऐश्वर्ये से व्युत्पन्न करते हैं। वाल्दे के अनुसार संस्कृत धातु √क्षि अवेस्ता के सी=अधिकार-सम्पन्न होना अथवा शासन करना से सम्बद्ध है और इसी धातु से क्षथ्र-शासक शब्द व्युत्पन्न हुआ है।[1] संस्कृत वैयाकरण क्षीरस्वामी और हेमचन्द्र √क्षि का अर्थ ऐश्वर्य करते हैं। क्षीरस्वामी, मैत्रेय, सायण, काशकृत्स्न, कातन्त्र, शाकटायन और हेमचन्द्र के अनुसार इस धातु का अर्थ गति और निवास भी होता है जैसा कि हम ऊपर विवेचन कर आये हैं। √क्षि की क्रमिक अर्थ-विकास की सरणियां निम्नोक्त प्रतीत होती हैं—(1) गति, (2) निवास, (3) ऐश्वर्य तथा (4) शासन।

क्षि धातु से क्षय और क्षत्र, दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं। क्षय शब्द के अर्थ का विवेचन ऊपर किया गया है। यहां केवल इतना कथन अभीष्ट है कि अवेस्ता के क्षय का अर्थ केवल निवास ही नहीं अपितु राज्यक्षेत्र और राज्य-शक्ति भी है और क्षथ्र शब्द से वह अर्थ और शब्द रूप दोनों दृष्टियों से सम्बद्ध है।

√क्षि से ऋभुक्षा और क्षेत्र शब्द भी व्युत्पन्न हैं। ऋ० 1.162.1 के प्रसंग में ऋभुक्षा की व्याख्या निरुक्तकार करते हैं—'उरुक्षयणः ऋभूणां राजेति'। इस प्रकार क्षय का अर्थ राजा-शासक ऋग्वेद में भी उपलब्ध है। इसी प्रकार क्षेत्र, तक्ष्यं आदि शब्दों को ऐश्वर्यवाची क्षि धातु से सम्बद्ध माना गया।[2]

1. वाल्दे पोकॉर्नी—पूर्वोक्त, 1.405.
2. सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त, पृ० 206.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋग्वेद में क्षत्र शब्द का मुख्य अर्थ शासकत्व ही है, जिसके चतुर्दिक अनेक सम्बद्ध सूक्ष्म अर्थ–रक्षण, सैनिकत्व और राज्य क्षेत्र आदि परिभ्रमण करते हैं।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में क्षत्र शब्द का उल्लेख सैन्य दल अथवा सैनिक टुकड़ी के अर्थ में मिलता है। "असमं क्षत्रमसमा मनीषा प्र सोमपा अपसा सन्तु नेमे। ये त इन्द्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं वृष्णयं च" ।। ऋ० 1.54.8.1. इस ऋचा में प्रयुक्त 'महि क्षत्रं' का अर्थ सायण ने 'महत् बलं' किया है। इस मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र का बल अतुल है और उनकी बुद्धि भी अतुल है। अतः स्पष्ट है कि यहां बल का तात्पर्य सैन्यबल से है। "अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत" ऋग्वेद 7.66.11 पर सायण का भाष्य है—"ते वरुणः मित्रः अर्यमा च त्रयः अनाप्यम् अन्यैरप्राप्तं क्षत्रं बलं राजानः राजमानाः आशत व्याप्तवन्तः" । इसमें कहा गया है कि वरुण, मित्र और अर्यमा ने शोभमान होकर अन्य लोगों के लिए अप्राप्य क्षत्र (सैन्यबल) को प्राप्त किया। ऋग्वेद 1.24.6 में वरुणदेव के पराक्रम के साथ उनके क्षत्र का उल्लेख किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि क्षत्र का तात्पर्य सैन्यबल से है। इसी प्रकार "बलित्था देव निष्कृतमादित्या यजतं वृहत् वरुण मित्रार्यमन्वर्षिष्ठं क्षत्रमाशाथे" ।। ऋ० 5.67.1 में कहा गया है कि मित्र, वरुण और अर्यमा वृहत् और प्रवृद्ध क्षत्र (सैन्यबल) को धारण करते हैं। निम्नोक्त ऋचा[1] में इन्द्र से धन, अपत्य और अन्न के साथ ही शत्रुओं का अभिभव करनेवाले क्षत्र (सैन्यबल) की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है—"आनो देव शवसा याहि शुष्मिन्मवावृध इन्द्रराय: अस्य। महे नृम्णाय नृपते सुवज्र महि क्षत्राय पौंस्याय शूर ।।" ऋ० 7.30.1 में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे बली और ज्योतिष्मान् इन्द्र! क्षत्र (सैन्यबल) के साथ हमारे पास आओ। हमारे धन के बर्धक बनो। हे सुवज्र नृपति इन्द्र, महावली होओ और शत्रुमारक पुरुषत्व को प्राप्त करो। इसी प्रकार एक अन्य ऋचा ऋ० 6.25.8 में शत्रुओं को अभिभूत करने वाले एवं विश्वधारक क्षत्र का उल्लेख किया गया है। इसमें कहा गया है कि हे इन्द्र, तुम महान् हो। शत्रु-वध के लिए तुममें समस्त शक्तियां अर्पित हुई हैं। हे इन्द्र, युद्ध में समस्त देवों ने तुम्हें शत्रुओं को अभिभूत करने वाला और विश्व-धारक क्षत्र प्रदान किया था। इस ऋचा में प्रयुक्त क्षत्र का अर्थ सायण ने बल किया है, जो निश्चय ही सैन्य-बल प्रतीत होता है। 'इन्द्र क्षत्रासमातिषु रथप्रोष्ठेषु धारय। दिवीव सूर्यं दृशे।' ऋ० 10.60.5 पर सायण का भाष्य है—'हे इन्द्र क्षत्रा क्षत्राणि बलानि रथ

1. "स शेवृधमधि धा द्युम्नमस्मे महि क्षेत्रं जनाषाळिन्द्र तव्यम्।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीन्राये च नः स्वपत्या इषे धाः ।।"
ऋ० 1.54.11.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रोष्ठेषु यथा सूर्य दृशे सर्वेषां दर्शनाय स्थापित वानसि तद्वदत्र बलं धारय।' इसका अर्थ है कि हे इन्द्र, जैसे सबके दर्शन के लिए तुमने आकाश में सूर्य को रख दिया है, वैसे ही रथारुढ़ असमाति राजा का अनुगामी होने के लिए वीरों को नियुक्त करो। रथारूढ़ राजा का वीरों द्वारा अनुगमन सामरिक दृश्य उपस्थित करता है। अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त ऋचा में प्रयुक्त क्षत्र शब्द सैन्यदल का अर्थ वहन करता है।

कीथ और मैक्डॉनेल के अनुसार वैदिक साहित्य में क्षत्र शब्द का उल्लेख राज्यक्षेत्र, राजत्व एवं प्रभुता के अर्थ में किया गया है, जिसका प्रयोग देवता और मनुष्य करते थे।[1] "उप क्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिर्भये चित्सुक्षितिं दधे। नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिणः" ऋ० 1.40.8 में राजा के द्वारा क्षत्र के विस्तार, राजाओं के द्वारा शत्रुओं के विनाश और भयकाल में क्षिति (निवास) के रक्षण का उल्लेख है। इस ऋचा में प्रयुक्त 'भयेचित्सुक्षितिं दध" पर सायण का भाष्य है—"भयेचित् भीतहेतो युद्धेऽपि सुक्षितिं दधे सुष्ठु निवासस्थैर्यं धारयति न तु पलायते"।

ऋग्वेद 10.180.3 में इन्द्र से क्षत्र और चर्षणी की कामना की गई है। स्पष्ट है कि यहां प्रयुक्त क्षत्र शब्द का तात्पर्य राज्यक्षेत्र से है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[2] में मित्र और वरुण को क्षत्र धारण करने वाला सम्राट् कहा गया है। यद्यपि सायण ने इस ऋचा में प्रयुक्त क्षत्र शब्द का अर्थ बल अर्थात् सेना किया है, तथापि प्रसंग से इसका अर्थ राज्य क्षेत्र और सेना का सम्मिश्र रूप प्रतीत होता है। इस मंत्र में कहा गया है कि मित्र और वरुण यजमानों को सुख देने वाले हैं तथा स्वादिष्ट हव्य का भक्षण करते हैं। यज्ञ में उनकी स्तुति होती है। उनके राज्यक्षेत्र (क्षत्र) का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता है। "सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम्। अनागस्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान्॥" ऋग्वेद 1.162.22 में प्रयुक्त क्षत्र शब्द का अर्थ यद्यपि सायण ने बल किया है, तथापि प्रसंग से इसका अर्थ भी उपर्युक्त रीति से

1. ऋ० 1.24.11, 1.136.1, 1.136.3, 4.17.1, 5.62.6, आदि। अथर्व० 3.5.2, 5.18.4 आदि। 'क्षत्रश्रियं' का उल्लेख ऋ० 1.25.5 तथा 6.26.8 में किया गया है। 'क्षत्रभृत' का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.4.6.12 तथा 2.7.6.3 एवं वाजसनेयी-संहिता 28.7 में 'राजत्व प्रदान करने वालों' के अर्थ में किया गया है। (वैदिक इण्डेक्स, भाग 1, पृ० 202 पर उद्धृत)
2. प्र सु ज्येष्ठं निचिराभ्यां बृहन्नमोहव्यं मति भरता मलय कृलयद्भयाम्। ता साम्राजा धृतासुती यज्ञे उपस्तुता। अथैनोः क्षत्रं कुतश्चनाधृषे देवत्पं न् चिदाधृषे॥" ऋ० 1.136.1

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्मिश्र प्रतीत होता है, क्योंकि इस ऋचा में गाय, अश्व, धन और पुत्र के साथ क्षत्र प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। अन्यत्र[1] द्यावा-पृथिवी से प्रभूत अन्न के साथ बृहत् क्षत्र को प्रदान करने की प्रार्थना की गई है, जिससे प्रजा का विस्तार किया जा सके। प्रजा के विस्तारार्थ क्षत्र के प्रदान की प्रार्थना से क्षत्र शब्द का अर्थ राज्य-क्षेत्र स्पष्ट होता है। इसी प्रकार ऋग्वेद 6.50.3 में द्यावा-पृथिवी से विशाल गृह तथा अतुल ऐश्वर्य प्रदान करने के साथ क्षत्र के विस्तार करने की प्रार्थना की गई है। यहां भी क्षत्र शब्द का अर्थ राज्य-क्षेत्र अथवा ऐश्वर्य ही प्रतीत होता है "ऋतावाना निषेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू। धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः"। ऋग्वेद 8.25.8 में क्षत्र और क्षत्रिय शब्दों का अर्थ क्रमशः राज्यक्षेत्र और राज्यक्षेत्र में निवास करने वालों से है। क्षत्र से सम्बन्धित होने के कारण ही उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। ऋग्वेद 4.21.1 में इन्द्र से शत्रुओं के क्षेत्र के पराभव और अपने क्षत्र (राज्यक्षेत्र) की वृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। "युवं नो येषु वरुण क्षत्रं वृहच्च विभृथः। उरुणो वाजसातये कृतं राये स्वस्तये।" ऋग्वेद 5.64.6 में 'बृहत् क्षत्र' का उल्लेख विस्तृत राज्य क्षेत्र के अर्थ में किया गया है। इस ऋचा में प्रचुर धन तथा विस्तृत क्षत्र धारण करने वाले मित्र और वरुण से अन्न, धन और कल्याण प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। ऋ० 1.157.2 में प्रार्थना की गई है कि जब बृषण वृष्टिरथ में नद्ध हों, तब अश्विनीकुमार हमारे क्षत्र (राज्य क्षेत्र) का सम्वर्धन करें। इसी प्रकार ऋग्वेद 7.18.25 में सुदास के अविनाशी एवं अजर क्षत्र (राज्य क्षत्र) का उल्लेख किया गया है। परवर्ती वैदिक साहित्य[2] में अनेकत्र 'क्षत्रपति' शब्द का उल्लेख राजा के समानार्थी शब्द के रूप में किया गया है, जिससे क्षत्र शब्द का राज्यक्षेत्र अर्थ समर्थित होता है।

ऋग्वेद में अनेकत्र क्षत्र शब्द का उल्लेख धन अथवा ऐश्वर्य के अर्थ में किया गया है। "अस्माकमग्ने मधवत्सु धारयानामि क्षत्रमजरं सुवीर्यम्। वयं जयेम शतिनं सहस्रणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः॥" ऋ० 6.8.6 में प्रयुक्त क्षत्र शब्द का अर्थ सायण ने धन किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि हे अग्नि! हम लोग हविर्लक्षण धन से युक्त हैं। हमें तुम अनपहार्य, अक्षय और सुवीर्य धन प्रदान करो। हे वैश्वानर अग्नि, हम तुम्हारे

1. ते नो गृणाने महिनी महि श्रवः क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथोबृहत्।
   येनाभिकृष्टीस्ततनाम विश्वहा पनाय्यमोजो अस्मे समिन्वतम्॥" ऋ० 1.160.5.
2. तैत्तिरीय संहिता 1.8.14.2, वाज० संहिता 10.17, तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.7.8.5 और शत० ब्रा० 5.4.2.2. (वेदिक इण्डेक्स, खण्ड 1, पृ० 202 पर उद्धृत)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

द्वारा रक्षित होकर शतसहस्र प्रकार से अन्न लाभ करें। ऋ० 8.22.7 में "महे क्षत्राय जिन्वथ:" का उल्लेख किया गया है—इस पर सायण का भाष्य है "महते धनाय प्रीणयथ"। इस ऋचा में कहा गया है कि अन्न और धनवाले अश्विद्वय, यज्ञ मार्ग से हमारे पास आओ। धन को सेचन अथवा दान करने वाले अश्विद्वय, इसी मार्ग से तुमने त्रषदस्यु के पुत्र तृक्षि को प्रचुर धन देकर तृप्त किया था। ऋ० 1.113.6 में क्षत्र शब्द का उल्लेख श्रवस्, इष्टि अर्थ और जीवनोपाय के साथ किया गया है। सायण ने इस ऋचा में प्रयुक्त 'क्षत्राय' शब्द का 'धननामैतत' 'श्रवसे का 'अन्नार्थं' महीया इष्टये' का अग्निष्टोमादिमहा यज्ञार्थं' तथा 'जीवितानि' का 'जीवतोपायभूतानि कृषि वाणिज्यादीनि' अर्थ किया गया है। इसमें कहा गया है कि उषा किसी को धन के लिए, किसी को अन्न के लिए, किसी को अभीष्ट-प्राप्ति के लिए और किसी को महायज्ञ के लिए जगाती है। अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ क्षत्र शब्द का अर्थ धन ही है। इसी प्रकार ऋग्वेद 5.34.9 में भी क्षत्र शब्द का प्रयोग धन के अर्थ में किया गया है।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में क्षत्र शब्द का उल्लेख राजकीय प्रासाद के अर्थ में किया गया है। "अक्रविहस्ता सुकृते परस्पायं त्रासाथे वरुणेळास्वन्तः राजाना क्षत्र-महृणीयमाना सहस्रस्थूणं विभृथः सह द्वौ" ऋ० 5.62.6 में 'सहस्रस्थूणं क्षत्र' का उल्लेख महत्त्वपूर्ण एवं मनोरंजक है। सायण ने सहस्र-स्थूणम् की व्याख्या "अनेकावष्टम्भ-कस्तम्भोपेतं सौधादिरुपं गृहं" के रूप में की है। यद्यपि सायण ने 'क्षत्र' का अर्थ 'धन' किया है, तथापि इसका अर्थ राज-प्रासाद अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी स्थूण (स्तम्भ) युक्त भवनों की स्थिति का उल्लेख किया गया है। सहस्रस्थूणों (स्तम्भों) से युक्त यह भवन निश्चय ही सामान्य भवनों से भिन्न रहा होगा। अतः यहां सहस्र स्थूण-युक्त क्षत्र का अर्थ राज-प्रासाद होना समर्थित होता है। इसी प्रकार ऋ० 6.67.6 में मित्र और वरुण से प्रार्थना की गई है जिस प्रकार स्थूण दृढ़ करता है, वैसे ही तुम दोनों सानु प्रदेश पर स्थित क्षत्र को दृढ़ करो। यहां प्रयुक्त क्षत्र शब्द का अर्थ राजप्रासाद ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वैदिक साहित्य में क्षत्र शब्द का उल्लेख राज्य क्षेत्र, राजत्व, प्रभुता, सैन्यबल, ऐश्वर्य, धन, राज-प्रासाद और राजा आदि के अर्थ में हुआ है।

क्षत्र एवं अर्य

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय समाज में जो कार्य प्रारम्भ में 'अर्य' द्वारा सम्पन्न होता था वह अब क्षत्र द्वारा सम्पन्न होने लगा। ऋग्वेद की विभिन्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋचाओं में 'अर्य' शब्द का उल्लेख धनदाता स्वामी और रक्षक आदि के अर्थ में किया गया है। ऋ० 4.2.18 में अर्य को स्वामी के रूप में अपने मनुष्यों का पोषण एवं वर्धन करने वाला कहा गया है। 'अर्यः इषः वनेम्' ऋ० 1.70.1 में अर्य का स्वामी तथा अन्नदाता अर्थ सुरक्षित है। "यो अर्यो मर्तभोजनं परादताति दाशुषे। इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः" ऋ० 1.81.6 में इन्द्र को अर्य तथा सभी मर्त्यों को भोजन देने वाला कहा गया है। सायण ने इस ऋचा में प्रयुक्त अर्य शब्द का अर्थ 'स्वामी पालयिता' किया है "वहन्तु त्वा रथेष्ठामा हरयो रथयुजः। तिरश्चिदर्यं सवनानि वृत्रहन्नन्येषां या शतक्रतो" ऋ० 8.33.14 में प्रयुक्त अर्य तथा रथेष्ठ शब्द अत्यन्त रोचक हैं। इसमें अर्य का स्वामी और रथेष्ठ का रथ में स्थित अथवा बैठा हुआ अर्थ स्पष्ट है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[1] में इन्द्र को राजा और अर्य दोनों कहा गया है। यहां भी अर्य का अर्थ स्वामी ही है। 'अर्यः विश्वकृष्टिं राजानं ददथुः' ऋ० 4.38.2 में प्रयुक्त अर्य का भी अर्थ स्वामी ही है। उपर्युक्त ऋचाओं के अतिरिक्त अन्य बहुत सी ऋचाओं में भी अर्थ शब्द का उल्लेख स्वामी के अर्थ में किया गया है।[2]

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में अर्य शब्द का उल्लेख रक्षक तथा त्राता के अर्थ में भी किया गया है। इससे अर्य का सैनिक स्वरूप भी स्पष्ट होता है। "अधस्मा ते तर्षणयो य देजानिन्द्रत्रातोत भव वरुता। अस्माकासो य नृतमासो अर्य इन्द्र सूरयो दधिरे पुरो नः" ऋ० 6.25.7 में इन्द्र को अर्य, पालक, रक्षक तथा त्राता कहा गया है।

इसी प्रकार 'भरेषु हव्या नपसोप सद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनंधनम्। विश्व इदर्यो अभिदिस्वो 3 भृथो बृहस्पतिविवर्हारयाँ इव" ऋ० 2.23.13 में बृहस्पति को अर्य कहकर युद्ध काल में आवाहन-योग्य एवं उपासना-योग्य बतलाया गया है। सायण ने उसे 'संग्रामेषु रथार्थ गमनशीलः' अर्थात् युद्ध में रक्षार्थ जाने वाला कहा है, जिससे अर्य का सैनिक स्वरूप स्पष्ट होता है।

किन्तु कालान्तर में हमें अर्य के स्वरूप एवं अधिकार में ह्रासोन्मुख परिवर्तन दिखाई देता है। अर्य के स्थान पर क्षत्र अधिक शक्ति-सम्पन्न और महत्त्वपूर्ण हो गया। अर्य के इस पतन का मुख्य कारण क्षत्र और राजन्य-परम्पराओं का उदय था, जिसके परिणामस्वरूप

---

1. "इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं धृतेन।
नरो हव्योभिरीळते स बाध अग्निरग्र उषसाम शोधि ॥" ऋ० 7.8.1.

2. ऋग्वेद 4.1.7, 4.2.12, 4.48.1, 5.39.8, 5.75.7, 10.27.8, 10.34.13 तथा 10.191.9 आदि।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्य के अधिकांश ऐहिक अधिकारों को क्षत्रियों और राजन्यों ने हस्तगत कर लिया। सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया में यही बात दिखाई देती है। प्रारम्भ में केवल 'अर्य' और 'चर्षणि' अथवा 'अर्य' और 'कृष्टि' में समाज विभाजित था, जिसमें अर्य=स्वामी और चर्षणि अथवा कृष्टि-सामान्य जन थे। इसके बाद समाज का स्तरीकरण हमें ब्रह्म, क्षत्र और विश् के रूप में मिलता है।[1] अवान्तर काल में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख हमें पुरुषसूक्त में मिलता है।[2] ये ब्रह्म, क्षत्र एवं विश् अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी अर्य-परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं—किन्तु बाद का सामाजिक स्तरीकरण ब्रह्म, राजन्य, अर्य और शूद्र के रूप में दिखाई देता है।

'अर्य' शब्द का उल्लेख शुक्ल-यजुर्वेद ऋ० 26.2 तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण 26.6.2 में वैश्य के अर्थ में तथा शूद्र के विलोम के रूप में किया गया है।

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि √क्षि='ऐश्वर्ये' से व्युत्पन्न क्षत्र (वैदिक) तथा क्षथ्र (अवेस्ता) शब्दों का राजत्व, राज्य-क्षेत्र, सेना और शासन आदि अर्थों में तो समानान्तर रूप में प्रयोग होता रहा किन्तु जहाँ भारतीय 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग कालान्तर में सामाजिक स्तरीकरण के प्रसंग में होने लगा वहीं ईरानी क्षथ्र शब्द को यह महत्त्व प्राप्त नहीं हो पाया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि ईरानी समाज में भारतीय क्षत्र के समानार्थी को सम्बोधित करने के लिए 'रथएस्ता' शब्द का प्रयोग किया गया।

'क्षत्र' के सदृश ही कुछ अन्य वर्गों का साक्ष्य ऋग्वेद से उपलब्ध होता है। इनमें 'शर्ध', 'गण' और 'व्रात' क्षत्र के समान ही सैन्यवर्ग थे।

राजा : व्युत्पत्ति

अवान्तर भारतीय परम्परा में √रञ्ज् से राजा को व्युत्पन्न करने का प्रयत्न दिखाई देता है। 'पकतियो च रञ्जयति'[3], 'अनुरक्त सर्व्व प्रकृतीनाम्'[4] 'राजा प्रजारञ्जनात्'[5]

---

1. ऋ० 8.35.16-18, अथर्ववेद 2.15.4, 9.7.9, 12.5.8, 15.10.5 आदि। तैत्तिरीय संहिता 1.6.1.2, 2.2.11.2 आदि; वाजसनेयी संहिता 5.27, 14.24, 18.38 आदि।
2. ऋ० 10.90.12.
3. दिनेशचन्द्र सरकार—सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० 207. खारवेल का हाथी गुम्फा गुहा-अभिलेख, पंक्ति 4.
4. तत्रैव, पृ० 172, रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, पंक्ति 11.
5. कालिदास, रघुवंश, 4.12.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदि इसी ओर इंगित करते हैं। मल्लिनाथ का कथन है कि 'राज-शब्दो राजते दीप्त्यर्थात् न तु रञ्जेत् तथापि धातुनामनेकार्थत्वात् रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविनां'—राजा शब्द राज्=धातु दीप्तौ से व्युत्पन्न होता है रञ्ज् धातु से नहीं, किन्तु धातुओं के विभिन्न अर्थ होने के कारण कवि ने 'रञ्जनात् राजा'—प्रकृति रञ्जन के कारण राजा—ऐसा कहा।

काशकृत्स्न, कातंत्र, क्षीरस्वामी आदि वैयाकरण राज् धातु का अर्थ दीप्ति बताते हैं। निघण्टु में √राज् का अर्थ ऐश्वर्य कर्म है।[1] ऋग्वेद में √राज् से व्युत्पन्न शब्दों के दोनों अर्थ—दीप्ति और शासन—दिखाई पड़ते हैं। राजा के 'ऐश्वर्य' और 'दीप्ति' भी अवान्तर अर्थ हैं। इसके प्राथमिक स्तर के अर्थ के प्रकाशन के लिए विभिन्न सगोत्र शब्दों का अध्ययन आवश्यक है।

'ऐश्वर्य-कर्म' के अर्थ में राज् धातु का भारोपीय सम्बन्ध दिखाई देता है। भाषाशास्त्री भारोपीय मूल धातु रेग् से लैटिन 'रेगेरे'=आदेश देने वाला, सेना नायक तथा 'रेक्स'=निर्देशक, शासक, यूनानी 'आरेगों'=प्रवाहमय स्थल, आगे ले चलने वाला और वैदिक राज् को सम्बद्ध मानते हैं।[2] इस मूल धातु के मुख्यतः तीन अर्थ होते हैं—

(1) अवक्र, अकुटिल अथवा सीधा होना,

(2) दीप्ति या कान्ति से युक्त होना अथवा प्रसाधित करना, तथा

(3) शासन करना।

अवक्र, अकुटिल अथवा सीधा आदि अर्थों का द्योतन करने वाला 'ऋजु' शब्द दीप्ति, कान्ति, प्रसाधन अथवा अलंकरण के अर्थ में प्रयुक्त 'ऋञ्ज्' तथा प्रकाश, ज्योति, लोक अथवा राज्य तथा शासक आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त रञ्ज्, रजस् और अर्जुन आदि शब्द भी सगोत्र हैं।[3]

---

1. 'राजते ऐश्वर्य कर्म्मणः'। निघण्टु 2.21.5, निघण्टु में 'इरज्यति। पत्यते। क्षयति। राजतीति ऐश्वर्यकर्माणः (2.21)—चार शब्दों को 'ऐश्वर्य' अर्थवाला बताया गया है। निरुक्त में (2.3) में 'राजा राजते' कहा गया है।

2. सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 19.32.1 (यहां अवेस्ता 'रश्त्' या 'राश्त्'=व्यवस्थित करना, पंक्तिबद्ध करना तुलनीय है)।

3. ऋञ्ज् का अर्थ मेरहॉफर के अनुसार—ṛjyati, ṛñjeti, stretches, stretches out, Vgl. *räzayeiti*, GK. orego, Lat. rego, Goth. *ufrakjan*, Lithuanian ražytis, Tozharian B räk 'to bedeck'.
मैंफ्रेडमेरहॉफर—पूर्वोक्त, 'ऋज्यति' शब्द के अन्तर्गत। ह्विटने ने ऋज्, ऋञ्ज् और अर्ज् को एक ही धातु मान कर अर्थ दिया है—direct, stretch, attain.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राजा और ऋजु

मूलधातु रेग्-रेज् से निष्पन्न प्रथम अर्थ अवक्र, अकुटिल अथवा सीधा होने को 'ऋजु' शब्द निरूपित करता है । ऋग्वेद में प्रयुक्त ऋजु शब्द को भाषाशास्त्री √ऋञ्ज् से व्युत्पन्न मानते हैं जिसका अर्थ निष्पादन करना अथवा अलंकृत करना होता है । इसे भारोपीय रेग्-रेज्=निर्देशन करना और लैटिन 'रेगो' से सम्बद्ध माना जाता है ।[1] दुर्ग ने इस शब्द का अर्थ बतलाया है—'ऋजु शब्देन प्रसिद्धं नयनं, प्रसिद्धा वा मति रुच्यते', ऋजु शब्द से अवक्र नेतृत्व का वोध होता है । ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में प्रयुक्त इस शब्द के अर्थ में हमें क्रमिक विकास दिखाई देता है । ऋजु का प्रारम्भिक अर्थ गमन से सम्बद्ध था । इसके अनन्तर इस शब्द का अर्थ हुआ नयन अथवा ले जाना । अन्ततोगत्वा इसका अर्थ आर्जव अथवा सीधा जाना हो गया ।

"ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् । अर्यमा देवैः सजोषाः" ऋग्वेद 1.90.1 में प्रयुक्त 'ऋजुनीती नयतु' पर सायण का भाष्य हैं—"ऋजुनीत्या ऋजु नयनेन कौटिल्य रहितेन गमनेन नयतु अभिमतं फलं प्रापयतु" । इस ऋचा का अर्थ है कि वरुण और मित्र हमें उत्तम मार्ग पर अकुटिल गति से ले जायँ तथा देवों के साथ समान प्रेम से युक्त अर्यमा भी हमें ले जांय । किन्तु ऋजु शब्द प्रायः 'नयन' अर्थात् ले जाने के प्रसंग में प्रयुक्त है । इसी प्रकार ऋग्वेद 1.41.5 में "नरः ऋजुना पथा नयथ" का उल्लेख भी इसी अर्थ में किया गया है । इस पर सायण का भाष्य है—"हे नरः नेतारः ऋजुना पथा अविकलेन मार्गेण नयथ पारं प्रापयथ" । यहां भी सरल मार्ग से आने अथवा ले जाने के प्रसंग में ऋजु शब्द व्यवहृत हुआ । ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[2] में "ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम" का उल्लेख किया गा है । इस पर सायण का भाष्य है—"हे सोम त्वम् ऋजुम् अवक्रं गातुं मार्गं च वृजिनं बलं च मह्यं देहि" इसका अर्थ हुआ कि हे सोम, तुम मुझे सरल मार्ग और बल प्रदान करो । स्पष्ट है कि यहां भी 'ऋजु' शब्द को मार्ग और गमन से सम्बद्ध दिखाया गया है । ऋग्वेद 9.97.43 में 'ऋजुः पवस्य' का उल्लेख किया गया है । इस पर सायण का भाष्य है—"हे सोम ऋजुः ऋजुगमनः सन् पवस्य क्षर" । यहाँ भी ऋजु को गमन के साथ सम्बद्ध दिखाया गया है ।

ऋग्वेद की कई ऋचाओ में ऋजुः शब्द का उल्लेख खोजने अथवा दिखाने के अर्थ में किया गया है । ऋग्वेद 1.116.23 में 'कृष्णियाय ऋजूयते' का उल्लेख किया गया है । इस पर सायण का भाष्य "कृष्णोनाम् कश्चित् । तस्य पुत्राय ऋजूयते आर्जवमिच्छते"

1. सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त, पृ० 62.
2. ऋ० 9.97.18.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्थात् तुमने आर्जव अर्थात् सरलता की कामना करने वाले कृष्ण के पुत्र को दिखा दिया अथवा खोज दिया । ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[1] में 'देवानां सुमतिः न ऋजू यतां' के साथ ही 'देवा न आयुः प्र तिरन्त जीवसे' का उल्लेख किया गया है । इस पर सायण का भाष्य है "देवानां सुमतिः शोभना मतिरनुग्रहात्मिका बुद्धिरस्माकमस्त्विति शेषः । कीदृशानां ऋजूयताम् ऋजूमार्जवयुक्तं सम्यगनुष्ठातारं यजमानमात्मन इच्छताम । तथा देवाः नः अस्माकम् आयुः जीवसे जीवितुं प्रतिरन्तु वर्धयन्तु" । इसका अर्थ हुआ कि ऋजु अर्थात् सरल (यजमान) की कामना करने वाले देवता लोग कल्याणवाहक अनुग्रह हमारे सामने ले आवें, उनका दान भी हमारे सामने आवे तथा देवता हमारी आयु बढ़ायें । इसी प्रकार ऋग्वेद 2.26.1 में 'ऋजुरिच्छंशो' शब्द का प्रयोग सीधे मार्ग से 'पाने वाला अथवा खोजने वाला' (शंसः) के अर्थ में किया गया है ।

राजा और ऋञ्ज धातु

मूलधातु रेग्-रेज् से निष्पन्न होने वाले द्वितीय अर्थ—कान्ति, दीप्ति से युक्त होना, प्रसाधन अथवा अलंकरण करने को वैदिक धातु ऋञ्ज् निरूपित करती है । ऋज् का प्रसाधित करना आदि अर्थ परवर्ती अर्थ-विस्तार है । ऋग्वेद में 'ऋञ्जते' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है । यास्क ने इस शब्द को ऋञ्ज् धातु से व्युत्पन्न माना है । उनके अनुसार 'ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा, ऋजुरित्यप्यस्य भवति' (नि० 6.21) । भाषाशास्त्री इस शब्द को भारोपीय रेग्-रेज्=निर्देशन और लैटिन 'रेगो' (I direct) से सम्बद्ध मानते हैं । ऋञ्जते अथवा ऋञ्जति शब्द के मुख्य अर्थ हैं—सर्जन करना, प्रेरित करना, अलंकृत करना, बढ़ाना और प्रकाशित करना आदि । यथा "इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् । नि यामचित्रमु जते" (ऋ० 1.37.3) । इस ऋचा में प्रयुक्त 'चित्रम् ऋञ्जते' पर सायण का भाष्य है—"चित्रं विविधं शौर्यं ऋञ्जते नितरामलंकरोति"—विविध प्रकार की शूरता को अलंकृत करती है ।[2]

"न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथा शनिः । अग्नि र्जम्भैस्तिगितैरत्तिर्भवति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते ।।" ऋ०1.143.5 में प्रयुक्त 'ऋञ्जते' पर सायण का भाष्य है—"नितरां प्रसाधयति दहतीत्यर्थः" । इस ऋचा में कहा गया है कि अग्नि, वीरों की तरह, तीखे दातों से शत्रुओं का भक्षण और विनाश तथा वनों का

---

1. ऋ० 1.89.2.
2. मैक्समूलर ने इसी ऋचा के सन्दर्भ में 'ऋञ्जते' का अर्थ 'gain' तथा 'चित्रम् का अर्थ 'splendour' किया है । वेदिक हीम्स, भाग 1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दहन करते हैं। यहाँ 'ऋञ्जते' शब्द का प्रयोग शत्रुओं के अभिभवन के अर्थ में हैं। ऋग्वेद 2.1.8 में 'विशः ऋञ्जते' का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ है कि विश् देदीप्यमान राजा को पराभव करने की शक्ति प्रदान करते हैं। ऋग्वेद 4.38.7 में 'किरते रेणुमृञ्जन्' का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ है कि अश्व धूलि को उठाकर भूदेश के ऊपर विक्षिप्त करता है। अतः यहाँ ऋञ्ज् धातु का अर्थ फैलाना है तथा प्रसंगतः इसका अर्थ पद्दलन करना अथवा पराभव करना है। "आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरः। आरे अश्मा यमस्यथ", ऋग्वेद 1.172.2 में प्रयुक्त 'मरुतः स्वतेजा ऋञ्जती' पर सायण का भाष्य है, "मरुतः स्वात्मानलंकुर्वती प्रसाधयन्ती" इस ऋचा का अर्थ है कि दानशील मरुतों, तुम्हारे सीधा प्रहार करने वाले दीप्यमान् और प्राणिवधकुशल अस्त्र हमारे पास से दूर हों। तुम जिस अश्म नाम के अस्त्र को फेंकते हो, वह भी हमारे पास से दूर हों। स्पष्ट है कि ऋञ्जती का यहाँ अर्थ है, दूसरों के पराभव के लिए शक्ति सम्पन्नता। "स्वनो न वोऽमवान्रे जयद्वृषा त्वेषो ययिस्तविष एवयामरुत। येना सहन्त ऋञ्जत स्वरोचिषः रथारश्मानो हिरण्य याः स्वायुधास इष्मिणः" ऋग्वेद 5.87.5. इस ऋचा में मरुतों को स्वाधीन तेजा, स्थिरदीप्ति, स्वर्गाभरणभूषित और अन्नदाता कहा गया है। जिस शब्द से मरुत शत्रुओं को अभिभूत करके कार्य साधनकरते हैं, वह प्रबल वारिवर्षणकारी, दीप्त, विस्तृत और प्रबुद्ध ध्वनि एवया मरुत् को कम्पित न करे। यहाँ भी 'सहन्तः ऋञ्जत' का प्रयोग शत्रुओं के पराभव के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद की एक ऋचा[1] में 'ऋञ्ज्' का प्रयोग विशपति अग्नि को 'गिरा' अर्थात् स्तुति द्वारा प्रसारित करने, बढ़ाने या शक्ति प्रदान करने के अर्थ में किया गया है।

"अतः परिज्मन्न गहि दिवो वा रोचनादधि। समस्मिन्नृञ्जते गिरः" ऋग्वेद 1.6.9 में प्रयुक्त "समस्मिन्नृञ्जते गिरः" पर सायण का भाष्य है—"अस्मिन् कर्मणि वर्तमान ऋत्विक् गिरःस्तुतीः सम्ऋञ्जते सम्यक् प्रसाधयति 'ऋञ्जति प्रसाधनकर्मा" (निरुक्त—6.21) इति यास्कः। इस ऋचा में प्रार्थना की गई है कि हे सर्वदिशा व्यापक मरुतगण, अन्तरिक्ष, आकाश या ज्वलन्त सूर्य-मण्डल से आओ। इस यज्ञ में पुरोहित लोग तुम लोगों की भली-भाँति स्तुति करते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद 1.141.6 में 'आदि द्योतारं वृणते ऋञ्जते' का उल्लेख प्रसाधन करने के अर्थ में किया गया है। इस ऋचा का अर्थ है कि हवि का सम्पर्क करने वाले यजमान, द्युलोक-निवासियों की प्रसन्नता के लिए होम-सम्पादक अग्नि का वरण करते हैं और राजा की तरह उनका आराधन करते हैं। अग्नि बहुतों के

1. ऋग्वेद : 6.15.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्तुति-योग्य और विश्वरूप हैं। वे यज्ञ-सम्पन्न और बलशाली हैं। वे देवों और स्तुति योग्य मर्त्य यजमानों—दोनों के लिए अन्न की कामना करते हैं।

राजा और रजस्

मूलधातु रेग्-रेज् से निष्पन्न होने वाले तृतीय अर्थ—नायक, नेता, मुख्य राजकुमार अथवा शासक अर्थ को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त रज्, रजस् और अर्जुन आदि शब्द निरूपित करते हैं।

ऋग्वेद में 'रजस्' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। यास्क ने इस शब्द को $\sqrt{}$रज् से व्युत्पन्न माना है और इसकी विविध व्याख्या प्रस्तुत की है—"रजो रजते ज्योती रज उच्यते उदकं उच्यते लोका रजांस्युच्यन्तेऽसृगहनी रजसी उच्यते।"[1] इस प्रकार रजस् का अर्थ हुआ प्रकाश, जल, लोक, रक्त और दिन। दुर्ग के अनुसार—"ज्योती रज उच्यते तद्धि अनुर जयति द्रव्याणि स्वेन प्रकाशेन।.....लोका रजोस्युच्यन्ते तेष्वपि हि प्राणिनो रज्यन्ते"। कीथ और मैक्डॉनेल के अनुसार ऋग्वेद[2] तथा परवर्ती संहिताओं[3] में 'रजस्' स्वर्ग एवं भूतल के मध्य स्थित अन्तरिक्षीय क्षेत्र को द्योतित करता है। इनके अनुसार इस शब्द का प्रयोग कुछ स्थलों पर भूमि पर स्थित धूल-धूसरित क्षेत्र के अर्थ में किया गया है।[4] भाषाशास्त्री 'रजस्' शब्द को भारोपीय रेग् (reg= to direct,, to set in motion) और लेटिन रेगो (rego = 'I direct') से सम्बद्ध मानते हैं।[5]

"त्वमसि परि रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः। चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपःस्वः परिभूरेष्या दिवम्" ऋग्वेद 1.52.12 में प्रयुक्त "अस्य पारे रजसो

---

1. यास्क—निरुक्त, 4.19.
2. ऋ० 1.56.5, 1.62.5, 1.84.1, 1.124.5, 1.168.6, 1.187.4, 2.40.3, 6.62.9, वेदिक इण्डेक्स, खण्ड 2, पृ० 198 पर उद्धृत।
3. अथर्व० 4.25.2, 6.25.1, 10.3.9, 13.2.8, तैत्तिरीय संहिता 3.5.4.2, वाजसनेयी संहिता 13.44, वेदिक इण्डेक्स, खण्ड 2, पृ० 198 पर उद्धृत।
4. ऋ० 1.166.3, 3.62.16, 10.75.7. वेदिक इण्डेक्स, खण्ड 2, पृ० 198 पर उद्धृत।
5. सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त, पृ० 142.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्योमनः" पर सायण का भाष्य है—"अस्माभिः परिदृश्यमानस्य व्याप्तस्य अन्तरिक्षस्य रजसः लोकस्य" । इस ऋचा का अर्थ है कि हे अरिमर्दन इन्द्र इस व्यापक अन्तरिक्ष के ऊपर रहकर अपने भुजबल से तुमने हमारी रक्षा के लिए भूलोक की सृष्टि की है । तुम बल के परमाण हो । तुम सुगन्तव्य अन्तरिक्ष और स्वर्ग को व्याप्त किये हुए हो । स्पष्ट है कि इस ऋचा में रजस् शब्द का प्रयोग क्षेत्र या लोक के अर्थ में किया गया है । ऋग्वेद 1.33.7 में 'रजसः पारे अयोधयः' का उल्लेख किया गया है । इस पर सायण का भाष्य है—"अन्तरिक्षस्य पर भागे युद्धमकरोः युद्धेन मारितवानित्यर्थः" । यहाँ भी 'रजस्' शब्द का अर्थ लोक, क्षेत्र अथवा राज्य ही है । इसी प्रकार "ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराय आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः । इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति" ऋग्वेद 1.164.19 में प्रयुक्त 'रजसः' का भाष्य सायण ने 'रञ्जनात्मकस्य लोकस्य' किया है । इस ऋचा का अर्थ है कि जिन्हें विद्वान् लोग अधोमुख कहते हैं, उन्हीं को ऊर्ध्व-मुख भी कहते हैं और जिन्हें उर्ध्वमुख कहते हैं उन्हीं को अधोमुख भी कहते हैं । सोम ! तुमने और इन्द्र ने जो मण्डलद्वय बनाया है, वह युगयुक्त अश्व आदि की तरह विश्व का भार वहन करता है । इसी प्रकार ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में भी 'रजसः' शब्द का प्रयोग 'रञ्जनात्मकस्य लोकस्य' के अर्थ में किया गया है ।[1] ऋग्वेद 6.62.9 में 'रजस्' शब्द का प्रयोग समस्त लोक, क्षेत्र अथवा राज्य के अर्थ में किया गया है ।

राजा और रञ्ज् धातु

शोभाधायक और लोक (राज्य) के अर्थ का विकास हमें √रञ्ज् में दिखाई देता है । इस प्रसंग में यूनानी कासमॉस्[2] और लैटिन मुण्डस्[3] शब्द विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं,

---

1. ऋग्वेद 2.2.3.
2. यूनानी 'कासमॉस' शब्द का प्राथमिक अर्थ है—'व्यवस्था' अथवा 'समुचित व्यवस्था' । इसका द्वितीय अर्थ है—'आभूषण', अलंकरण और वेश-भूषा । क्रीट भाषा में कास-मॉस् शब्द का प्रयोग अधिकृत शासकीय दल (Official ruling body) अथवा एकाकी अधिकारी (single official) के रूप में किया गया है । वाल्दे पोकॉर्नी—पूर्वोक्त, 1.403.
3. लैटिन भाषा में मुण्डस् शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है—(1) महिलाओं के आभूषण तथा वेश-भूषा और (2) विश्व अथवा जगत् । सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 1.1.2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जो युगपत् रीति से लोक और शोभाधान दोनों का अर्थ वहन करते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि प्रसाधन सामग्री के रूप में प्रयुक्त होने वाला आंग्ल भाषा का 'कासमेटिक्स' शब्द यूनानी 'कासमॉस्' शब्द से ही निष्पन्न है।

इस प्रसंग में 'अर्जुन' शब्द भी मनोरंजक एवं महत्त्वपूर्ण है। यह शब्द भी 'रजस्'—'रेग्' वर्ग से सम्बद्ध है। 'अर्जुन' का प्रारम्भिक अर्थ है दीप्त, धवल'। शक भाषा में इसका 'एर्झुन' रूप मिलता है, जिसका अर्थ नेता अथवा मुखिया होता है। 'कदफिसिस्' के एक अभिलेख में 'एर्झुन' शब्द का प्रयोग राजकुमार के अर्थ में किया गया है।[1] 'अर्जुन' शब्द का उल्लेख बार-बार मध्येशियाई कूचा और कारशर राज्यों की राजकीय वंशावली में नामान्त के रूप में मिलता है—यथा 'सेनार्जुन', 'इन्द्रार्जुन' तथा 'क्षेत्रार्जुन' आदि।[2] यद्यपि इस शब्द का जन-जाति अथवा जन-नायक के रूप में प्रयोग वैदिक साहित्य में सर्वथा अनुपलब्ध है, तथापि मध्येशिया में शकों द्वारा संस्थापित राज्यों में नायक अथवा शासक के रूप में इसका प्रयोग मिलता है।

राजा : मार्गदर्शक, नेता, सैन्य संचालक

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में प्रयुक्त 'राजा' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ गमन करने वाला, मार्ग प्रदर्शन करने वाला, नेतृत्व करने वाला, सैन्य संचालन करने वाला तथा बलपूर्वक अग्रसर करने वाला प्रतीत होता है। "न स राजा व्यथते यूस्मिन्निद्रस्तीव्रं सोमं पिवति गोसखायम्। आसत्वनैरजति हन्ति वृत्रं क्षेति क्षितीः सुभगो नामपुष्यन्" ऋग्वेद 5.37.4.—इस ऋचा में राजा के कुछ कार्यों का वर्णन है—अजति, हन्ति तथा क्षेति। इसमें सम्प्रति 'अजति' पर ध्यान आकृष्ट किया जाता है। उपर्युक्त ऋचा में 'राजा आ सत्वनैः अजति' पर सायण का भाष्य है कि "स राजा अनुचरैः सर्वतः गच्छति"। अजति शब्द $\sqrt{}$अज् से निष्पन्न है। यह भारोपीय आगमेन् (ag=men) का सगोत्रीय है, जिसका अर्थ भी प्रेरित करना अथवा बलपूर्वक अग्रसर करना होता है। लेटिन भाषा का agmen भी इसी से सम्बद्ध है।[3] 'अजति' का अर्थ है—प्रेरित करता है अथवा हांकता है। अतः अजति का अर्थ है नेतृत्व करना। ऋग्वेद 1.24.8 में कहा गया है कि राजा वरुण ने सूर्य के चलने के लिए विस्तृत मार्ग बनाया "राजा उरं पन्थानं चकार"। इसी ऋचा में कहा गया है कि "प्रतिधातवे अपदे (पन्थः) अकः"। अपदे—जहां पाद नहीं रखा जा

1. बुद्धप्रकाश—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलिजेशन, पृ० 447.
2. वही, पृ० 448 की पाद-टिप्पणी पर उद्धृत।
3. सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त पृ० 40.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सकता, जाया नहीं जा सकता, वहां प्रतिधातवे—दौड़ने के लिए मार्ग का निर्माण किया। अतः स्पष्ट है कि यहां राजा को गमन तथा गमनार्थ पथ के साथ सम्बद्ध दिखाया गया है। ऋग्वेद 10.14.1 में "पन्थानं अनुस्वशानं जनानां वैवस्वतं यमं राजानं दुवस्य" का उल्लेख किया गया है। यहाँ 'राजा पन्थानं अनुपस्पशानं' में राजा शब्द का उल्लेख नेतृत्व करने अथवा अग्रसर करने वाले नेता के अर्थ में किया गया है।[1] ऋग्वेद की एक अन्य[2] ऋचा में वरुण को 'रजसो विमान' सुपार क्षत्र' सतो अस्य राजा" कहा गया है। यहां 'रजसो विमाना' महत्त्वपूर्ण है। जैसा हम देख चुके हैं, 'रजस्' का अर्थ है 'लोक', 'राज्य क्षेत्र'। इस ऋचा में राजा को (नवीन) राज्य क्षेत्र का निर्माण करने वाला कहा गया है। 'सुपार क्षत्रा' में क्षत्र शब्द भी क्षेत्र का अर्थ रखता है—विशाल राज्य-क्षेत्र। ऋग्वेद की एक ऋचा है—"ते घा राजानो अमृतस्य मन्द्रा अर्यमा मित्रो वरुणा परिज्मा। कद्रुद्रो नृणां स्तुतो मरुतः पूषणो भगः" ऋग्वेद 10.93.4.—इसमें प्रयुक्त 'परिज्मा' शब्द का अर्थ सायण "सर्वतोगामी सर्वत्राप्रतिहतगतिः" करते हैं। इस ऋचा में कहा गया है कि सर्वत्रगामी मित्र, वरुण और अर्यमा राजा देवताओं से स्तुत्य हैं। स्पष्ट है कि यहां भी राजा शब्द का उल्लेख सर्वत्र गमनशील व्यक्ति के रूप में किया गया है। "नेतार ऊ षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा। अति विश्वानि दुरिता राजानश्चर्षणीनामति द्विषः" ऋग्वेद 10.126.6 में तो वरुण, मित्र और अर्यमा को स्पष्टतः 'नेतारः राजानः' कहा गया है। इस ऋचा में कहा गया है कि राजा वरुण, मित्र और अर्यमा मार्ग दिखाकर ले जाने में अत्यन्त निपुण हैं। ये सभी नेतृत्व प्रदान करने वाले मनुष्यों के राजा हमें समस्त पापों और शत्रुओं के हाथों से बचावें। अतः इस ऋचा से राजाओं द्वारा किये जाने वाले नेतृत्व एवं संरक्षण की बात अच्छी तरह प्रमाणित होती है। ऋग्वेद 9.89.2 में "राजा सिन्धूनां वास अवसिष्ठां नावं अल्हद्" का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ है कि राजा नौका में चढ़ते हैं। यहां कहा गया है कि राजा नौकारोहण, गमन, निवास-निर्माण—संक्षेप में 'वास अवशिष्ट-निवास आच्छादित करता है', नाव पर आरोहण करता है। अतः यहां राजा को हम गमन तथा नेतृत्व के कार्य से सम्बद्ध होते हुए देखते हैं, जिससे उपनिवेशन की प्रक्रिया का संदर्भ स्पष्ट होता है। इसी प्रकार ऋग्वेद 8.70.1 में इन्द्र को 'चर्षणीनां राजा, रथेभिः याता तथा पृतनानां तरुता' कहा गया है। इस ऋचा का अर्थ

---

1. यम ने बहुतों के लिए मार्ग खोज दिया क्योंकि अवेस्ता के अनुसार मरने वालों में वे पहले थे, परन्तु यम के लिए 'राजा' विशेषण क्या मार्ग-दर्शन के कारण है, अथवा न्याय करने के कारण ? यही बात वरुण के साथ भी है।

2. ऋ० 7.87.6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होगा कि इन्द्र प्रजा का राजा है, वह रथों से चलने वाला है तथा सेनाओं का तारक है। इसमें राजा के दो कार्यों की ओर स्पष्ट सूचना मिलती है—(1) रथों से चलना अथवा रथारूढ़ होकर समर-स्थली में जाना अथवा अपनी सेना का नेतृत्व करना तथा (2) अपनी सेना का प्राण-रक्षा करना। ये दोनों कार्य राजा के नेतृत्व प्रदान करने वाले कार्य से सम्बद्ध हैं। अतः इन्द्र के सम्बन्ध में 'राजा' का प्रयोग निश्चित ही नेतृत्व का द्योतक है।

ऋग्वेद की एक ऋचा[1] में 'राजानः अनाप्यं क्षत्र आशत' का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ है कि राजाओं ने दूसरों को अप्राप्त क्षत्र (राज्य क्षेत्र) प्राप्त किया था। इसी प्रकार "हविर्हविष्मो महिसद्म दैव्यं नभो वसानः परियास्पध्वरम्। राजा पवित्ररथो वाजमारुहःसहस्र भृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत्" ऋग्वेद 9.83.5 में सोम से कहा गया है कि हे हविष्म, तुम राजा हो। पवित्र रथ युक्त होकर तुम युद्ध में जाते हो। असीम गमन करते हुए तुम महान् अन्न को जीतते हो। एक अन्य ऋचा[2] में राजा को युद्धकर्त्ता के रूप में सेना का नेतृत्व करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[3] में तो वरुण, मित्र और अर्यमा को स्पष्टतः राजा और नेता दोनों कहा गया है। "प्रशंसमानों अतिथिर्न मित्रियोऽग्नी रथो न वेद्यः। त्वे क्षेमासो अपि सन्ति साधवस्त्वं राजा रयीणाम्" ऋ० 8.19.8 में अग्नि को अतिथि तथा राजा कहा गया है। यहाँ प्रयुक्त 'अतिथि' शब्द अत्यन्त मनोरंजक एवं महत्त्वपूर्ण है। यह शब्द $\sqrt{}$अत्=जाना से निष्पन्न है। अतिथि शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—गमनशील और सामान्यतः इसका प्रयोग उस व्यक्ति के प्रसंग में किया जाता है, जो दूसरों के घर जाता है। यास्क ने इसकी दो व्युत्पत्तियां दी हैं—'अतिथिः, अभ्येति, तिथिषु परकुलानीति वा, पर गृहणाति वा' (निरुक्त—

1. ऋ० 7.66.11.
2. ऋ० 10.75.4.
3. "अयं हि नेता वरुण ऋतस्य मित्रो राजानो अर्यमापो धुः। सुहवा देव्यदितिरनर्वा ते नो अंहो अति पर्षन्नरिष्टान्" ऋ० 7.40.4—यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में अग्नि के लिए 'राजा' का प्रयोग देवों को हविष् पहुँचा कर उनके पोषण के कारण, वरुण और यम के लिए 'राजा' का प्रयोग उनके दण्ड और न्याय-कार्य के कारण, इन्द्र के साथ 'राजा' विशेषण उसके युद्धों में नेतृत्व, शत्रुओं को पराभूत करने तथा जन को नये-नये क्षेत्रों (प्रदेशों) पर आधिपत्य दिलाने के कारण किया गया है। सोम दासों पर विजय प्राप्त करने के लिए इन्द्र को शक्ति प्रदान करता है, अतः शक्ति-प्रदाता के रूप में सोम को भी राजा कहा गया है। आदित्य प्रकाश का देवता है इसलिए उसे 'नेता' कहा गया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

6.5) । यह शब्द भारोपीय धातु अत्=गमने से सम्बद्ध है[1] । 'स्वधरो राजा विशां अतिथिश्चारुरायवे' ऋ० 2.2.8 में राजा अग्नि को अतिथि की तरह यजमान के पास जाते हुए दिखलाया गया है । उपर्युक्त उद्धरणों से ऋग्वेद में प्रयुक्त राजा शब्द का गमन तथा उपनिवेशन के कार्यों के साथ सम्बद्ध होना अच्छी तरह प्रमाणित होता है ।[2]

'राजा' का विकास

राजा की स्थिति का राज्यतंत्र पर व्यापक प्रभाव दिखाई देता है । क्रमशः विराट्, स्वराट्, महाराज, अधिराज आदि रूपों में राजा का विकास होता हुआ दिखाई देता है ।

वैराज्य

वैदिक साहित्य में महाभिषेक के प्रसंग में विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों के लिए राज्य, साम्राज्य, स्वराज्य एवं भौज्य आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वैराज्य शासन-प्रणाली का प्रचलन उत्तर कुरु और उत्तर भद्र में था[3] जो सम्भवतः हिमालय के समीपवर्ती प्रदेश थे । ज़िमर महोदय ने उत्तर कुरु का तादात्म्य कश्मीर से स्थापित किया है, जो असम्भव नहीं प्रतीत होता ।[4] यजुर्वेद के समय में वैराज्य शासन-प्रणाली दक्षिण में व्यवहृत थी ।[5] इसके आधार पर काशी प्रसाद जायसवाल ने

---

1. सिद्धेश्वर वर्मा—पूर्वोक्त, पृ० 61.
2. राजन् के सगोत्र शब्द लातीनी, आवेस्तिक और खोतनी भाषाओं में मिलते हैं । यूनानी, जर्मन और स्लावी भाषा-समूहों में उपलब्ध नहीं होते हैं । इससे भाषा-वैज्ञानिक आधार पर सांस्कृतिक संरचना में एक समस्या उठ खड़ी हुई । यदि 'राजा' का पद पुराभारोपीय संस्कृति में था तो किन परिस्थितियों में यूनानी-स्लावी-जर्मन क्षेत्र में इस प्रथा को परिसमाप्त किया गया ? इस विषय पर कल्पनाओं के लिये द्रष्टव्य, वर्नर विण्टर—"सम वाइडस्प्रेड इण्डोयोरोपियन टाइटिल्स", इण्डोयोरोपियन ऐण्ड इण्डोयोरोपियन्स, पृष्ठ 50-51.
3. "ये के च परेण हिमवन्तुं जनपदा उत्तर कुरु व उत्तरभद्रा इति वैराज्यायतेऽभिषिच्यन्ते । विराडिति तेनाभिषिक्ता नाचक्षते" । ऐत० ब्रा० 8.14.
4. ज़िमर—कारपोरेट लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 219 पर उद्धृत, वेदिक इण्डेक्स 1, पृ० 84.
5. "विराडसि दक्षिणा दिग्रुदास्ते देवा अधिपतयः" इत्यादि । यजुर्वेद 15.11.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह निष्कर्ष निकाला है कि वैराज्य शासन-प्रणाली उत्तर भारत में ही नहीं वरन् देश के विभिन्न भागों में प्रचलित रही ।[1]

ऋग्वेद में विराज को अधिपुरुष और सम्पूर्ण विश्व का उत्पादक बताया गया है ।[2]

---

1. हिन्दू पालिटी, पृ० 81.
2. "तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिमथेपुरः" ऋ० 10.90.5. यहां निम्नांकित द्रष्टव्य है :—"In verse 5 (Ṛgveda 10. 90. 5) there is reference to the creation of Virāj, the Mother principle of universal infinite nature, also called Mahat and Yoni, the womb, which receives the seed of creation from Svayambhū or the self-existent Brahman, of the thousand headed Puruṣa. Svayambhū is also called Svarāt in contrast to this opposite prici-ple of Virāj. Virāj is also called Parameṣṭi and Ṛta or Soma and Āpaḥ. The two piinciples of Svayambhū and Virāj enter into union as Father and Mother, and give birth to the next Puruṣa Daśāngula, of Virāja (son of Virāj), also named Vairāja. Manu exemplified in eace individual manifest form."

"In this context three categories should be clearly distinguished : the first is Svayanbhū, the second Virāj and the third Vairāj Puruṣa. The first is the father, the second is the mother and the third is the son. The first two are, unmanifest, but the son as Ṣurya and Vaiśvānara is manifest. There is also another pair of names preserved in the conception of Nārāyaṇa Puruṣa often explained in the Purāṇas and Bhāgavata tradition. According to this the father principle Svayambhū is called Nara, the Mother principle Virāj is called Narā which is the same as Āpah, the waters or Soma-Parmeṣṭi (Cf. āpo vai nara-sūnavaḥ, Manu). The offspring produced by the union of these two universal parents is called Nārāyaṇa who is the same as Sūrya, Hiraṇyagarbha, Manu, Agni, Indra, Prāṇa etc. Once the validity of these definitions is cleatly grasped there would be little difficulty in understanding the Purāṇic statements about Nārāyaṇa as the Person at the root of cosmogonic formulation. The followtng verse of Manu states the position clearly :—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं प्रोक्तं तस्मान्नारायणः स्मृतः ।।" मनु० 1.10.

Nara-Narā-Nārāyaṇa is the unified sūtra of the triple princi-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विराट्

ऋग्वेद में विराट् शब्द का प्रयोग राजत्व प्रदान करने वाली अलौकिक शक्ति के अर्थ में किया गया है ।[1] इसी प्रकार "ऋषभं मा समानानाम् सपत्नानाम् विषासहिम् । हन्तारं शत्रूणाम् कृधि विराजं गोपतिं गवाम्" ।। ऋ० 10.166.1. में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र ! मैं समकक्ष व्यक्तियों में श्रेष्ठ होऊं, शत्रुओं को पराभूत करूँ, विपक्षियों को मार डालूं और सर्वश्रेष्ठ होकर मैं अशेष गोधन का अधिकारी बनूं । स्पष्ट है कि यहां विराज शब्द का प्रयोग राजत्व-सम्पन्न व्यक्ति के अर्थ में किया गया है । ऋग्वेद में विराट् पुरुष को सहस्रशिरों, सहस्र चक्षुओं और सहस्र चरणों वाला तथा समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त करने वाला कहा गया है ।[2] उसी को वर्तमान, भूत एवं भविष्य कहा गया है ।[3] ऐसे विराट् पुरुष से ही समाज के चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई ।[4] इस प्रकार "विराजो अधि-पूरुषः" अवर्गीकृत आदिम स्थिति का द्योतन करता है ।

अथर्ववेद में विराट् शब्द का उल्लेख अराजक स्थिति के अर्थ में हुआ है ।[5] अन्यत्र

---

ples of creation. Both in its transcendent and immanent aspects every organism, cell, minute particle of matter solar system or vast expanded universe has its archetypal form in the Nārāyaṇa Hiraṇyagarbha principle. The principle of life that is quick in its centre is Nārāyaṇa. He is the son of Virāj and spoken of as Vairāja Manu, referred to in the Mantra as "Virājo adhi puruṣah". The various names of one and the same principle here implied under vairāja are recounted in the following verse of Manu :—

"एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राममपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।" मनु० 12.123.

डॉ० वी० एस० अग्रवाल—डॉ० मिराशी फेलीसिटेशन वालूम, पृ० 11-12.

---

1. ऋ० 10.159.6, 10.174.5
2. ऋ० 10.90.1
3. "पुरुष एवदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्" ऋ० 10.90.2.
4. ऋ० 10.90.12.
5. "विराड् इदमग्र आसीत तस्या जातायाः सर्वमबिभेदयमेवेदं भविष्यतीति ।" अथर्ववेद 8.10.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उस विराट् को वाणी, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति और मृत्यु कहा गया है। उस विराट् को ही साध्यों का अधिराज कहा गया है तथा भूत और भविष्य को उसके ही अधीन बताया गया है।[1] "को विराजो मिथुनत्वं प्रवेद क ऋतून क उ कल्पमस्याः। क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः" अथर्व० 8.9.10 में विराज को प्रथम उत्पादक हेतु कहा गया है। उस अलौकिक शक्ति की परिकल्पना अन्नवाली गाय के रूप में की गई है। विवस्वान् के पुत्र मनु को विराज का बछड़ा, पृथिवी को पात्र तथा वेन के पुत्र पृथी को दोहक कहा गया है। इस प्रकार उसके दोहन से कृषि और धान्य की उत्पत्ति हुई। इसी कारण मनुष्य कृषि और धान्य पर ही जीवित रहते हैं। इतना ही नहीं वरन् यह भी कहा गया है कि जो इस तथ्य को जानता है उसको कृषि में सिद्धि प्राप्त होती है और वह दूसरों की जीविका का निर्वाह करने वाला होता है।[2] इसी प्रकार श्रीमद्भागवत् पुराण 4.18.12 में कहा गया है कि महाराज पृथु ने मनु को बछड़ा बना कर समस्त सस्यों को अपने हाथ में ही दुह लिया। गोपथ ब्राह्मण[3] में विराज को श्री और अन्न कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण[4] में विराज का तादात्म्य भूमि के साथ स्थापित किया गया है।

महाराज और महाराज्य शब्दों के अनेकेशः उल्लेख उत्तर वैदिक साहित्य में हैं। यद्यपि यह सही है कि संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में महाराज विरुद का प्रयोग प्रायः देवताओं के प्रसंग में किया गया है तथापि कतिपय स्थलों पर इसका शासकीय स्वरूप निर्विवाद रूप से स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ ऐतरेय ब्राह्मण में जनमेजय पारिक्षित, सोमक साहदेव्य, सुदास पैजवन और विदर्भ के भीम तथा गान्धार के नग्नजित को महाराज की उपाधि धारण करते हुये दिखलाया गया है। वहाँ उनको ऐश्वर्य सम्पन्न आदित्य की भांति ओज प्रदान करने वाला तथा सभी दिशाओं से उपहार ग्रहण करने वाला कहा गया है।[5]

---

1. "विराड् वाग् विराड् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः। विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु"॥ तत्रैव, 9.10.24.
2. तत्रैव, 8.10.24
3. "अन्नम् वै श्री विराट्"—गोपथ ब्राह्मण, 2.1.9
4. "इयं वै विराडिति। तस्माद्ऽस्यै भूयिष्ठं लभते"। शतपथ ब्राह्मण 12.6.1.40 तुलनीय "अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट्"। शा०प० 262.41
5. ऐतरेय ब्राह्मण 7.34

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

महाराज उपाधि का सामरिक विजयों और राज्य-क्षेत्र के विस्तार के साथ सम्बन्ध विविध वैदिक प्रसंगों से प्रमाणित होता है । कौषीतकी ब्राह्मण[1] में इन्द्र के साकमेध नामक याज्ञिक कृत्य के काव्यात्मक वर्णन से यह तथ्य सिद्ध होता है । वहाँ कहा गया है जिस प्रकार महाराजा रणस्थली में अपनी सेना की एक टुकड़ी को आगे भेजकर अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करता है उसी प्रकार (यजमान) देवताओं के आगे यज्ञों को स्थापित कर अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करता है । शतपथ ब्राह्मण[2] में अनेकत्र इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि राजा उसी प्रकार विजयों के माध्यम से महाराज बनता है जिस प्रकार वृत्र को पराभूत और मारने के बाद इन्द्र महेन्द्र बने । इसी ग्रन्थ में अन्यत्र यह कहा गया है कि महाराज अपने पड़ोसी राज्यों को जीत कर अपनी इच्छानुसार उन्हें अपने राज्य में मिलाता है ।[3]

महाराज की ही भाँति राजाधिराज की उपाधि का उल्लेख भी हमें उत्तर वैदिक साहित्य में अनेकत्र मिलता है । वाजसनेयी संहिता में हम राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित को अभिषिक्त होने वाले शासक पर पवित्र जल का सिंचन करते समय उसे "क्षत्राणां क्षत्रपतिः" कह कर सम्बोधित करते हुये देखते हैं ।[4] यहाँ "क्षत्राणां क्षत्रपतिः" का तात्पर्य स्पष्टतः राजाओं के राजा अर्थात् राजाधिराज से है । इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण[5] में उल्लिखित "राज्ञानां अधिराजः" भी राजाधिराज का समानार्थक है । तैत्तिरीय आरण्यक में राजाओं के राजा का अर्थ वहन करने वाले "राजाधिराज" की उपाधि वैश्रवण को दी गई है ।[6] यद्यपि यहाँ यह विरुद एक देवता को दिया गया है तथापि इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला ही जा सकता है कि उत्तर वैदिक युग में राजाधिराज नामक विरुद की अवधारणा का सम्यक् विकास हो चुका था । यह तथ्य ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रसंग में प्रयुक्त आधिपत्य शब्द (जिसमें सार्वभौम सत्ता का भाव निहित है) से भी होता है ।

इस प्रकार भारतेरानी काल का राजा भारतीय इतिहास की धारा में प्रतिष्ठित

---

1. कौषीतकी ब्राह्मण 5.5
2. शतपथ ब्राह्मण 4.3.3.17
3. शतपथ ब्राह्मण 14.5.1.20
4. वाजसनेयी संहिता 9.40
5. शतपथ ब्राह्मण 5.4.2.3
6. तैत्तिरीय आरण्यक 1.31.6

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुआ । इसके विपरीत ईरानी परम्परा में $\sqrt{}$क्षि=निवसने का क्षत्र-क्षथ्र रूप राज्य-सन्दर्भ में विकसित हुआ । काल की महिमा से ये दोनों परम्परायें पुनः भारत में युगपत रूप में दिखाई दीं । "क्षायथ्यानां क्षायथ्यः" का सुग्द रूप "स्साओनान स्साओ" और कुषाण—बाख्त्री का "शाओनान शाओ" एवं इसका संस्कृत रूप "षाहानुषाही" क्रमशः कुषाण सिक्कों और गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त हुये हैं । "बेसिलिऑस बेसिलिऑन" का प्रतिरूप "राजराज" और "राजाधिराज" बाद में "महाराजाधिराज" के रूप में भारतीय राजतन्त्र में समादृत हुआ ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पञ्चम अध्याय

कृषि-दर्शन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैदिक और प्राग्वेदीय आर्य-धर्म के अनेक पक्षों की व्याख्या अनेक दृष्टियों से आधुनिक मनीषियों ने की। मैक्समूलर, शिलर, शॉपेनहॉवर आदि यूरोपीय चिन्तकों ने एवं दयानन्द, राजाराम मोहन राय, विवेकानन्द आदि भारतीय पुनर्जागृति काल के समाज-सुधारकों और दार्शनिकों ने वैदिक और औपनिषद् धर्मों के तत्त्वों का विवेचन किया। भारतीय परम्परा में तो वेद और वैदिक स्वाध्याय का सर्वातिशायी महत्त्व था। यह कहा गया कि 'यत्भूतञ्च भाव्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' तथा धर्म को वेदैकगम्य बताया गया। मीमांसकों और नैरुक्तों के अतिरिक्त नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने भी वेद के पक्षों पर अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये। साथ ही आगमिकों और तांत्रिकों के भी इस विषय में अपने निश्चित सिद्धान्त हैं। यहाँ हम इस विशाल चिन्ताधारा के व्यापक पक्षों की गवेषणा में अक्षम हैं। हमारा प्रयोजन भी यह नहीं। हम केवल ग्राम्य जीवन के उष:कालीन आर्थिक मूलाधारों—पशुपालन और कृषि की वृत्तियों से सम्बद्ध आध्यात्मिक शक्ति के विषय का किंचित् उद्‌घाटन करना चाहते हैं। इस सीमित विषय को भी प्रतिपाद्य की दृष्टि से और भी छोटे क्षेत्र में मर्यादित करना अभीष्ट है। पूषा आदि पशुपालन से और सीता, शुनासीर आदि सस्योत्पादन से सम्बद्ध देवताओं का एवं अथर्वा या उनसे सम्बद्ध ऐसे ऋषि-परम्परा का जो पशु-पालन के प्रसंग में उक्त हैं और पृथु-वेन आदि ऐसे वैदिक व्यक्तित्वों का जो कृषि-जीवन के प्रवर्तक थे, यहाँ विवेचन अभीप्सित नहीं। यहाँ हम केवल उस रहस्यात्मक व्याख्या के विवेचन और विश्लेषण में दत्त-चित्त हैं, जो पशु-जीवन के वत्सोत्पादन और कृषि-जीवन के सस्योत्पादन से सम्बद्ध हैं।

यहाँ हमने वत्सोत्पादन और सस्योत्पादन में निहित उत्पादन-शक्ति के रहस्यात्मक और दिव्य परिवेश को भौतिक प्रसंग में समझने का प्रयास किया है। इससे कतिपय भ्रान्तियां उठ सकती हैं, जिनके निवारण के लिए हम यहाँ स्पष्टत: कह देना चाहते हैं कि हम यहाँ इस विवाद से सर्वथा असंपृक्त हैं कि आध्यात्मिक शक्ति केवल परिकल्पना है, भौतिक शक्ति और प्रक्रिया पर आधृत या भौतिक और विशेषत: आर्थिक प्रक्रिया एवं शक्ति ही आध्यात्मिक शक्ति और विषय का निर्धारण करती है। यहाँ आध्यात्मिक शक्ति और भौतिक परिपार्श्व का सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक प्रतीकों की व्याख्या के सम्बन्ध में ही बताया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि 'परोक्षप्रियाहिदेवा: प्रत्यक्षद्विष:।'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

देव-मण्डल अभिधा में स्पष्ट कथन नहीं करते हैं। अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत को इंगित करते हैं—प्रतीकों के द्वारा विषय का प्रतिपादन करते हैं। ये प्रतीक निश्चय ही भौतिक जगत् के होते हैं। अत. आध्यात्मिक निर्वचन भी भौतिक प्रतीकों के द्वारा सम्भव हैं। भौतिक प्रतीक और आध्यात्मिक शक्ति का इस प्रकार व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। इसमें हमको भौतिक परिपार्श्व—पशुपालन और कृषि-जन्य अर्थ-व्यवस्था की आध्यात्मिक व्याख्या को देखने का अवकाश मिला।

वैदिक काल में आर्य-जीवन का आर्थिक आधार था—पशुपालन और कृषि। पशुओं के वत्सोत्पादन और कृषि से सस्योत्पादन की दार्शनिक व्याख्या का स्वरूप तत्कालीन संस्कृति के वैचारिक पक्ष पर प्रकाश डालता है।

उत्पादिका-शक्तिः श्री एवं विराज

सन्तानोत्पत्ति और सस्योत्पादन में व्यक्त उत्पादन-शक्ति को वैदिक साहित्य में अलौकिक माना गया। इस अवधारणा का विवेचन हम पहले कर आये हैं। इस अलौकिक शक्ति को 'श्री' तथा 'विराज' आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः 'श्री' का 'विराज' के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है।[1] इनका प्रयोग न केवल उत्कृष्ट, गौरवपूर्ण, वैशिष्ट्य तथा ऐश्वर्य जैसे भावों को व्यक्त करने के लिए किया गया है वरन् इन्हें 'अन्न' ही माना गया है।[2] ऋग्वेद में विराज को अधिपूरुष और सम्पूर्ण विश्व का उत्पादक बताया गया है।[3] अन्यत्र (ऋ० 10.159.6 तथा 10.174.5) विराट् शब्द का प्रयोग राजत्व प्रदान करने वाली अलौकिक शक्ति के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार एक मंत्र में शत्रुओं के पराभव करने की सामर्थ्य और समान व्यक्तियों के मध्य श्रेष्ठता का द्योतन विराज-पद के माध्यम से किया गया।[4]

---

1. (अ) "अन्नं वै श्रीर्विराड् अन्नाद्यम्"—गोपथ ब्रा० 1.5.4 (ब) शत० ब्रा० 11.4.3.18 (..... इस प्रकार वह (यज्ञकर्त्ता को) विराज, श्री एवं अन्न में स्थापित करता है। (स) शांखा० ब्रा० 1.1 में 'श्री' और 'अन्न' को 'विराज' कहा गया है। 2.3, 14.2, 16.3, 16.10, 17.3; 19.5; आदि।
2. (अ) "श्रीवै विराड् यशोन्नाद्यम्"—गोपथ ब्रा० 1.5.20.
   (ब) शत० ब्रा० 8.3.2.13, 9.2.3.40.
   (स) ऐतरेय ब्रा० 4.11.18, 6.36.6.
3. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० 182, पादटिप्पणी 2,
4. ऋग्वेद 10.166.1

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अथर्ववेद में 'विराज' को प्रथम उत्पादक-मिथुन कहा गया है ।[1] पुनः विराज की अलौकिक शक्ति की परिकल्पना अन्नवाली गाय के रूप में की गई है । विवस्वान् के पुत्र मनु को विराज का बछड़ा, पृथिवी को पात्र तथा वेन के पुत्र पृथी को दोहक कहा गया है । इस प्रकार उसके दोहन से कृषि और धान्य की उत्पत्ति हुई ।[2] इसी कारण मनुष्य कृषि और धान्य पर ही जीवित रहते हैं । गोपथ ब्राह्मण में 'विराज' को 'श्री' और 'अन्न' कहा गया है--"अन्नम् वै श्रीर्विराट्" 2.1.9. शतपथ-ब्राह्मण 12.4.1.11 में वृष्टि को 'श्री' कहा गया है—"श्रियो वै पर्जन्यो वर्षीत" । (जैमिनीय ब्रा० 1.117 तथा तैत्तिरीय आरण्यक 3.11.6 यहां तुलनीय है) ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.6.19.2 तथा शांखायन ब्राह्मण 16.10 में कहा गया है कि जो सौत्रामणी यज्ञ करता है, उसको 'श्री', 'प्रजा' और 'विराज' की प्राप्ति होती है । 'विराज' का तादात्म्य भूमि के साथ स्थापित किया गया है ।[3] अनेक स्थलों पर 'श्री' और 'प्रजा' का उल्लेख एक ही प्रसंग में किया गया है ।[4] "जीवेयं प्रजा मे स्यात् प्रियं गच्छेयम् इति" शतपथ ब्राह्मण 1.8.1.36 में जीवित रहने तथा 'प्रजा' और 'श्री' की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है । इसी प्रकार अन्यत्र यज्ञ में प्रयुक्त पिण्ड (गुथा हुआ आटा) से यज्ञकर्ता के लिए 'प्रजा', 'श्री' और 'अन्न' प्रदान करने की अपेक्षा की गई है ।[5] प्रजापति को यज्ञ में प्रजा, पशु तथा श्री को व्यवस्थित रूप में रखते हुए दिखाया गया है । यहां 'श्री' को यशस्वी तथा प्रभूत अन्नवाला बतलाया गया है (यहां तुलनीय है शतपथ ब्राह्मण 1.6.3.15, 4.2.4.23, 6.9.1.3, 13.2.6.3 तथा ऐतरेय आरण्यक—5.1.6 "श्रियं अह गोरश्वं आतमन् धत्ते") । 'श्री', 'श्रेयस्' और 'श्रेष्ठ' शब्दों का प्रयोग भी प्रायः एक ही प्रसंग में किया गया है । शतपथ ब्राह्मण

---

1. अथर्ववेद 8.9.10
2. तत्रैव, 8.10.24. इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत पुराण 4.18.12 भी दृष्टव्य है ।
3. "इयं वै विराडिति । तस्माद्ऽस्यैभूयिष्ठं लभते"—शत० ब्रा० 12.6.1.40; महाभारत 12.262.41.
4. "अनुपस्थितो ह वै श्रिया प्रजया प्रज्ञायते"—शत० प्रा० 2.3.1.15, 4.4.2.4; ऐतरेय आरण्यक 5.3.2.
5. "यथा श्रिये न्नाद्यायेमाः प्रजा यजमानाय यच्छेत् एवं वै तत् संयौति" । शत० ब्रा० 1.2.2.3, 12.4.1.11.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

11.1.6.23 में पृथिवी को 'श्री' तथा उससे अधिकतम प्राप्त करने वाले को 'श्रेष्ठ' कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक में हमें एक रोचक प्रसंग का उल्लेख मिलता है, जहाँ कहा गया है कि हमें 'श्री' की निन्दा नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'श्रेयस्' की निन्दा अनुचित है।[1]

ऐतरेय ब्राह्मण 8.5.4 तथा शतपथ ब्राह्मण 2.6.3.2 से ज्ञात होता है कि देवताओं को 'श्री' की प्राप्ति कतिपय आहुतियों के समुचित सम्पादन तथा वृत्र पर विजय प्राप्त करने के कारण हुई। इस 'श्री' का तादात्म्य 'शुन' के साथ किया गया है। 'शुन' शब्द का प्रयोग अन्य स्थलों पर सफलता, उत्पादन तथा कल्याण जैसे भावों को व्यक्त करने के लिए किया गया है। खोन्दा का मत है कि यह शब्द शुनासीरीय (हल-पूजन-अनुष्ठान) नाम से सम्बद्ध है।[2] अतः 'श्री' को कृषि से सम्बद्ध माना गया है। पारस्करगृह्यसूत्र में सीतायज्ञ के प्रसंग में सम्पत्ति, भूति, भूमि, वृष्टि, ज्यैष्ठ्यम्, श्रैष्ठ्यम् और प्रजा के साथ ही 'श्री' की भी प्रार्थना की गई है।[3] यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह यज्ञ धान अथवा यव के जोते हुए खेत में सम्पन्न किया जाता था। यहाँ इस बात का ध्यान रखा जाता था कि फसल क्षतिग्रस्त न होने पावे।[4]

---

1. "लोकेऽपि श्रेयसो विद्यैश्वर्यादिनाधिकस्य पुरुषस्याचरणं दुःखवदं हि अतएव पित्राचार्यादिनां निन्दां न कुर्वन्ति द्वेषभिः क्रियमाणां अपि न शृण्वन्ति" ऐतरेय आरण्यक 5.22.5 यहां गोपथ ब्राह्मण 2.5.3 तथा मैत्रायणी उपनिषद् 1.11.3 'एवं है कीर्त्या यशसा श्रियाश्वः श्रेयान् भवति' सर्वथा तुलनीय है।
2. जे० खोन्दा—आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० 185
3. "सम्पत्तिभूतिर्भूमिर्वृष्टिज्येष्ठ्यं श्रैष्ट्यं श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहाः" पारस्करगृह्यसूत्र 2.17.9 यहाँ निम्नांकित तुलनीय है—"ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभाननने भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी"। वाल्मीकि रामायण, 3.46.17.
4. (अ) जे० खोन्दा—वही, पृ० 219.
   (ब) डी० आर० पाटिल—कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दी वायुपुराण, पृ० 58.
   (स) बाली द्वीप में काटे गये किन्तु बिना पीटे गये धान्य को 'श्रीदेवी', 'धान्यबीज' को उमादेवी, धान्य के पौध को 'गिरिनाथ' तथा एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाये गये धान्य के पौध को 'गंगादेवी' की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। अन्य द्वीपों के निवासियों की ही भांति बाली द्वीप के निवासियों में भी यह विश्वास प्रचलित है कि विष्णु के प्रति बाध्य होकर समर्पण करने पर 'श्री' की मृत्यु हो गई। तदनन्तर उसके गाड़े जाने पर उसके शरीर के विभिन्न अंगों से विविध पौधों की उत्पत्ति हुई, जिनमें धान्य की उत्पत्ति उसकी नाभि से हुई। एस० लेवी—संस्कृत टेक्सट्स फ्राम बाली, बड़ौदा, 1933, पृ० XXVIII, इन्होंने श्रीस्तव नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'श्री' के विविध अंगों से विभिन्न पौधों की उत्पत्ति हुई। धान की उत्पत्ति उसकी नाभि से हुई।[1]

श्री एवं कलश

प्राचीन भारतीय साहित्य तथा कला में 'पूर्ण-कलश' को उत्पादिका-शक्ति--'श्री' (लक्ष्मी) के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है। 'पूर्ण-कलश' के अनेक पर्याय-वाची शब्द यथा 'पूर्ण-घट', 'पूर्ण-कुम्भ', मंगल-कलश', 'भद्र-घट' तथा 'चन्दन-कलश' आदि का उल्लेख हमें संस्कृत साहित्य में मिलता है। इसे परिपूर्णता, समृद्धि तथा ऐश्वर्य आदि का प्रतीक माना गया है।[2] "आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेवकोश सिसिचे पिबध्यै। समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम्"।। ऋ० 3.32.15 में यजमान के कलश को आपूर्ण बतलाया गया है तथा कहा गया है कि जैसे जल-सेचक जल-पात्र में जलसेचन करता है, वैसे ही मैं आप लोगों के पानार्थ सोम का सेचन करता हूँ। सोम-पानार्थ ही यहाँ 'स्वाहा' शब्द का उल्लेख किया गया है। यहाँ 'पूर्ण-कलश' का चित्रण यजमान के नियंत्रण में स्थित प्रभूत दैवी उपहार के रूप में किया गया है, जो वैभव की समग्रता का द्योतक है। कलश-स्थित तरल पदार्थ कलश से पान-पात्र में मानव-संतोष के लिए प्रवाहित होता है।[3] सोम के निचोड़ने और उसके संचय के प्रसंग में कलश के अनेक उल्लेख हमें ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। जिस पात्र में सोम-संचय किया जाता था उसे सोमधान की संज्ञा दी जाती थी।[4] "दश ते कलशानां हिरण्यानामधीमहि। भूरिदा

---

1. (अ) जे० खोन्दा--संस्कृत इन इण्डोनेशिया, नागपुर 1952, पृ० 132.
   (ब) एस० लेवी--संस्कृत टेक्सट्स फ्राम बाली, बड़ौदा, 1933, पृ० 28।
2. "It is the emblem par excellence of fullness, and prosperity, of life endowed with all its gifts, moral, material and spiritual. The full blooming, overflowing contents of life are comparable to the plants and foliage luxuriating from the mouth of a jar filled with the life-giving fluid." V. S. Agrawal—Studies in Indian Art., p. 43.
3. तत्रैव।
4. "दिव्यः सुपर्णोऽव चक्षि सोम पिन्वन्धाराः कर्मणा देववीतौ।
   एन्दो विंश कलशं सोमधानं क्रन्दन्निहि सूर्यस्योप रश्मिम्॥"
   ऋ० 9.97.33.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

असि वृत्रहन्" ऋ० 4.32.19 में हिरण्यमय कलश की चर्चा की गई है तथा अन्यत्र शुभ्र कलश को दुग्ध से परिपूर्ण तथा दीप्तिमान् तरल पदार्थ से आपिप्यान कहा गया है ।[1] इसी प्रकार "आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रिय. । शूरो न गोषु तिष्ठति" ऋ० 9.62.19 में कहा गया है कि सोम कलश में प्रवेश करते समय सभी प्रकार की सम्पदाओं को उस कलश में निवास करने के लिए अभिप्रेरित करता है ।

प्रचुरता तथा ऐश्वर्य के प्रतीक के रूप में पूर्ण-कुम्भ का उल्लेख अथर्ववेद के शाला-सूक्त में भी किया गया है । "पूर्ण नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामममृतेन संभृताम । इमां पा्तृनमृतेना सहङ्ग्धीष्टापूतमभि रक्षात्येनाम्" ।। अथववेद 3.12.8 में कहा गया है कि हे स्त्री ! इस पूर्ण-कलश को तथा अमृत से भरी हुई धारा को अच्छी प्रकार भर कर लाओ । पीने वालों को अमृत से अच्छी प्रकार भर दो । यज्ञ और अन्नदान इस शाला की रक्षा करते हैं । भारतीय धार्मिक विचार-धारा में मानव-शरीर की अवधारणा पूर्ण-घट के रूप में अद्यावधि प्रचलित है और लोग दैवी शक्ति को 'घट-घट व्याप्त' मानते हैं । इसीलिए प्रत्येक मांगलिक पर्व पर पूर्ण-घट को द्वार तथा वैवाहिक संस्कार के समय मंडप में स्थापित कर मानव-शरीर किंवा सम्पूर्ण संसार के प्रतीक के रूप में उसकी उपासना की जाती है । घट की प्रशंसा में उच्चरित होने वाले मंत्रों के माध्यम से यह भाव व्यक्त किया जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव क्रमश. मंगल-कलश के अधोभाग, उदर और मुख में निवास करते हैं ।[2] पूर्ण-कलश को प्रसवन-शक्ति का भी प्रतीक माना गया है ।[3]

---

1. "अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मधवा शुक्रमन्धः । अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत्पिवध्यै शूरो मदाय प्रति धत्पिबध्यै ।।" ऋ० 4.27.5.
2. डॉ० वी० एस० अग्रवाल—रूप-लेखा, XXII, संख्या 1, पृष्ठ 23-24.
3. "It is also the symbol of fertility, filled as it is, with the fecund Waters of life. At the time of child-birth, the mother holds a Pūrrṇa Ghaṭa and walks with it to the nearest well, reservoir or pool of water to offer warship, as the latter represents the bigger source of the same fecundating Waters of creative life. At this time water is taken from the well and mingled with the water in the pitcher held by the mother—a significant symbolic ceremony denoting that the lifc force in the pot is being replenished from the Pūrṇam or the Plenum of cosmic life-force outside. The human body represents its limited manifestation, whereas the life-force surrounding it is boundless and measureless." तत्रैव ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

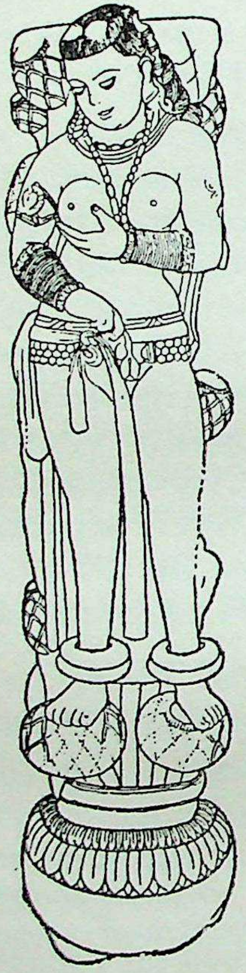

चित्र 2

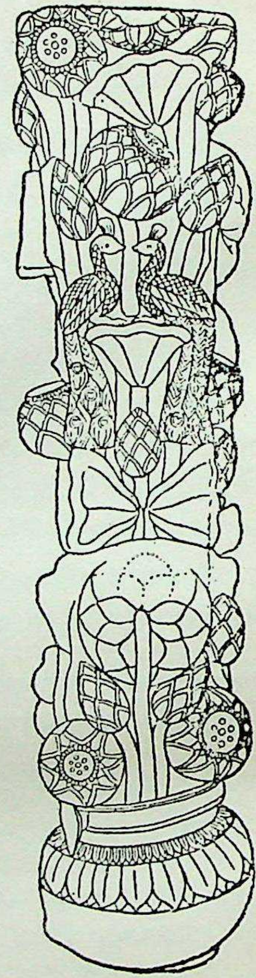

चित्र 3

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उत्पादिका-शक्ति 'श्री लक्ष्मी' के प्रतीक के रूप में 'पूर्ण-घट' का भारतीय कला में प्राचीनतम अंकन हमें भरहुत तथा सांची से प्राप्त होता है। 'श्री लक्ष्मी' का चित्रण तीन प्रकार से किया गया है—(1) 'श्री लक्ष्मी' को कमल पर आसीन अथवा खड़ी दिखाया गया है। (2) वही, किन्तु इसमें कमल को 'पूर्ण-घट' से निकलते हुए दिखाया गया है। (3) एकाकी 'पूर्ण-घट' जिससे कमल के पुष्प तथा पर्ण-समुदाय को निकलते हुए दिखाया गया है।[1] कुमारस्वामी ने इन सबको आपाततः एक दूसरे के समान, पर्यायवाची एवं प्रचुरता का प्रतीक माना है। उनके अनुसार केवल 'पूर्ण-घट' को 'श्री लक्ष्मी' का प्रतीक अथवा उसके समान मानना चाहिए।[2]

जमालपुर (मथुरा) से प्राप्त होने वाले एकाकी स्तम्भ का उल्लेख इस प्रसंग में रोचक प्रतीत होता है।[3] जहां इस स्तम्भ के अग्रभाग पर 'श्रीलक्ष्मी' को 'दुग्धधारिणी' मुद्रा में गोलाकार पात्र से निकलते हुए कमल पर खड़ी दिखाया गया है (चित्र 2), वहीं इसके पृष्ठ भाग पर पुष्पों, कलियों तथा पत्रों से युक्त कमल-पौध को निकलते हुए दिखाया गया है जो वस्तुतः सस्योत्पादन के प्रतीक हैं (चित्र 3)। अतः यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा समीचीन होगा कि वस्तुतः सस्योत्पादन को ही श्रीलक्ष्मी को मान्यता प्रदान की गई।

'श्री' को हम न केवल सस्योत्पादन वरन् पशुओं से भी सम्बद्ध देखते हैं। तैत्तिरीय-उपनिषद् 1.4.2 में 'श्री' को 'लोमशा' बाल वाली अथवा ऊन वाली कहा गया है (जिसका तात्पर्य भेंड़ अथवा ऊन वाले अन्य पशुओं से संयुक्त होना है) तथा उससे अति शीघ्र ही वस्त्र, गाय, खाद्य एवं पेय पदार्थ प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[4]

सस्योत्पादन और सन्तानोत्पादनः पृथ्वी एवं माता

सस्योत्पादन तथा सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया की एकरूपता के कारण भूमि और स्त्री में तादात्म्य स्थापित किया गया है—

> "यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमा दधे ।
> एवं तं गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे ।।
> विष्णोः श्रैष्ठ्येन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
> पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ।।"
>
> ऋ० खि० 4.13.2-3.

---

1. ए० के० कुमारस्वामी——यक्ष, द्वितीय भाग, पृ० 61.
2. तत्रैव ।
3. पी० के० अग्रवाल——दी पूर्ण कलश, पृ० 12.
4. शांखायन-ब्राह्मण 21.5. पंचविंश ब्राह्मण 13.2.2 में पशु को 'श्री' कहा गया है, क्योंकि पशुओं के स्वामी को लोग 'श्रीमान्' मानते हैं ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्थात् जिस प्रकार यह पृथिवी अपने को विस्तृत कर गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार विष्णु की श्रेष्ठता और रूप के साथ इस नारी में, दशवें महीने में उत्पन्न होने वाले गर्भ को स्थापित करो। यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त ऋचा में नारी को न केवल भूमि के सदृश बतलाया गया है, वरन् उसको 'गवीनी' भी कहा गया है। ऋग्वेद की अन्य ऋचा—"उत्स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत्सहस्रम्। रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना" ।। ऋ० 10.102.2 में भी भूमि और स्त्री का तादात्म्य दृष्टिगत होता है। डांगे का मत है कि उपर्युक्त ऋचा में कृषि-कर्म-कल्प और सृजन-कल्प का भाव निहित है।[1] इसमें एक ही स्त्री को 'मुद्गलानी' और 'इन्द्रसेना'=(इन्द्राणी) के रूप में हलारूढ़ चित्रित किया गया है। यहां पृथिवी को ही 'मुद्गलानी' और 'इन्द्रसेना' कहा गया है। वस्त्रों को हटा देने पर मुद्गलानी की स्थिति नग्न स्त्री के समान हो जायेगी। इसके सादृश्य हमें कृषि-कर्म-कल्प में भी मिलते हैं।[2] अथर्ववेद में भूमि और स्त्री में समानता दिखलाई गई है—"यथाबीजमुर्वरायाँ कृष्टे फालेन रोहति। एवामयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहति" (अथ० वे० 10.6.33)। भूमि से सस्योत्पादन और स्त्री से सन्तानोत्पत्ति के मध्य स्थापित यह तादात्म्य संस्कृत के 'क्षेत्र' शब्द से और भी स्पष्ट होता है। क्षेत्र शब्द का तात्पर्य भूमि, प्रसवन-शक्ति-सम्पन्न गर्भ तथा पत्नी से है।[3] परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने सम्भवतः भूमि और स्त्री के इसी सादृश्य के कारण 'क्षेत्रज' (पुत्र) की परिकल्पना की।[4] भूमि और स्त्री का यह तादात्म्य न केवल मनोवैज्ञानिक है, वरन्

---

1. एस० ए० डांगे—पेस्टोरल सिम्बालिज्म फ्राम दी ऋग्वेद, पृ० 68.
2. बेहिरो में हलारूढ़ ब्राह्मण-विधवा हल जोतती है तथा कामोत्तेजक संगीत गाती हुईं अन्य महिलायें हल को खींचती हैं। इसी प्रकार आसाम के कोचों में वृष्टि के लिए नग्न-स्त्रियों द्वारा भूमि के जोते जाने की प्रथा प्रचलित है। गणेश चौबे—'वेहिर-सांग फार रेन', भारतीय, vi, जनवरी-फरवरी, 1945, पृ० 176 तथा पाद-टिप्पणी। (एस० ए० डांगे—वही, पृ० 68 में उद्धृत)।
3. यूनानी भाषा में जनक और हल जोतने वाले के लिए समान शब्द हैं। इसी प्रकार यूनानी शब्द एरोलॉय का तात्पर्य सन्तानोत्पत्ति तथा एरोत्रॉय का तात्पर्य सृजन करने वाले अंग से होता है। जे० खोंदा—आसपेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० 133
4. "क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमयोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ।।" मनु० 9.33, यहां "मा वः क्षेत्रे पर-बीजानि वाप्सु" आपस्तम्बधर्मसूत्र 6.13.6 तुलनीय है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसके पीछे आनुष्ठानिक एवं व्यावहारिक आधार भी है । इसीलिए विवाह-संस्कार के समय सम्पन्न होने वाले प्रतीकात्मक अथवा वास्तविक हल जोतने तथा धान्य का विशेष महत्त्व है ।[1] मानव गृह्यसूत्र 1.12.1-7 के अनुसार वर पहले साही के कांटे से अथवा दर्भ घास से वधू के बालों को संवार कर उसकी वेणी को जीवित भेंड़ के बालों से निर्मित ऊन से अभिषिक्त करता है । इस कल्प के अनन्तर वधू के सिर पर अन्न उड़ेला जाता है ।[2]

भूमि एवं जठर: कर्षण-यंत्र एवं पुरुषाङ्ग

हम पहले ही विवेचित कर चुके हैं कि सस्योत्पादन की समता सन्तानोत्पत्ति से, कर्षण-प्रक्रिया की तुल्यता प्रजनन-कर्म से और लांगल आदि क्षेत्र-कर्षण के औजारों का तादात्म्य पुरुषांग से प्राचीन साहित्य में किया गया । इस प्रसंग में ऋग्वेद का निम्नोक्त मंत्र विशेषतः अवधारणीय है :—

"प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः ।" ऋग्वेद 10.79.3.

"फैलती हुई विशाल लता के समान कुमार माता के प्रतर गुह्य की ओर उत्सर्पण करता है ।" यहां माता के गुह्य भाग से प्रसृत विशाल लता का उल्लेख है । इस ऋचा के साथ तुलनीय है हड़प्पा से उपलब्ध एक मृण्मय मुद्रा । इसके मुख भाग पर एक नग्न स्त्री का चित्र अंकित है जिसके पैर एक दूसरे से अलग तथा फैले हुए हैं और उसके गर्भ से एक पौधा निकलता हुआ दिखाया गया है । इस नारी की भुजाओं को उसी रूप में चित्रित किया गया है, जिसमें शिव-पशुपति के पूर्वगामी रूप को । उसकी बायीं ओर आमने-सामने खड़े हुए दो चीतों को अंकित किया गया है । इस मृण्मुद्रा के पृष्ठ भाग की बायीं ओर दो मानव-आकृतियों—एक पुरुष तथा एक नारी—का अंकन है । नारी को अस्त-व्यस्त बालों सहित पुरुष के समक्ष पूजा-मुद्रा में बैठी हुई चित्रित किया गया है । पुरुष को दाहिने हाथ में ढाल तथा बायें हाथ में हंसिया जैसी किसी वस्तु को धारण करते हुए डरावनी मुद्रा में खड़ा हुआ

1. एस० ए० डांगे—वही, पृ० 76.
2. आज भी तेलगू-बालिजा जाति के विवाह-संस्कार में वधू एक छोटे हल से पृथ्वी का स्पर्श कर एक पात्र से उसको सींचती है । (थर्स्टन—कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स आफ सदर्न इण्डिया, मद्रास 1909, 1, पृ० 144) । और माला जाति का वर अपनी छुरिका से भूमि में कुछ लीकें बनाता है, जिसको वधू अन्न तथा जल से भरती है । (वही, iv, पृ० 364, यहां हेस्टिंग्स-इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलिज़न एण्ड एथिक्स, VIII, पृ० 289 द्रष्टव्य है ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अंकित किया गया है। मार्शल का सुझाव है कि इस मृण्मुद्रा के दृश्य का प्रयोजन पृथ्वी देवी के प्रति नर-बलि का चित्रण करना है।[1]

यहां हम पूर्ववर्णित ऐतिहासिक युग की उन चकियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिनके मध्य में स्थित छिद्रों के चतुर्दिक नग्न स्त्री, लता-पत्र, मानव तथा पशु आदि की आकृतियां बनी हुई हैं।[2] सैन्धव कालीन चकियों एवं हड़प्पा से उपलब्ध मृण्मुद्रा की नारी-आकृतियों की समानता तथा उनके परिपार्श्व में लता-पत्र, मानव तथा पशु आदि की आकृतियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना समीचीन प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक काल की ये चकियां प्रजनन तथा उर्वरता से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हैं। इन चकियों को कोसम्बी ने कर्षण-प्रक्रिया में प्रयुक्त तीक्ष्णाग्रकाष्ठदण्ड के ऊपरी भाग में प्रयोगनीय माना है।[3]

इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में 'महानग्नी' और 'अर' का विवेचन किया गया है। ऋग्वेद में महानग्नी को पृथ्वी और स्त्री के रूप में तथा अर को तीक्ष्णाग्रकाष्ठदण्ड (हल के फाल का पूर्वरूप) अथवा पुरुष के अंग-विशेष के रूप में प्रयुक्त किया गया है। वैदिक साहित्य में प्रतीकों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि कर्षण वह प्रक्रिया है जिसमें बनस्पति का पृथ्वी के साथ उसी प्रकार संयोग होता है जिस प्रकार पति का पत्नी के साथ। प्रारम्भ में कर्षण का कार्य बिल्व अथवा उदुम्बर लकड़ी के तीक्ष्णाग्रदण्ड से सम्पन्न किया जाता था, क्योंकि बिल्व अथवा उदुम्बर को फलदायक की मान्यता प्राप्त थी।[4] ऋग्वेद के खिल भाग में महानग्नी को 'शम्या' से अपने 'कृकवाकु' को रगड़ते हुए चित्रित किया गया है—"महानग्नी कृकवाकुं शम्यया परिधावति" ऋग्वेद खिल 5.22.8। यहां महानग्नी (पृथ्वी) का अपने कृकवाकु (गुह्यांग) को शम्या से रगड़ना वृक्ष के साथ उसके होने वाले संभोग की ओर इंगित करता है। यहां शम्या का अर्थ पृथ्वी के प्रसंग में हल का फाल और स्त्री के प्रसंग में पुरुष का अंग-विशेष प्रतीत होता है।

इस संदर्भ में हम उपरिवर्णित जमालपुर (मथुरा) से प्राप्त दुग्धधारिणी की प्रतिमा

---

1. जे० एन० बनर्जी—डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० 167.
2. द्रष्टव्य, चित्र संख्या 1.
3. डी० डी० कोसम्बी—साइण्टिफिक अमेरिकन, फरवरी, 1967, खण्ड 216, संख्या 2, पृ० 107.
4. "महान् वै भद्रो बिल्वो महान् पक्व उदुम्बरः" ऋ० खिल 5.22.10.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(चित्र संख्या 2-3) में उसके दाहिने हाथ में रखी हुई शाखा की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। इसमें दुग्धधारिणी ऋग्वेद की महानग्नी की भांति ही एक शाखा को नीवी के नीचे भाग तक रखे है। उसके इस कर्म में प्रजनन-प्रक्रिया का भाव निहित है।[1]

वृक्ष और नारी का यह सम्बन्ध श्री देवी और शाल-भंजिका अभिप्राय में भी दिखाई देता है।[2]

1. यहाँ यह उल्लेख्य है कि स्वीडेन, पूर्वी यूरोप तथा अफ्रीका में यह मान्यता प्रचलित रही है कि वृक्ष रूपी वनस्पति देवता वन्ध्या स्त्रियों को उर्वरता एवं समृद्धि प्रदान करता है। जे० जी० फ्रेजर—गोल्डेन बाऊ, खण्ड-2, पृ० 58.
2. शाल-भंजिका का अर्थ वैयाकरणों की परम्परा में शालवृक्ष की (शाखा) तोड़नेवाली स्त्री किया गया। किन्तु इस कलात्मक एवं साहित्यिक अभिप्राय की व्यंजना सर्वथा विपरीत है। यहाँ इसका तात्पर्य वृक्षों के वर्धन से प्रतीत होता है।

पृथ्वी को गर्भ अथवा जठर कहा गया है। जैसे धर्म (घट) में मधु वैसे ही जठर (पृथ्वी) में वीज का वपन होता है। ऐसा उल्लेख ऋग्वेद में है—"धर्मेव मधु जठरे ....फारिवारम्" (ऋ० 10.106.8)। खिल भाग में निम्नोक्त भी इस प्रसंग में अध्येतव्य है—"यथेयं पृथिवी मह्युताना गर्भ मा दधे" (ऋ० खिल (4.13.2)। जठर अथवा गर्भ के लिए एक भारोपीय शब्द था भंज, जिसके सगोत्र शब्द हैं—स्पेनिश, 'पंज', आंग्ल 'पाञ्च', प्राचीन आंग्ल 'पाञ्च', प्राचीन फ्रेंच 'पाञ्च' आदि। (सी० डी० बक—पूर्वोक्त, 4.46.3)। गर्भ अथवा योनि के अर्थ में भंजिया शब्द अद्यावधि हिन्दी की उपभाषाओं में प्रचलित है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि शाल-भंजिका का अर्थ है वृक्ष का जठर अथवा उत्पादन-स्थल। यह अर्थ शाल-भंजिका के अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करता है। वृक्ष के साथ जिन स्त्रियों का अंकन हुआ वे या तो नग्न हैं अथवा उनका अंग विशेष रीति से प्रवृद्ध प्रदर्शित किया गया है। शाल-भंजिका के अभिप्राय में श्री देवी तथा बुद्ध-जन्म की प्रतिकृतियों में महामाया का योगदान तो ज्ञात ही है। किन्तु यह विशेषतः ध्यातव्य है कि शाल-भंजिका की अवधारणा का प्रारम्भिक रूप ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचा, हड़प्पा की मृण्मुद्रा एवं ऐतिहासिक काल की उपरिवर्णित चकियों में दिखाई देता है।

प्रसवनशीलता से सम्बद्ध देवी का वानस्पतिक साहचर्य लोक, साहित्य तथा विविध कलाकृतियों में स्पष्टतः दिखाई देता है। इस दृष्टि से श्री लक्ष्मी एवं शाल-भंजिका नारी में पर्याप्त साम्य है। विश्व के विभिन्न प्राचीन देशों में प्रसवनशीलता अथवा उर्वरता के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिस प्रकार पृथ्वी को माता अथवा मातृकुक्षि माना गया उसी प्रकार पृथ्वी में सस्योत्पादन के लिए प्रयुक्त कर्षण-यंत्रों में पितृत्व का आधान किया गया। ऊपर यह विवेचन किया गया है कि हल के पूर्व रूप अर नामक तीक्ष्णाग्रकाष्ठदण्ड को पुरुष का अंग विशेष अथवा पिता कहा गया। अर को उत्पादन-समर्थ, उत्पादन का प्रतीक आदि माना गया। "युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्" ऋ० 10.101.3 के साथ ही साथ "इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं" ऋ० 10.102.2 तुलनीय है।[1]

Library Lucknow 7149

लाङ्गल

भूमि के जोतने से निर्मित होने वाली लीक को भूमि का उदर अथवा नारी की योनि माना गया है। इसीलिए भूमि को जोतने तथा स्त्री के साथ संभोग करने की प्रक्रिया में तादात्म्य स्थापित किया गया है।[2] इस प्रसंग में संस्कृत भाषा के 'लाङ्गल' शब्द के अर्थ—'हल' और 'शिश्न' अत्यधिक रोचक हैं। खोन्दा महोदय का मत है कि 'लांगल' शब्द का

दो मुख्य प्रतीकों—स्त्री और वृक्ष को परस्पर सम्बद्ध माना गया। प्राचीन यूरोप की प्रचलित अनेक परम्पाओं में वृक्ष अथवा बांस तथा उसके साहचर्य में उपस्थित स्त्री अथवा पुत्तलिका को वृक्षात्मा का रूप माना गया (जे० जी० फ्रेजर गोल्डेन बाऊ, खण्ड 2, पृष्ठ 73)। स्वीडेन, पूर्वी यूरोप एवं अफ्रीका में यह मान्यता प्रचलित रही है कि वृक्ष रूपी वनस्पति देवता वन्ध्या स्त्री को उर्वरता एवं समृद्धि प्रदान करता है (तत्रैव, पृ० 58)। मिस्र में अंजीर, खजूर और ताड़ के वृक्षों के साथ वृक्षिका देवी की परिकल्पना की गई। मेक्सिको की लोक परम्पराओं में वृक्षिका देवी हाथर और उसके पुत्र वृक्ष को परस्पर प्रगाढ़ आलिंगन करते हुए परिकल्पित किया गया। (एनरिच न्यूमैन—दी ग्रेट मदर, पृष्ठ 240)। इस प्रसंग में बंगाल की ओरांव जाति में प्रचलित एक विशेष उत्सव ध्यातव्य है। इस जाति के लोगों में यह विश्वास प्रचलित है कि वर्षा की देवी सरना बुरही शाल-वन के वृक्षों में निवास करती है, तथा शालवृक्ष की शाखाएं इस देवी की शुभकामनाओं की प्रतीक हैं। इस जाति के लोग वसन्त ऋतु में एक विशेष उत्सव का आयोजन करते हैं। इस अवसर पर प्रधान पुजारी वहां उपस्थित प्रत्येक स्त्री को शालवृक्ष की शाखाएं प्रदान करता है। इस जाति के लोगों की धारणा है कि वृक्षिका देवी की अनुकम्पा की प्रतीक ये शाखाएं उर्वरता एवं समृद्धि के सम्वर्धन में सक्षम हैं। (जे० जे० फ्रेजर—गोल्डेन बाऊ, खण्ड 2, पृ० 76)।

---

1. द्रष्टव्य—प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० 105
2 जे० खोंदा— पूर्वोक्त, पृ० 133

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मौलिक अर्थ गदा अथवा मुद्गर से सम्बद्ध प्रतीत होता है। यहां यह ध्यातव्य है कि हल का प्रारंभिक रूप तीक्ष्णाग्रदण्ड के समान था। (संस्कृत भाषा का 'गौकील' शब्द (तीक्ष्णाग्रदण्ड) जिसका प्रयोग गाय को हांकने के लिए किया जाता था, सर्वथा तुलनीय है)। इसी प्रकार शिश्न के अर्थ-बोधक शब्दों का विकास दण्ड, डण्ठल, गदा अथवा इसी प्रकार के तीक्ष्णाग्रदण्ड जैसे पदार्थों से हुआ है तथा मैथुन-कार्य को प्रायः ऐसे क्रिया-शब्दों से अभिहित किया जाता है, जिनका अर्थ धक्का देना, छेदना, घुसेड़ना, गाड़ना, आघात करना अथवा खुरेचना आदि होता है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि तीक्ष्णाग्र होने के कारण ही 'शृंग' का हल के फाल के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। यद्यपि यह सही है कि हल के फाल को कहीं भी 'शृंग' नाम से सम्बोधित नहीं किया गया है तथापि दीक्षा-प्रसंग में 'शृंग' को हल के फाल के साथ सम्बद्ध किया गया है।[2] ऋग्वेद में मनुष्यों द्वारा शृंग धारण करने का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं, किन्तु देवताओं के शृंगी होने का कई स्थलों पर स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यहां मैत्रायणी संहिता के उस अंश को उद्धृत करना समीचीन होगा, जिसमें गोष्ठ की पवित्रता के साथ ही शत्रुओं की गायों पर आधिपत्य स्थापित करने की बात कही गई है। इसी प्रसग में "स शृंगी भवति पशूनां परिगृहीत्यै"[3] का भी उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ होगा कि "वह (गायों का स्वामी) पशुओं की प्राप्ति के लिए 'शृंगी' होता है"। गौरव-प्राप्ति के लिए शृंग-धारण के प्रचलन तथा इन्द्र, अग्नि और सोम जैसे शृंगी देवताओं की अवधारणा से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि मनुष्यों में भी शृंग-धारण की प्रथा प्रचलित थी।[4] 'ऋश्य-शृंग' के प्रसंग में यह बात सर्वथा संदिग्ध प्रतीत होती है कि उनके सिर पर जन्म से 'शृंग' विद्यमान था। इस बात की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है कि 'शृंग' की प्रसवन एवं पुंस्त्व की शक्ति में आस्था रखने के कारण ही उन्होंने इसे अपने सिर पर धारण किया था। अतः इस बात की प्रबल सम्भावना प्रतीत होती है कि सुदूर भूत में शृंग का प्रयोग भूमि-कर्षण के लिए खनित्री के रूप

---

1. तत्रैव, पृ० 134.

2. तैत्तिरीय संहिता, 1.2.5.2, 6.1.3.6–7.

3. मैत्रा० सं०, 4.2.

4. एस० ए० डांगे—पूर्वोक्त, पृ० 107.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में किया जाता था। इसीलिए कालान्तर में 'शृंग' अच्छी फसल का प्रतीक बन गया और लोग गौरव एवं शक्ति के परिचायक के रूप में इसे धारण करने लगे।[1]

अतः 'स शृंगी भवति' का प्रयोग न केवल पद-गौरव अपितु 'पशु-स्वामित्व' का भी बोधक है।[2] इसी स्वामित्व के प्रतीक के रूप में वास्तविक अथवा प्रतीकात्मक शृंग को धारण किया जाता था। वैदिकयुगीन गोपति इन्द्र को शृंगी कहा गया है। डांगे महोदय ने वैष्णवों द्वारा धारण किये जाने वाले 'त्रिपुण्ड' को भी 'शृंग' का ही प्रतीक माना है।[3]

'शृंग' की यही अवधारणा 'भूरिशृंग' अथवा 'कार्नुकोपिया' में भी दिखाई देती है। डॉ० अग्रवाल का मत है कि यूनानी भाषा का कार्नु और संस्कृत भाषा का शृंग एक ही है और इसी प्रकार भारतीय साहित्य के 'शुभ-शृंग' और यूनानी भाषा के 'कार्नुकोपिया' में भी समानता है। रोमक मुद्राओं एवं अन्य कला-कृतियों में 'कार्नुकोपिया' का प्रयोग

---

1. तत्रैव, पृ० 107 (यहां मोतीचन्द्र, 'निधि-शृंग' प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम बुलेटिन IX, पृ० 9 तुलनीय है)।

   यहां यह ध्यातव्य है कि हुवेन-स्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में पेशावर के समीप स्थित एक ऐसे स्तूप का उल्लेख किया है, जहाँ एकशृंग नामक एक ऋषि निवास करते थे। (मोतीचन्द्र—'निधि-शृंग' प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम बुलेटिन IX, पृ० 14 तथा टी० वैटर्स आन हुवेन-स्वांग 1, लन्दन 1904, पृ० 214) मोहेनजोदड़ो से प्राप्त होने वाले शृंग-युक्त मुखावरणों से उस युग में शृंग-धारण की प्रथा का अनुमान लगाया जा सकता है। भारत में आज भी गोण्ड जन-जाति में विवाह के अवसर पर शृंग-धारण का प्रचलन है। (एस० ए० डांगे—पेस्टोरल सिम्बालिज्म फ्राम दी ऋग्वेद पृ० 107)। शृंग धारण की प्रथा अन्य स्थानों में भी प्रचलित थी। प्राचीन ब्रिटेन में अमृतत्त्व की प्राप्ति के लिए कब्र में शव के साथ हिरण-शृंग को भी स्थापित किया जाता था। ड्रूसियों में विवाहित पुरुष और स्त्री अपने सिर पर रजत-शृंग धारण करते हैं (जी० जोन्स—डिक्शेनरी आफ माइथोलॉजी, फोकलोर एण्ड सिम्बल्स, न्यूयार्क 1962, अन्डर 'हार्न') इसी प्रकार मैसीडोन के शासक अपने मुकुट में सर्वदा शृंग धारण करते थे (न्यू पापुलर इन्साइक्लोपीडिया, पृ० 173)।

2. कृष्ण और गणेश के अन्य विरुदों के साथ 'पृश्नि-शृंग' का उल्लेख मिलता है (आप्टे—संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी)। कृष्ण का गो-स्वामित्व सर्वविदित है और पृश्नि तो एक गाय ही थी।

3. एस० ए० डांगे—पूर्वोक्त, पृ० 108.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राय: प्रचुरता के प्रतीक के रूप में दिखाई देता है। इसी प्रकार भारतीय शासक हुविष्क के सिक्के के पृष्ठभाग पर स्थित देवी को हम 'कार्नुकोपिया' को धारण करते हुए देखते हैं।[1]

'शृंग' का बाहुल्य-प्रदायी मांगलिक वस्तु के रूप में प्रयुक्त होना विविध प्राचीन ग्रन्थों से भी प्रमाणित होता है। "तोयपूर्ण विषाणैश्च द्वैपखड्गमहर्षभैः। मणिमुक्तामयैश्चान्यैः पुण्यगन्धैस्तथौषधैः" (महाभारत, कर्णपर्व, पूना—संस्करण 6.37)। दुर्योधन ने हाथी, गैण्डा तथा वृषभ के जल पूरित विषाण से कर्ण को अभिषिक्त कर उसे अपना सेनापति मनोनीत किया। जहाँ विषाण शब्द का तात्पर्य गैण्डा एवं वृषभ के प्रसंग में 'शृंग' से है वहीं हाथी के प्रसंग में हस्ति-दन्त से है। हमें ज्ञात है कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर अभिषिक्त व्यक्ति पर पवित्र जल उड़ेलने की प्रथा प्रचलित थी। इसी प्रकार रामायण से 'कुरंग-शृंग' को मांगलिक वस्तु के रूप में हाथ में धारण करने की प्रथा का ज्ञान प्राप्त होता है—

"दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम्।
कुरंगशृंगपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम्"॥ अयो० का० 16.23

रामायण में ही कहा गया है कि राज्याभिषेक के समय सुग्रीव को वृषभ-शृंग के जल से अभिषिक्त किया गया था—

"आहृत्य च समुद्रेभ्यः सर्वेभ्यो वानरर्षभाः।
अपः कनककुम्भेषु निधाय विमलं जलम्॥
शुभैर्ऋषभशृंगैश्च कलशैश्चैव कांचनैः।
शास्त्र दृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च॥" किष्किन्धा का० 26.33-4

यहां ऋषभ-शृंग को स्पष्टतः सौभाग्यवान् (शुभ) कहा गया है।[2]

शिप्र

इस प्रसंग में ऋग्वेद में प्रयुक्त 'शिप्र' शब्द का अध्ययन अत्यन्त रोचक है। विद्वानों ने इसको अनेक अर्थों—यथा मूंछ, ओष्ठ, कपोल, नासिका, चिबुक और यहाँ तक कि शिरस्त्राण का भी वोधक वतलाया है। उपर्युक्त विभिन्न अर्थों के आधार पर डांगे महोदय ने जहां एक ओर इस शब्द को दुर्बोध्य कहा है, वहीं दूसरी ओर ऋग्वेद के अनेक प्रासंगिक

1. डॉ० बी० एस० अग्रवाल—स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० 54.
2. तत्रैव, पृ० 53.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उद्धरणों के आधार पर इसको 'श्रृंग' का समानार्थक सिद्ध करने की चेष्टा की है। "स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः" ऋ० 10.96.9 में प्रयुक्त 'शिप्र' को उन्होंने स्वर्णमयी कहकर इसकी तुलना यज्ञीय स्रुवा से की है, जिसका प्रयोग अग्नि में आहुति डालने के लिए अत्यन्त सरलता और शीघ्रता के साथ किया जाता है। अतः यहां 'शिप्र' शब्द का तात्पर्य 'स्रुवा' जैसे किसी ऐसे पात्र से है, जिसका प्रयोग उसको घुमाकर शीघ्रता के साथ किया जा सके। (यहाँ तुलनीय है—ऋग्वेद 8.76.10 'इन्द्र शिप्रे अवेपयः')। यहां 'शिप्र' का रूप भी 'स्रुवा' की भांति लम्बा प्रतीत होता है। सायण के अनुसार शिप्र शब्द का 'जवड़ा' अर्थ इस प्रसंग में उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि मनुष्य का जबड़ा प्रथमतः स्थिर होता है और दूसरे वह 'स्रुवा' की भांति लम्बा भी नहीं होता है, जिसका प्रयोग घुमाकर अतिशीघ्रता के साथ किया जा सके। इतना ही नहीं वरन् उपर्युक्त ऋचा में 'शिप्र' की तुलना 'स्रुवा' के साथ इस अर्थ में की गई है कि जैसे 'स्रुवा' से अग्नि में आहुति डाली जाती है वैसे ही शिप्र से इन्द्र के मुंह में सोम उड़ेला जाता है। अतः 'शिप्र' निश्चय ही इन्द्र के मुँह का अविभाज्य अंग नहीं है। वह स्वतंत्र रूप से कोई अलग, लम्बा तथा खोखला पदार्थ है, जिसका प्रयोग सोमरस का पान करने के लिए किया जाता है, और वह कभी-कभी स्वर्णमय भी होता है। उसको इन्द्र के सिर पर स्थापित किया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर इन्द्र के सिर से उठाकर शीघ्रता के साथ उसका प्रयोग सोमरस-पान के लिए किया जाता है। ऐसी स्थिति में डांगे महोदय के अनुसार 'शिप्र' शब्द की तुलना उस स्वर्णमयी 'श्रृंग' से की जा सकती है, जो 'स्रुवा' की भांति लम्बा तथा खोखला है और जिसे इन्द्र के सिर पर स्थापित किया गया है। सोमरस-पान की आवश्यकता पड़ने पर उसे इन्द्र के सिर से उठाकर उसका प्रयोग 'स्रुवा' की तरह किया जाता है।

ऋग्वेद में 'शिप्र' अथवा 'शिप्राः' शब्दों का प्रयोग बहुवचन के रूप में मरुतों के प्रसंग में किया गया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि 'शिप्र' को शिरोवस्त्र के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता था और कभी-कभी सोमपानार्थ उसको वहाँ से वियुक्त कर दिया जाता था जैसा कि "वि ष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने" ऋ० 1.101.10 से स्पष्ट होता है। इन्द्र से 'शिप्र' को भर कर सोमरस के पान करने की प्रार्थना में 'शिप्र' के खोखला होने का भाव स्पष्ट होता है—"प्रप्रुथ्या शिप्रे" ऋ० 3.32.1 इस प्रकार 'शिप्र' का 'श्रृंग' होना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, ओष्ठ अथवा जबड़ा नहीं।[2] अन्यत्र जहां

1. ऋ० 8.7.25.
2. एस० ए० डांगे—पूर्वोक्त, पृ० 111.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वृत्र को 'विशिशिप्र' कहा गया है, वहाँ भी उसका अर्थ वृषभ-ओष्ठ धारण करने वाला न होकर 'वृषभ-शृंग' धारण करने वाला है। यहां ध्यातव्य है कि वैदिक देवताओं के स्वर्ण-मय 'शृंग' के विपरीत वृत्र को 'वृषभ-शृंगधारी' कहा गया है, जो स्वजनों में उसके गौरव का परिचायक है। यहां यह उल्लेखनीय है कि 'विशि-शिप्र' तथा 'वृष-शिप्र' का उल्लेख देवताओं के प्रसंग में नहीं किया गया है। शिप्र-धारण शक्ति और गौरव का परिचायक था, जो इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि सभी देवताओं को 'शिप्र' धारण करते हुए नहीं दिखाया गया है। जहाँ इन्द्र के प्रसंग में इसका उल्लेख बहुलता के साथ किया गया है, वहीं मरुतों के प्रसंग में केवल तीन बार (ऋ० 5.54.11, 8.7.25 और 2.34.3), अग्नि के साथ दो बार (ऋ० 2.2.5 और 5.22.4) तथा ऋ० 8.69.16 में अग्नि अथवा इन्द्र के साथ किया गया है। रुद्र के साथ तो केवल एक बार (ऋ० 2.33.5) ही किया गया है।[1]

इस प्रसंग में वैदिक 'शिप्र', 'शिप्रे', अथवा 'शिप्राः' शब्दों की अवेस्ता में प्रयुक्त 'शुफ्र' अथवा 'सुव्र' शब्द से तुलना सर्वथा समीचीन प्रतीत होती है। अवेस्ता के विद्वानों ने इस शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। कतिपय विद्वानों ने इसका अर्थ हल किया है।[2] अहुर-मज़्दा को यिमा के प्रति स्वर्णमय 'शुव्र' तथा स्वर्णमयी 'अष्ट्रा' प्रदान करते हुए चित्रित किया गया है।[3] अवेस्ता के एक दूसरे प्रसंग में हम भूमि को स्वर्णमय 'शुफ्र' द्वारा चालित होते हुए तथा 'अष्ट्रा' द्वारा कर्षित होते हुए देखते हैं।[4] यहां स्वर्णिम शुफ्र द्वारा भूमि का संचालन कर्षण-प्रक्रिया का परिचायक है। अतः यहाँ शुफ्र का अर्थ है हल का फाल अथवा हल। हाप्किन्स ने शुफ्र शब्द को √शिफ् से व्युत्पन्न मानते हुए इसका अर्थ हल का फाल किया है।[5] संस्कृत में √शिफ् नहीं मिलती किन्तु शेप शब्द मिलता है। डांगे महोदय का सुझाव है कि √शिप् संस्कृत भाषा से विलुप्त हो गई किन्तु अवेस्ता में √शिफ् के रूप में बनी रही। ऐसी दशा में 'शेप' तथा 'शिप्र' शब्दों के अर्थ होंगे 'शिश्न' और 'हल का फाल'।[6] व्युत्पत्ति के आधार पर 'शिप्रा' शब्द की तुलना विष्णु के विरुद 'शिपि-विष्ट'

---

1. तत्रैव
2. (अ) Scheftelowitz—Zeitschrift fur Indologie und Iranistic, 2.1923, p. 278.
   (ब) के० जी० कांग—अवेस्ता-डिक्शनरी, पृ० 528-29.
3. "शूव्रं जरनइनीं अष्ट्रां च जरन्यो पैसिम्" (वेन्दिद् 11.6) सर्वथा तुलनीय है।
4. "हो इमं जम् ऐविस्वत् सुव्रया जरनइन्या अवि दिं शिफत अस्ट्रया नितिअरजनो फ्रि"।
5. जे० ए० ओ० एस० 1907, पृ० 86 पा० टि०।
6. एस० ए० डांगे—पूर्वोक्त, पृ० 113.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(ऋ० 7.99.7, 7.100.5, 7.100.6 तथा 7.100.7) से की जा सकती है, जिसमें 'शिश्नीय अर्थ' निहित है। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि उपर्युक्त तीनों ऋचाओं (जिनमें विष्णु के 'शिपि-विष्ट' विरुद का उल्लेख किया गया है) के पूर्व की ऋचा में विष्णु द्वारा मनुष्यों को भूमि प्रदान करने का उल्लेख है—"वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्" ऋ० 7.100.4. ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि को उर्वर बनाने और विष्णु के 'शिपि-विष्ट' विरुद में एक प्रकार का सम्बन्ध है। यह ध्यातव्य है कि यौन-प्रतीकों को भूमि और उसकी उर्वरता से सम्बद्ध बतलाया गया है। अतः यह असम्भाव्य नहीं है कि "शिपि-विष्ट" का क्षेत्र के प्रसंग में कोई सूक्ष्म अर्थ निहित हो। इसीलिए 'शिपि' के रूप में विष्णु को भूमि में उपस्थित होते हुए चित्रित किया गया है। यह 'शिपि' वस्तुतः 'शिप्रा' अथवा 'सुफ्र' ही है। यदि हम हाप्किन्स के अनुसार अवेस्ता के 'शुफ्र' शब्द की व्युत्पत्ति √शिफ् से मान लें तो इन शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध निम्नोक्त प्रतीत होंगे—

शिप् (वैदिक) √शिफ् √शुफ्र (अवेस्ता) >शुफ्र (अवेस्ता)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि तीक्ष्णाग्र 'शृंग' ही भूमि जोतने का मौलिक उपकरण था, जिसकी सहायता से भूमि में वीज-वपन किया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि 'शिप्र' के मूलतः दो अर्थ—पहला 'शृंग' और दूसरा 'हल का फाल' होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मौलिक अर्थ वैदिक साहित्य से तो विलुप्त हो गये किन्तु अवेस्ता में धुंधले रूप में बने रहे।[1]

वैदिक साहित्य में हमें सस्योत्पादन सम्बन्धी अनुष्ठानों, आहुतियों एवं प्रार्थनाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं। उत्तम फसल की प्राप्ति के लिए उपास्य देवताओं में इन्द्र का नाम सर्वप्रथम आता है। मरुतों एवं पर्जन्य आदि को उसके सहयोगी के रूप में चित्रित किया गया है।[2] ऋग्वेद में इन्द्र को 'अंकुश' नामक उपकरण धारण करते हुए दिखलाया गया है तथा उससे प्रार्थना की गई है कि वह उसके माध्यम से ऐश्वर्य प्रदान करें।[3] बिना कर्षण के उत्पन्न होने वाले शस्य को इन्द्र द्वारा प्रदत्त कहा गया है।[4]

---

1. एस० ए० डांगे—वही, पृ० 114.
2. जे० खोन्दा—आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० 28.
3. "दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि। यजमानाय सुन्वते"
ऋ० 8.17.10.
4. "विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते।
अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम्॥" ऋ० 2.21.1.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

"विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी । वैश्वानरं विभ्रती भूमि-रग्निमिन्द्रऋषमाद्रविणे नो दधातु ।।" अथर्व० 12.1.6 में इन्द्र को वसुधा का वृषभ कहा गया है। यह ध्यातव्य है कि अनेक स्थलों पर पृथिवी को गाय कहा गया है।[1] यहाँ यह भाव अभिप्रेत है कि जिस प्रकार वृषभ का गाय के साथ संयोग होने पर गोवंश की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार इन्द्र पृथिवी से शस्य का उत्पादन करता है।

ऋग्वेद में इन्द्र को "उर्वरापति' कहा गया है--"आ याहीम इन्दवोऽश्वपते गोपत उर्वरापते। सोमं सोमपते पिब" ऋ० 8.21.3. अन्यत्र उसको उर्वरा को जीतने वाला (उर्वराजिते) कहा गया है।[2] इतना ही नहीं वरन् उससे पूषान् के सहयोग से 'सीता' को उचित दशा प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[3]

सस्योत्पादनः देवी एवं अंकुरार्पण

सस्योत्पादन के प्रसंग में सीता नामक देवी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में वर-दान एवं सस्य की प्राप्ति के लिए उसकी स्तुति की गई है—"अर्वाचो सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलाससि" ऋ० 4.57.6. विभिन्न गृह्यसूत्रों में सीता सम्बन्धी अनुष्ठानों का विशद वर्णन किया गया है। पारस्करगृह्य सूत्र 2.17 के अनुसार क्षेत्र के पूर्वी या उत्तरी भाग के किसी पवित्र एवं जोते हुए स्थल पर, जहाँ फसल की क्षति न हो, अग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता है। तदनन्तर धान अथवा यव में मिले हुए दर्भ घास को उसके चतुर्दिक् विखेरा जाता है। इसके बाद इन्द्र, सीता एवं उर्वरा के लिए घृत की आहुति दी जाती है। विखेरे जाने के बाद बचे हुए कुश घास पर विभिन्न दिशाओं में स्थित सीता के अभिरक्षकों के लिए आहुति दी जाती है।[4] गोभिल गृह्य सूत्र 4.4.28 के अनुसार कर्षण-कार्य के प्रारम्भ होने पर सीता को आहुति में उसका अंश प्राप्त होता है। अन्य गृह्यसूत्रों के अनुसार हल के नद्ध होने के साथ ही कर्षण-अनुष्ठान औपचारिक रूप से पूर्ण हो जाता है।[5] कर्षण के पूर्व क्षेत्र के पूर्वी

---

1. अथर्व० 8.10.24 तथा श्रीमद्भागवत पुराण 4.18.12.
2. ऋग्वेद 2.21.1
3. "इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।
   सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ।।" ऋ० 4.57.7.
4. यहां मानव गृह्यसूत्र 11, 10.7 तुलनीय है।
5. शांखायन गृह्यसूत्र 4.13; गोभिल गृह्यसूत्र 44.27; पा० गृ० सू० 2.13. एवं कौपीतकी गृह्य सूत्र, 1.5

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भाग में आकाश एवं पृथिवी के प्रति आहुति अर्पित की जाती है। इस प्रसंग में जिन देवों के प्रति आहुतियां अर्पित की जाती हैं, उनमें इन्द्र, पर्जन्य, आश्विन्, मरुतों, उद्लाकाश्यप, स्वातिकारी, सीता तथा अनुमिति आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार लीक, खलिहान, बीज-वपन, फसल काटने तथा गहाई के समय सम्पन्न किये जाने वाले अनुष्ठानों का वर्णन गृह्य सूत्रों में मिलता है।[1] इतना ही नहीं वरन् मूषकों से फसल की रक्षा के लिए मूषक-राज के प्रति आहुति अर्पित करने का भी उल्लेख मिलता है।[2]

ऋग्वेद में भूमि-रक्षक 'क्षेत्रस्यपति' नामक देवता की स्तुति पशु एवं अश्व प्रदान करने तथा स्वर्ग, पृथिवी, औषधि एवं जल को मधुरता से परिपूर्ण करने के लिए की गई है।[3] "शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नः भवन्तूषसो विभातीः। शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः" ॥ ऋ० 7.35.10 में सायण के अनुसार कविता, उषा और पर्जन्य के साथ क्षेत्रपति से शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। किन्तु मैक्डॉनेल महोदय के अनुसार यहां इन देवताओं से सम्पत्ति की याचना की गई है।[4] गृह्यसूत्रों के अनुसार भूमि-कर्षण के बाद क्षेत्रपति को आहुति प्रदान की जाती है।[5]

राका नामक प्रसवन-शक्ति की देवी की स्तुति का उल्लेख हमें मानवगृह्यसूत्र 2.10.7 में मिलता है। इसके अनुसार राका को कर्षण उपकरण के निर्माण, कर्षण-क्रिया, वीज-वपन, फसल काटने तथा गहाई के समय आहुति अर्पित की जाती है।

सस्योत्पादन सम्बन्धी अनुष्ठानों के प्रसंग में 'अंकुरार्पण' का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। विविध एवं महत्त्वपूर्ण उत्सवों, कल्पों तथा अनुष्ठानों के विवेचन के संदर्भ में अंकुरार्पण का उल्लेख अत्रि तथा काश्यप संहिताओं में मिलता है। विष्णु के प्रति सम्पन्न किये जाने वाले प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व सामान्यतया अंकुरार्पण को परमावश्यक बतलाया गया है, क्योंकि यह विश्वास प्रचलित है कि जहाँ अंकुरार्पण के बिना सभी कल्प अथवा अनुष्ठान निष्फल होते हैं, वहीं मात्र अंकुरार्पण से देवता प्रसन्न हो जाते हैं। पात्र में स्थापित नवधान्य के अंकुरों को उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य का प्रतीक माना गया है। यह

1. ए० बी० कीथ, पूर्वोक्त; 365.
2. तत्रैव।
3. ऋ० 4.57.1-3.
4. मैक्डॉनेल—वेदिक माइथोलॉजी, पृ० 138.
5. आश्वलायन गृह्यसूत्र 2.10.4, शांखायन गृह्यसूत्र 4.13.6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रथा विवाह-संस्कार से भी सम्बद्ध है ।[1] खोन्दा का मत है कि सभी प्रकार के सस्य तथा दालवाले पौधों की सम्यक् उत्पत्ति एवं विकास के लिए इस अनुष्ठान का आयोजन किया जाता था । विष्णु के प्रति इन अंकुरों के अपरिहार्य अर्पण से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि वैखानस सस्योत्पादन, भूमि की प्रसवन-शक्ति तथा अन्न की पर्याप्त आपूर्ति के लिए अपने सर्वोच्च देव विष्णु पर आश्रित रहते थे । खोन्दा का यह भी सुझाव है कि अंकुरार्पण का मुख्य प्रयोजन देवता की अन्तःशक्ति का सम्पालन करना था, जिससे वह इन महत्त्व-पूर्ण क्रियाओं को नियंत्रित कर सके ।[2]

वैदिक साहित्य में सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी अनेक अनुष्ठानों का हमें उल्लेख मिलता है। "विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते" (ऋ० 10.184.1 तथा अथर्व० 5.25.5) । इस ऋचा में विष्णु से योनि के निर्माण, त्वष्टा से रूपों को अवयव युक्त बनाने, प्रजापति से गर्भ को सींचने और धाता से गर्भ को धारण करने की प्रार्थना की गई है । इसी प्रकार "अच्छायं वो मरुतः श्लोक एत्वच्छा विष्णुं निषिक्तपामवोभिः । उत प्रजायै गृणते वयो धुर्यूयं पात स्वतिभिःसदा नः" ऋ० 7.36.9 में विष्णु को आश्रयदाता और गर्भपालक कहकर उससे अन्न और पुत्र प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। वैदिक साहित्य में विष्णु को 'घृतयोनि' की संज्ञा प्रदान की गई है ।[3] घृत का उल्लेख सोम, दुग्ध और मधु के साथ सम्पूर्ण सृष्टि—जल एवं वनस्पति, के जीवन-तत्त्व के रूप में किया गया है ।[4] अथर्ववेद में सिनीवाली को विष्णु की पत्नी कहा गया है तथा उससे प्रार्थना की गई है कि वह हमारी सिद्धि के लिए अपने पति को प्रेरित करे ।[5] "सिनीवाली पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा । जुषस्व हव्य-माहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढिनः" अथर्व० 7.46.1 में सिनीवाली को अन्नयुक्त और बहुतों द्वारा प्रशंसित कहकर उससे उत्तम सन्तान प्रदान करने की प्रार्थना की गई है ।

1. जे० खोन्दा—पूर्वोक्त, पृ० 259.
2. तत्रैव, पृ० 261.
3. अथर्व० 7.26.3, तैत्तिरीय संहिता 1.3.4.
4. शत० ब्रा० 7.2.3.4.
5. (अ) "विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देविराधसे चोदयस्व" । अथर्व० 7.46.3, (ब) दैवी कीच के साथ भी सिनीवाली के विवाह का उल्लेख मिलता है । जे० खोन्दा—आसपेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० 227.
(स) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 14.17.3 के अनुसार सिनीवाली पृथिवी का ही नाम प्रतीत होता है ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सिनीवाली, सरस्वती तथा कमल-माल धारण करने वाले दोनों अश्विदेवों से एक ही साथ गर्भ धारण करने की प्रार्थना की गई है।[1] इसी प्रकार "'प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य चीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह" अथर्व० 6.11.3 में प्रजापति, अनुमिति और सिनीवाली से पुत्र-गर्भ धारण करने की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद में अग्नि से औषधियों, वनस्पतियों तथा समस्त भूतमात्र का गर्भ धारण करने की प्रार्थना की गई है—"गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्। गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेहधाः।।" अथर्व० 5.25.7। बृहदारण्यकोपनिषद् में हमें सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी अनुष्ठान का विशद वर्णन मिलता है।[2] "हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थता-मश्विनौ, तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये। यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां तथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति"।। बृहदारण्यकोपनिषद् 6.4.22 में कहा गया है कि प्राचीन काल में ज्योतिर्मयी अरणियां थीं, जिनसे अश्विनीकुमारों ने मन्थन किया। उस मन्थन से अमृतरूप गर्भ प्रकट हुआ। उसी अमृत-रूप गर्भ को हम तेरी कुक्षि में स्थापित करते हैं, ताकि तुम इसे दशवें महीने में उत्पन्न कर सको। जैसे पृथिवी का गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्गीय भूमि इन्द्र से गर्भवती है, जैसे दिशाओं का गर्भ वायु है, उसी प्रकार मैं तुझमें पुत्र रूप गर्भ स्थापित करता हूं।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि पशुपालन के प्रसंग में वत्सोत्पादन और कृषि-कर्म के प्रसंग में सस्योत्पादन का वैदिक आर्यों के जीवन में अत्यधिक महत्त्व था। इन दोनों की उत्पादन-शक्ति को रहस्यात्मक परिवेश में दिव्य परिधान दिया गया। 'विराज', 'श्री', 'पूर्णकलश', 'भूरिशृंग' आदि इसके प्रतीक थे। पुनः वत्सोत्पादन और सस्योत्पादन की शक्ति और प्रक्रिया की सन्तानोत्पत्ति की पृष्ठभूमि में व्याख्या की गई। अन्त में हम यहां फिर से कहना चाहेंगे कि इस सिद्धान्त-निर्वचन से हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि आध्यात्मिक शक्ति का अस्तित्व नहीं है और न यह कि आध्यात्मिक शक्ति केवल भौतिक प्रक्रियाओं पर आधारित एक परिकल्पना मात्र है। किन्तु इस सिद्धान्त से यह द्योतित अवश्य होता है कि आध्यात्मिक शक्ति की व्याख्या भौतिक परिपार्श्व में भौतिक प्रतीकों के माध्यम से भी की गई।

---

1. गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
   गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा।।" ऋ० 10.184.2, अथर्व 5.25.3
2. "अथास्या उरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुख संधाय त्रिरेनामनु लोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ" बृहदारण्यकोपनिषद् 6.4.21.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संहिता-ब्राह्मण-साहित्य में प्रजा का द्विविध वर्गीकरण उपलब्ध होता है—'तस्मा-द्यायावरा अन्या प्रजाः क्षेम्या अन्याः' ।[1] यहाँ यायावर और क्षेम्य के दो वर्गों का उल्लेख हुआ । यायावरों की जीवन-पद्धति 'योग' और 'विष्णुक्रम' थे । इसके विपरीत क्षेम्यों का जीवन-यापन क्षेम-दर्शन के अनुकूल था । इस वर्गीकरण का अनुगुंजन हमें सूत्र-साहित्य तक उपलब्भ होता है, जहां वानप्रस्थ के त्रिविध भेद—यायावर, चक्रचर और शालीन बतलाये गये ।[2] यायावरों और क्षेम्यों के पुनः वर्गीकरण मिलने लगते हैं । यहाँ वर्गीकरण का आधार मुख्यतया निवास की अवधि है । अल्पकालिक निवास से स्थायी निवास, ध्रुवा-क्षिति, की प्रक्रिया ने अनेक सांस्कृतिक प्रवृत्तियां उत्पन्न कीं ।

अल्पकालिक निवास ने जीवन-पद्धति को एक नया मोड़ दिया, जिसकी विशिष्ट परिणति ध्रुवा-क्षिति के काल में दृष्टिगोचर होती है । यह नया मोड़ सस्योत्पादन की प्रक्रिया का परिणाम है । इसने एक ओर तो नया जीवन-दर्शन दिया तो दूसरी ओर नवीन जीवन-पद्धति का सूत्रपात किया । प्रारम्भ में एक तीक्ष्णाग्रकाष्ठदण्ड का उपयोग भूमि जोतने के लिए किया जाता था । इस तीक्ष्णाग्रदण्ड का अभिधान 'अर' था । बाद में 'शृंग', 'शिप्र', 'फाल' और 'हल' का प्रयोग हुआ । 'शृंग' के द्वारा बीज-निक्षेप का कार्य भी होता था । सस्योत्पादन की यह प्रक्रिया संस्कृति के विभिन्न पक्षों के लिए मूलाधार बनी ।

सस्योत्पादन की तुलना सन्तानोत्पत्ति और वत्सोत्पादन से करके सृष्टि में एक अद्‌भुत शक्ति की परिकल्पना की गई जो प्रकृति में स्पन्दन कर अभिनव पदार्थों की सर्जना करती है । इस शक्ति को तीक्ष्णाग्रदण्ड—'अर' में प्रतिष्ठित माना गया और यह आकांक्षा की गई कि "जायेव योनावरं विश्वस्मै" ऋ० 1.66.3. । 'अर' को जनक और स्वामी भी माना गया । इसीलिए इन्द्र को 'अर' का अभिधान दिया गया । इसी 'अर' का अवान्तर रूप 'शृंग', 'शिप्र', 'लांगल', 'हल' और 'फाल' हुआ जिनके विषय में अनेक ऋचाएं उपलब्ध हैं ।

इस 'अर' का दूसरा पक्ष है पृथिवी, जिसको 'कृतयोनि'[3] और 'जठर'[4] कहा गया

1. देखिये, पीछे पृष्ठ 38
2. देखिये, पीछे, पृ० 15
3. "युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्" ऋ० 10.101.3
4. "धमव मधु जठरे सनेरू भगेविता तुर्फरी फारिवारम्" ऋ० 10.106.8.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है। पृथिवी को स्त्री के समान ही प्रसविनी माना गया—"ययेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे। एवं तं गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे"।। (ऋ० खिल 4.13.2)। प्रजनन-शक्ति के प्रतीक के रूप से फाल की मणि (तावीज) धारण कर महिलायें प्रार्थना करती थीं कि "जिस प्रकार हल के फाल से जोती हुई भूमि में बीज उगता है, उसी प्रकार मुझमें प्रजा, पशु तथा प्रत्येक प्रकार के अन्न उत्पन्न होवें।"[1]

इस 'अर'-'जठर' के संयोग से 'विराज', 'श्री', 'भूरिश्रृंग', 'कलश' आदि की आध्यात्मिक अवधारणायें तो उत्थित हुईं ही साथ ही इसने उस पिता-पुत्र अवधारणा को भी जन्म दिया जो बाद में 'दाय' और 'भाग' का मूलाधार वनी। किन्तु सर्वाधिक प्रमुख है 'अर' से 'अर्य' (स्वामी) वर्ग का उत्थान। 'अर्य' की जो छवि वैदिक साहित्य से बनती है, उसमें स्वामित्व, पौरोहित्य और शासकत्व के त्रिविध गुणों का समावेश हुआ। ऋग्वेद 1.81.6 में इन्द्र को अर्य और मर्तों को भोजन देने वाला कहा गया है—'यो अर्यो मर्तभोजनं ददाति'। ऋग्वेद 10.148.3. में अर्य (इन्द्र) को विद्वान् स्वामी, मेधावी और ऋषियों की स्तुति की कामना करने वाला कहा गया है—"अर्यो वा गिरी अभ्यर्च विद्वानृषीणां विप्रःसुमतिं चकानः"। ऋ० 7.21.9 से अर्य का शासकत्व प्रमाणित होता है—"वन्वन्तु स्मा तेऽवसा समीके भीतिमर्यो वनुषा शवांसि"। यह 'अर्य' भारोपीय काल में ही उत्पन्न हो गया था क्योंकि 'अर्य' के समानार्थक सगोत्र रूप यूनानी (एरिओ) और ईरानी (अर्य) तथा परवर्ती भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि ये सभी शब्द 'अन्तोदात्त' हैं। इस 'अर्य' के साथ कुलीनता का भाव भी क्रमशः सम्बद्ध हो गया।

'अर्य' के उत्थान से 'जन' दो वर्गों में विभक्त हो गये—'अर्य' और 'चर्षणि' अथवा 'कृष्टि'—'आ याहि पूर्वीरति चर्षणीरां अर्य' ऋ० 3.43.2. 'चषणि' यदि चरणशीलता से विशेष रूप से सम्बद्ध है, तो कृष्टि कर्षणशीलता से। इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति में वैयाकरणों का प्रयास इतिहासकारों के लिए अनेक मनोरंजक तथ्यों का उद्घाटन करता है।

क्षय-निवास ने इस परिवर्तन-प्रक्रिया को क्रमशः तीव्र किया। अल्पकालिक निवास और ध्रुवा-क्षिति के अन्तराल में अनेक शृंखलाएं हैं—'अर्म', 'गर्त्त', 'गुहा', 'अरण्य' के बाद 'व्रज', 'पस्त्य', 'दुरोण' आदि की। इस अन्तराल कालीन युग में ही क्षत्र का विकास हुआ, जिसका प्रमुख कार्य था 'क्षय' और 'क्षेत्र' का 'त्राण' अथवा रक्षण करना। √क्षि=

1. अथर्ववेद: 10.6.33.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निवसने का यूनानी रूप तो मिलता है, किन्तु 'क्षत्र', 'क्षथ्र' अवेस्ता, प्राचीन ईरानी आदि भाषाओं में ही मिलता है, और उनमें भी इसका अर्थ शासक ही है। क्षत्र के विकास के साथ ही "अर्य" का ह्रास हुआ। कर्षणशीलता की शक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई रक्षणशीलता की योग्यता और 'अर्य' जो स्वामी था उसका क्रमशः ह्रास हुआ। अवान्तर काल में वह अर्य वैश्य हो गया जिसके विविध उल्लेख परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्र का उदय और अर्य का क्रमशः वैश्य में परिणत होना ही त्रिवर्ण—ब्रह्म, क्षत्र और विश् के उद्भव का प्रस्थान है।

'क्षत्र' यदि 'क्षय' (निवास) और 'क्षेत्र' का परित्राण करता था तो 'राजा' 'क्षय-क्षेत्र' का अन्वेषण करता था। अपने कबीलों को उस स्थान तक ले जाने में वह उनका नेतृत्व करता था। इसलिए वह उनका नेता भी होता था। ऋग्वेद 10.126.6. में वरुण, मित्र और अर्यमा को स्पष्टतः 'नेतारः राजानः' कहा गया है। 'अर्य' को अनेक स्थानों पर राजा कहा गया। इसलिए 'क्षत्र' के पूर्व ही 'राजा' का महत्त्व स्वीकार किया गया। 'राजा' और 'क्षत्र' को सैन्य-सहायता की आवश्यकता थी। सेना के प्राग्रूप 'शर्ध' 'गण' और व्रात हैं, जो मुद्रा के दो पक्षों के समान युगपत रीति से सैनिक और लुटेरे थे। जब अपने जन का संरक्षण करते थे तो उनका सैनिक पक्ष सामने आता था और जब वे दूसरे जनों को लूटते थे तो उनका लुटेरा रूप प्रत्यक्ष होता था। यदि क्षत्र के उदय से सामाजिक वर्गीकरण का सूत्रपात हुआ तो राजा के उद्भव से राज्य के मूलरूप की अवतारणा हुई। विभिन्न राज्यों के रूप धीरे-धीरे सामने आये। ऐसे राज्यों में वैराज्य, भौज्य और गणराज्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सहस्रशीर्ष, सहस्त्रपाद—समाज के सामासिक रूप

विराट् अधिपुरुष का समाज-राज्य में प्रतिफलन ही वैराज्य था जिसमें दण्ड, धर्म-संहिता, साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा, विवाह-संस्कार, कौटुम्बिक व्यवस्था तथा सामाजिक स्तरीकरण अर्थात् चातुर्वर्ण-व्यवस्था का अभाव था।

प्राचीन भारत में प्रचलित एक अन्य शासन-प्रणाली का उल्लेख साहित्य में गणराज्य के रूप में किया गया है। जहां 'शर्धों', 'व्रातों' और 'गणों' का प्रभुत्व रहा, जहाँ 'क्षत्र' और 'राजा' का प्राधान्य नहीं हो पाया, वहाँ गणराज्य जैसी शासन-पद्धति का विकास हुआ। जैसा पहले उल्लेख किया गया है, शर्धों, व्रातों एवं गणों के दो पक्ष—सैनिक और लुटेरा दिखायी देते हैं। जब वे अपने जनों के रक्षण-कार्य में रत होते थे तब उनका सैनिक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पक्ष स्पष्ट होता था किन्तु जब वे दूसरे जनों पर आक्रमण कर उनकी सम्पत्ति का अपहरण करते थे, तो उनका लुटेरा पक्ष अधिक मुखरित होता था । सामरिक अभियानों में प्राप्त होने वाली वस्तुओं पर गण का सामूहिक स्वामित्व होता था । गण के सदस्य व्यक्तिगत रूप से इन वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकते थे । गण के सदस्य सभी ऐसी अधिकृत वस्तुओं को गण के समक्ष उपस्थित करते थे । गणपति उन वस्तुओं को गण के सदस्यों के मध्य समान रूप से वितरित करता था । इन्हीं गणों से अवान्तरकालीन 'राजशब्दोपजीवी' और 'आयुधजीवी' संघों का विकास हुआ होगा ।

इस प्रकार प्राचीन जन-समूह के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठनों का विकास हुआ ।

जनसमूह के निवास का परिवेश जिसे बाद में ग्राम की संज्ञा उपलब्ध हुई, निरन्तर परिवर्तित हुआ । यायावरीय जीवन का परिवर्तन अल्पकालिक निवास में क्रमशः बदला जिसकी अन्तिम परिणति स्थायी-निवास 'ध्रुवा-क्षिति' में हुई । निरन्तर संचरणशील कवीले अपने लिये खाद्य-संग्रह तथा अपने पशुओं के लिए चरागाहों एवं पेय-जल की सुविधा को ध्यान में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने संचरणशील निवासों में अल्पकालिक निवास करते थे । इनके वाहन ही प्रायः इनके निवास भी होते थे । इसी-लिए प्राचीन ग्रन्थों में 'गर्त्त'[1], 'रथ'[2] और 'अनस्'[3] जैसे वाहन-वाची शब्दों का प्रयोग गृह के अर्थ में भी किया गया है । इस प्रकार 'रथ', 'गर्त्त' और 'अनस्' आदि ने सन्निवेश की आधारशिला प्रस्तुत की और इन्हें अवान्तरकालीन भवन-विन्यास की मातृका के रूप में स्वीकार किया गया । ऐतिहासिक युग में रथाकार भवनों की परिकल्पना तथा विभिन्न मंदिरों की रथ के नाम से प्रसिद्धि से यह तथ्य प्रमाणित होता है ।[4] कालक्रमानुसार इनके निवास के स्वरूप में थोड़ा-सा परिवर्तन आया । अब वे संचरणशील निवास के स्थान पर अल्पकालिक निवास में रहने लगे । इनके अल्पकालिक निवासों के लिए ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'व्रज' 'व्रजन' तथा 'पस्त्य' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । ये सभी जन-सन्निवेश प्रमुखतः पशुचारकों के जन-सन्निवेश थे, जिनमें पशुचारकों के

---

1. देखिये, पीछे पृ० 52-55

2. देखिये, पीछे पृ० 49-51

3. देखिये, पीछे पृ० 44-45

4. देखिये, पीछे पृ० 50-51

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

साथ ही उनके पशुओं के निवास की भी व्यवस्था रहती थी। किन्तु ये आनुषंगिक रीति से कृषि-कर्म भी करते थे।

कृषि-कर्म के ज्ञान ने मानव में भू-खण्डों (क्षेत्रों) के प्रति अनुराग उत्पन्न किया। परिणामतः अब मनुष्य स्थायी-निवास (ध्रुवा-क्षिति) में रहने लगे जो अच्छे-अच्छे द्वारों (विदुर) से युक्त होते थे। ऐसे निवासों को वैदिक साहित्य में 'दुरोण', 'दुर' अथवा 'द्वार-युक्त' की संज्ञा दी गयी।

यह ग्राम का आदिम रूप था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट

1. ग्राम एवं ग्राम्य-जीवन के अद्यावधि शोध का सर्वेक्षण
2. वैराज्य—अराजक स्थिति का विवेचन
3. प्रशासन आदि कारणों से ग्रामों के अवान्तरकालीन विकास का विवरण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट प्रथम

ग्राम एवं ग्राम-जीवन के अद्यावधि शोध का सर्वेक्षण

प्राचीन भारतीय ग्रामों तथा ग्राम्य जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों का विवेचन कतिपय पूर्ववर्ती इतिहासकारों द्वारा किया जा चुका है। इस दिशा में प्रथम उल्लेखनीय कार्य बैडेन पावेल ने किया। उन्होंने सन् 1896 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'दि इंडियन विलेज कम्यूनिटी' में भारतीय ग्राम्य जीवन का विस्तृत सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। किन्तु इस ग्रन्थ में मुख्यतः समकालीन भारतीय ग्रामों के भौगोलिक-भौतिक परिवेश, प्रजातीय स्वरूप एवं सामाजिक-आर्थिक संगठन पर ही विचार किया गया है। प्राचीन ग्राम्य जीवन का विवेचन केवल प्रासंगिक रूप से ही इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र हुआ है। यद्यपि लेखक ने भू-स्वामित्व के संदर्भ में प्राचीन ग्राम्य जीवन का भी सिंहावलोकन किया है, किन्तु वहाँ भी उसकी दृष्टि मूलतः वैधिक है। अतः पावेल महोदय की कृति अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी प्राचीन ग्राम्य जीवन को आंशिक रूप से ही उद्घाटित कर पाती है। उनकी विधा भी ऐतिहासिक कम और सामाजिक अधिक है।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय ग्राम्य जीवन के अध्ययन का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास अनन्त सदाशिव आल्तेकर ने किया। किन्तु इन्होंने भी ग्राम के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं के अनुसंधान का प्रयत्न नहीं किया है।

कतिपय अन्य इतिहासकारों ने प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास लिखते हुए ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन किया है। इनमें एन० सी० बंदोपाध्याय, ए० एन० बोस, यू० एन० घोषाल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन इतिहासकारों ने ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप का विवेचन करते हुए कृषि, पशु-पालन, उद्योग एवं शिल्प आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने ग्राम्य जीवन में सामाजिक स्तरीकरण के साथ-साथ भू-स्वामित्व जैसी वैधिक एवं ग्राम्य शासन जैसी प्रशासनिक समस्याओं पर भी विचार किया है। किन्तु बैडेन पावेल की ही भाँति इनके ग्रन्थों में भी ग्राम-विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं के विवरण अनुपस्थित हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उपर्युक्त ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भिन्न दृष्टि समाजशास्त्रियों की रही है। सन् 1950 के पश्चात् अनेक भारतीय तथा विदेशी समाजशास्त्रियों ने भारतीय ग्रामों के अध्ययन की दिशा में विशेष रुचि दिखलायी। ऐसे समाजशास्त्रियों की कृतियों में डी० एन० मजुमदार की 'रूरल प्रोफाइल्स', एम० एन० श्रीनिवास की 'इण्डियन विलेज', एस० सी० दुबे की 'इण्डियाज विलेज' एवं 'इण्डियाज चेंजिंग विलेज' तथा मैरियट की 'विलेज इण्डिया' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रोफेसर दुबे की कृति भारतीय ग्राम-जीवन के समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से सर्वाधिक उपादेय है। उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त अन्य समाजशास्त्रियों ने कतिपय ग्रामों अथवा ग्राम-समूहों का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया,[1] जिनसे ग्राम-जीवन की गतिशीलता को समझने में हमें पर्याप्त सहायता मिली तथा लघु समुदायों के अध्ययन के प्रसंग में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की उपादेयता स्पष्ट हुई।

उपर्युक्त अध्ययन के परिणामस्वरूप दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हुईं। प्रथम—

---

1. ए० सी० मेयर—'वर्क आन लैण्ड एण्ड सोसाइटी इन मालाबार, तथा 'कास्ट ऐण्ड किन्शिप इन सेण्ट्रल इण्डिया'
आर० रेडफील्ड—दी लिटिल कम्युनिटी व्युप्वाइन्ट्स फार दी स्टडी आफ हुमन ह्वोल
डी० एन० मजुमदार—कास्ट एण्ड कमुनिकेशन इन एन इण्डियन विलेज।
एफ० सी० बेली—कास्ट एण्ड दी इकोनामिक फ्रण्टियर
आर० मुकर्जी—दी डायनिमिक्स आफ रूरल सोसाइटी
ओ० लेविस—विलेज लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया
पी० के० मुकर्जी एवं एस० सी० गुप्ता—ए पायलट सर्वे आफ फोर्टीन विलेजेज इन उत्तर प्रदेश एण्ड पंजाब
तया जिंकिन—इंण्डियाज चेंज़ेज
बी० सिंह—नेक्स्ट स्टेप इन विलेज इण्डिया
ए० आर० देसाई—रूरल इण्डिया इन ट्रान्जिशन
टी० एन० मदन—फेमिली ऐण्ड किन्शिप इन काश्मीरी विलेज
योगेज अटल—चेंजिंग फ्रण्टियर आफ कास्ट
बी० आर० चौहान—ए राजस्थान विलेज। डी० सिन्हा—इण्डियन विलेजेज इन ट्रान्जिशन; के० एल० शर्मा—दी चेंजिंग रूरल स्ट्रेटिफिकेशन सिस्टम;
एम० एच० सोमजी—डिमॉक्रेसी ऐण्ड पोलिटिकल चेंज इन विलेज इण्डिया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्राम्य जीवन की व्यवस्थाओं और प्रथाओं का विवरण, विश्लेषण और व्याख्यापरक शोध । इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत ग्राम्य जीवन की संहति और व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न किया गया, जिसमें रेडफील्ड की 'लिटिल कम्यूनिटी' का विशेष प्रभाव दिखायी देता है । द्वितीय––ग्राम-जीवन में परम्परा और आधुनिकता के तत्त्व के साथ ही साथ संरक्षणशीलता और गतिशीलता की प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं। इसमें एम० एन० श्रीनिवास के 'संस्कृताइजेशन' तथा मेकिम मेरियट के 'युनिवर्सलाइजेशन' तथा 'पेरोकियलाइजेशन' का प्रयोग दिखायी देता है । इसी के अन्तर्गत 'लिटिल ट्रेडिशन' और 'ग्रेट ट्रेडिशन' की अवधारणाओं का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है ।[1]

किन्तु ग्रामों का यह समाजशास्त्रीय अध्ययन केवल आधुनिक ग्राम्य जीवन, ग्राम की आर्थिक व्यवस्था एवं ग्रामवासियों के सामाजिक सम्बन्धों एवं उनके पीछे निहित विभिन्न कारकों तक ही सीमित है । इनकी कृतियों में भी ग्राम-जीवन का प्राचीन विकासमान स्वरूप सर्वथा उपेक्षित है । ग्राम-जीवन का अध्ययन नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से भी करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु नृतत्त्वविदों ने मुख्यतः जन-जातीय ग्रामों को ही अपने अध्ययन के लिए चुना है । कतिपय लेखकों ने प्राचीन ग्रामों का वास्तु-शास्त्रीय अध्ययन भी किया है । इस प्रकार की कृतियों में अमिता रे की 'विलेजेज़, टाउन्स ऐण्ड सेक्युलर बिल्डिंग्स इन एन्शियेण्ट इण्डिया' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध विषय और विधा दोनों ही दृष्टि से ग्राम-जीवन पर अद्यावधि लिखे गये अन्य ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न है । विषय की दृष्टि से इस प्रबन्ध में प्राचीन भारतीय ग्रामों की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए यायावरीय जीवन से स्थायी-निवास तक विकास की प्रक्रिया को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है तथा विकास की मध्यवर्ती कड़ियों को भी जोड़ने का प्रयास किया गया है । इस संदर्भ में आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों का भी अध्ययन किया गया है, जिनके माध्यम से ग्राम-जीवन का विकास हुआ । इस प्रकार ग्राम, पशु-पालक ग्राम, कृषक-ग्राम आदि तो विवेचित हैं ही साथ ही भ्रमणशील ग्रामों, अस्थायी ग्रामों एवं स्थायी ग्रामों के स्वरूप का भी अध्ययन किया गया हैं ।

जहाँ तक अध्ययन की विधा एवं दृष्टि का प्रश्न है, इस प्रबन्ध में भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि अपनाते हुए शब्दों के अर्थ-विकास के माध्यम से ग्राम-जीवन एवं ग्राम अर्थ-

1. प्रसंगतः उल्लेखनीय है कि इनका किंचित् प्रभाव प्राचीन भारतीय इतिहासकारों में भी परिलक्षित होता है । उदाहरणार्थ––शैवधर्म के प्रसंग में फादर फॉन ट्राय का ग्रेट ट्रेडिशन और लिटिल ट्रेडिशन का अध्ययन एवं प्रो० आर० एस० शर्मा के द्वारा संस्कृताइजेशन की अवधारणाओं का प्रयोग ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों की खोज की गयी है। शाब्दी परम्परा में अर्थ-परिवर्तन निश्चय ही पदार्थों के उपयोग-परिवर्तन अथवा रूप-परिवर्तन का सूचक है। इसीलिए शब्दों के अर्थ-विकास एवं अर्थ-परिवर्तन द्वारा ऐतिहासिक परिवर्तनों की दिशा खोजी जा सकती है। प्राचीन भारतीय इतिहास में इस दृष्टि से अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण अध्ययन नहीं हो सका है। इस प्रवन्ध में आद्योपान्त इस दृष्टि और विधा का उपयोग तो है ही निष्कर्षों की पुष्टि के लिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता ली गयी है। इस दिशा में भारोपीय-भाषाओं के सगोत्र शब्दों के अर्थ एवं अर्थ-विकास को देखने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रबन्ध से प्रारम्भिक ग्राम-जीवन के अध्ययन में व्याप्त एक रिक्तता की पूर्ति होगी, ऐसी विनम्र सम्भावना है। पुरातात्त्विक अनुसंधानों द्वारा जो उपकरण उपलब्ध हुए हैं, उनसे ग्राम-जीवन की पदार्थी परम्परा का ही उद्घाटन होता है, किन्तु वे पदार्थ अधिकांशतः नामहीन हैं, इसलिए उनकी पहचान कठिन हो जाती है। शाब्दी परम्परा के अध्ययन से 'पदार्थ' और 'शब्द'—'रूप' और 'नाम' के बीच तादात्म्य स्थापित करना सरल हो सकेगा। इस प्रकार भविष्य में ग्राम-जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं का चित्र अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हो सकेगा। यद्यपि प्रस्तुत प्रबन्ध में मूल दृष्टि शब्दों के अर्थ-विकास के माध्यम से ग्राम-जीवन की प्रारम्भिक स्थितियों का अध्ययन है, तथापि यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार पुरातात्त्विक एवं नृतत्त्वीय साक्ष्यों के उपयोग का भी प्रयत्न किया गया है। ध्यातव्य है कि ग्राम-जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भौतिक समृद्धि का अभाव था। ऐसी स्थिति में पुरातत्त्व भौतिक अवशेषों के उद्घाटन द्वारा नगरीय जीवन के विविध पक्षों को स्पष्ट करने में तो समर्थ होता है, किन्तु भौतिक दृष्टि से अविकसित प्रारम्भिक ग्राम-जीवन का चित्र उपस्थित करने में असहाय हो जाता है।

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर अभी तक यह माना जाता रहा है कि भारत में जन-सन्निवेश का प्रारम्भ बिलोचिस्तान, सप्त-सिन्धु-प्रदेश और सारस्वत प्रदेश में हुआ। पुरातात्त्विक उत्खननों से महाराष्ट्र के ग्राम-सन्निवेशों के विषय में भी विविध सूचनायें उपलब्ध हुई हैं। इनके विवरण प्रकाशित हैं। अतः इन पर यहाँ लेखन अनावश्यक है।

किन्तु अब बेलन-घाटी और गंगा-घाटी का साक्ष्य भारतीय जन-सन्निवेश के इतिहास में एक नवीन आयाम और एक अभिनव दिशा का उद्घाटन कर रहा है। यद्यपि यहाँ होने वाले पुरातात्त्विक उत्खनन का विवरण अभी प्रकाशित नहीं हुआ है तथापि इस उत्खनन के निदेशक प्रोफेसर गोवर्द्धन राय शर्मा के सौजन्य से प्राप्त मौखिक सूचना के आधार पर इस क्षेत्र के प्रागैतिहासिक जन-सन्निवेश एवं जन-जीवन के सम्बन्ध में निम्नोक्त चित्र उभरता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जन-सन्निवेश की स्थिति प्रायः नदियों अथवा नालों के तटों पर अथवा उनके सन्निकट होती थी। मध्य-पाषाणयुगीन स्थल चोपनी मांडो बूढ़ी बेलन के बायें तट पर स्थित है। नव-पाषाणयुगीन स्थल कोल्डिहवा तथा महगरा बेलन नदी के क्रमशः बाँयें और दाहिने तट पर एक दूसरे के सीध में स्थित हैं। यद्यपि पंचोह नामक जन-सन्निवेश सम्प्रति बेलन नदी के तट से कुछ हट कर स्थित है तथापि इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि अतीत में बेलन नदी में मिलने वाला एक नाला इसके समीप से होकर बहता था।

इन जन-सन्निवेशों के स्वरूप के सम्बन्ध में सम्प्रति यह नहीं कहा जा सकता कि वे आयताकार थे अथवा वर्गाकार। प्राप्त साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहाँ के निवासी अपने तथा अपने पशुओं के निवास के लिए अलग-अलग व्यवस्था करते थे। पशुओं के बाड़ों और मनुष्यों के झोपड़ों में स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है। पशुओं के बाड़े जहाँ अनियमित आयताकार हैं, वहीं मनुष्यों के झोपड़े या तो गोल हैं या अण्डाकार। बाड़ों का क्षेत्रफल झोपड़ों के क्षेत्रफल से बड़ा है। महगरा से प्राप्त एक-एक बाड़े का क्षेत्रफल 12·5 मीटर × 7·5 मीटर है। इन बाड़ों का निर्माण बाँस और लकड़ी की सहायता से किया जाता था। बाड़ों में स्तम्भ-गर्त्त तथा पशुओं के खुरों के स्पष्ट चिह्न दिखायी देते है। खुरों के आकार के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस युग के निवासी छोटी तथा बड़ी श्रेणी के पशुओं को पालते थे। इन बाड़ों से कोई ऐसी सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है, जिससे उनमें मानव-निवास की भी परिकल्पना की जा सके। इसके विपरीत झोपड़ों से मिट्टी के वर्तन, लघु पाषाण-उपकरण, कुल्हाड़ी, सिल-बट्टे तथा जानवरों की हड्डियाँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुई हैं। झोपड़ों में हड्डियों के अवशेषों की प्राप्ति के आधार पर तत्कालीन लोगों के मांसाहारी होने का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

चोपनी मांडो से प्राप्त गर्त्त-चूल्हे विभिन्न झोपड़ों से घिरे हुए हैं, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका प्रयोग सामूहिक रूप से किया जाता था। कोल्डिहवा से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि उन्हें कृषि-कर्म का ज्ञान था और वे विशेष रूप से धान की खेती करते थे। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि विश्व में धान की खेती का प्राचीनतम प्रमाण कोल्डिहवा के उत्खनन से प्राप्त हुआ है।[1]

---

1. जोसेफ हट्चिन्सन, ग्राहम क्लार्क, ई० एम० जोप एवं आर० रिले—दी अर्ली हिस्ट्री आफ एग्रिकल्चर, पृ० 141 (ब्रिटिश एकेडमी द्वारा प्रकाशित, 1977)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एक ओर हमें गंगा-घाटी में स्थित महदहा के उत्खनन से मानव के यायावरीय जीवन से स्थायी-निवास, मृगया से पशुपालन तथा खाद्य-संग्रह से कृषि-कर्म की संक्रान्ति के चिह्न स्पष्टतः दिखायी देते हैं, तो दूसरी ओर बेलनघाटी में स्थित महगरा नामक नव-पाषाणयुगीन ग्राम से परिवारों का कबीलों में परिणति, पशुपालन तथा कृषि-कर्म के ज्ञान के प्राचीनतम प्रमाण प्राप्त होते हैं ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट द्वितीय

एक अखण्ड अविच्छिन्न सत्ता का प्रतिफलन ही समाज तथा राज्य है। "पुरुष-सूक्त" में सम्पूर्ण समाज को पुरुष का ही रूप बताया गया। इसी प्रकार "विराट् पुरुष" की अभिव्यक्ति वैराज्य में है। इस विषय का विवेचन पहले किया जा चुका है। वैराज्य-पद में सामाजिक जीवन केन्द्रोन्मुखी है। इसमें विभिन्न तत्त्व एकधा संकलित हैं, विसंकलित नहीं। वैराज्य दर्शन कैसे इतिहास-परम्परा में विकसित हुआ, इसका कुछ निदर्शन यहाँ अभीप्सित है।

वैराज्य—अराजक स्थिति :

वैराज्य शासन-प्रणाली के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मैक्डॉनेल और कीथ ने वैराज्य को राजतन्त्र का ही एक रूप माना है।[1] किन्तु वैराज्य शब्द का सम्बन्ध राजतन्त्र से जोड़ना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि इस प्रसंग में वैराज्य शब्द का उल्लेख जनपद के लिये हुआ है न कि राजा के लिए।[2] काशी प्रसाद जायसवाल[3] और रमेश चन्द्र मजुमदार[4] ने वैराज्य को जनतंत्र माना है। जायसवाल ने वैराज्य का अर्थ 'राजा-विहीन' शासन-प्रणाली किया है।[5] किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ केवल 'राजा-विहीन' होगा। ऐसी स्थिति में वैराज्य जनतंत्र का भी बोधक हो सकता है और अराजक

1. वेदिक इण्डेक्स, खण्ड 2, पृ० 221.
2. डॉ० विजय बहादुर राव—उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, एक अध्ययन, पृ० 166
3. हिन्दू पालिटी, पृ० 82.
4. कारपोरेट लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ 219.
5. हिन्दू पालिटी—पृ० 82. यहाँ तुलनीय है : "To this word two meaning can be given : (1) without king (2) a very distinguished king. In this passage we must take it in the first meaning; for here are the Janapadāh i.e. people in opposition to the king mentioned as abhishikta i.e. anointed, whilst in all other passages of this chapter, we find instead of them, the rājānaḥ or kings" M. Haug, Aittareya Brāhmaṇa, Vol. II, p. 518, n.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्थिति का भी ।[1] महाभारत में विराट् शब्द का उल्लेख शासक के एक विरुद के रूप में किया गया है ।[2] जैन ग्रन्थ आचारांग सूत्र[3] तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र[4] में वैराज्य शब्द का प्रयोग शासन-प्रणाली के अर्थ में किया गया है । कौटिल्य के अनुसार यद्यपि इस शासन-पद्धति में जनता के विचारों की प्रधानता (प्रकृतिचित्त-ग्रहणापेक्षी) होती है, तथापि इसके प्रति जनता की उदासीनता एवं अनुत्तरदायित्व और इसकी असुरक्षित स्थिति के कारण यह गर्हित होती है । "वैराज्य' में प्रजाजन यह सोचकर कि सम्पत्ति मेरी नहीं है, सम्पत्ति का अपहरण (अपवाह) करते हैं, बेंच देते हैं अथवा विरक्त होकर वैराज्य-क्षेत्र का परित्याग करते हैं । "नैतन्मम्" इससे ज्ञात होता है कि वैराज्य शासन-पद्धति में साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा नहीं थी । वास्चपति गैरोला ने किसी राजा द्वारा संचालित नहीं अपितु प्रजा द्वारा संचालित शासन-युक्त देश को ही वैराज्य की संज्ञा प्रदान की है । उनके अनुसार यह लोकतंत्रीय व्यवस्था थी और उसका संचालन लोकसभा द्वारा होता था ।[5] किन्तु इसका कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है । आल्तेकर महोदय ने भी वैराज्य का अर्थ उस गणतंत्र के रूप में किया है, जिसमें कोई राजा नहीं होता था ।[6] किन्तु विजय बहादुर राव[7] एवं हरिहरनाथ त्रिपाठी[8] ने वैराज्य को अराजक स्थिति का बोधक माना है ।

---

1. डॉ० विजयबहादुर राव—पूर्वोक्त, पृ० 167.
2. "राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नपः ।
   य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ।।" म०भा०, शा० प० 68.54.
3. आचाराङ्ग सुत्तम् (जैकोबी द्वारा सम्पादित) पृ० 83· वेराज्जानि, इत्यादि—हिन्दू पालिटी, पृष्ठ 84 पर उद्धृत ।
4. "वैराज्यन्तु प्रकृतिचित्तग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत इत्याचार्याः । नेति कौटिल्यः । वैराज्ये तु जीवतः परस्पराच्छिद्यनैतन्ममेति मन्यमानः कर्षयत्यपवाहयति । पण्यं वा करोति । विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति" । अर्थशास्त्र 8.2. श्री शामशास्त्री ने यहाँ प्रयुक्त 'वैराज्य' शब्द का अर्थ उस विदेशी शासन के रूप में किया है, जिसकी स्थापना उस देश को पराभूत करने के पश्चात् हुई हो जिसका राजा अभी भी जीवित हो । वही, पृ० 83 पाद टिप्पणी में उद्धृत ।
5. वाचस्पति गैरोला—वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ० 444.
6. स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 38.
7. वही, पृ० 167.
8. प्राचीन भारत में राज्य एवं न्यायपालिका, पृ० 7.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यथार्थतः वैराज्य के प्रसंग में "राजाविहीन" और अराजक स्थिति में कोई अन्तर नहीं है । इस "राजाविहीन" स्थिति का हम अवान्तरकालीन ऐसे गणराज्यों से तादात्म्य नहीं कर सकते हैं, जिनमें राजा नहीं हो, सरदारों का वर्ग अथवा प्रजा के प्रतिनिधि किसी न किसी रूप में राज-संचालन करते हों । अपितु यह 'राजाविहीन' स्थिति ऐसी है, जिसमें साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा तथा वैवाहिक संस्था का अभाव है । इस प्रकार साम्पत्तिक तथा कौटुम्बिक विधि का भी जन्म नहीं हुआ था । इसलिए दण्ड संहिता की भी उत्पत्ति नहीं हो पायी थी ।

इस प्रकार हिन्दू और बौद्ध परंपरायें स्पष्टतः और अनेकशः वर्णन करती हैं उस वैराज्य स्थिति का जिससे 'राज्य' और 'राजपद' की उत्पत्ति तथा दण्डसंहिता का जन्म हुआ । यह वैराज्यतंत्र वस्तुतः आदिम तंत्र है ।

वैराज्यः साम्पत्तिक स्वत्व और दण्ड—विधान

वैराज्य और अराजक स्थिति के तादात्म्य के लिए विशेषतः अवधारणीय है कि कौटिल्य वैराज्य के वर्णन में कहता है कि साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा के अभाव में वैराज्य के निवासी 'नैतन्मम्' यह सोचते हुए सम्पत्ति को छोड़ देते हैं, बेंच देते हैं अथवा विरक्त होकर वैराज्यक्षेत्र का परित्याग करते हैं ।[1] महाभारत में अराजक स्थिति के वर्णन में 'ममेदमिति लोकेऽस्मिन् न भवेत् सम्परिग्रहः' म० भा० शान्तिपर्व, 68.15 का उल्लेख कर प्रायः कौटिलीय अर्थशास्त्र की ही शब्दावली का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार रामायण में 'नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्" अयोध्या काण्ड 67.31 का उल्लेख भी उपर्युक्त स्थिति का बोध कराता है । साथ ही महाभारत[2] तथा रामायण[3] आदि ग्रन्थ अराजक स्थिति में भार्या-विहीन समाज की स्थिति बतलाते हैं । उत्तर कुरु और उत्तर मद्र में वैराज्य की स्थिति का ज्ञान हमें ऐतरेय ब्राह्मण से होता

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र 8.2.
2. "ममेदमिति लोकेऽस्मिन् न भवेत् सम्परिग्रहः ।
   न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ।।
   विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ।।" शा० पर्व 68.15.
3. "अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके ।
   इदमत्याहितं चान्यत् कुतः सत्यमराजके ।।" वा० रा०, अयो० का० 67.11.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है ।[1] महाभारत से हमें उत्तर कुरु[2] और उत्तरमद्र[3] की महिलाओं में व्याप्त शिथिलाचार का प्रमाण मिलता है । वैराज्य स्थिति में इस प्रकार राजा और धर्म के न होने पर दण्ड का अनस्तित्व था । दण्डसंहिता अराजक स्थिति के बाद प्रारंभ हुई ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वैराज्य एवं अराजक स्थिति दोनों समान हैं, क्योंकि दोनों में दण्ड, राजा, धर्मसंहिता, साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा, विवाह-संस्कार तथा कौटुम्बिक व्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण अर्थात् चातुर्वर्ण-व्यवस्था का अभाव था ।

महाभारत में अराजक स्थिति के अनेकशः उल्लेख मिलते हैं । शान्तिपर्व में कहा गया है कि प्रारंभ में राज्य, राजा, दण्ड और दाण्डिक के अभाव में सारी प्रजा धर्म के द्वारा परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करती थी ।[4] सभी मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे । कुछ दिनों के बाद सब लोग पारस्परिक संरक्षण के कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे । पुनः उन पर मोह छा गया और कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से शून्य होने के कारण उनके धर्म का नाश हो गया ।[5] परिणामस्वरूप उनका जीवन नारकीय हो गया । महाभारत, रामायण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण में अराजक राज्य के दोषों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है तथा परिवार एवं सम्पत्ति की असुरक्षा की बात

---

1. ऐ० ब्रा० 8.3.14.

2. "यत्र नार्यः कामचारा भवन्ति" म० भा० 12.102.26 (बम्बई संस्करण)
"अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने ।
कामचारविहारिण्यः स्वतंत्राश्चारुहासिनि ।।4
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् ।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत् ।।5
प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः ।
उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि दृश्यते ।।6 म० भा० 1.128.

3. "वासांस्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्य विमोहिताः ।
मैथुनेऽसंयताश्चापि यथा कामवशाश्च ताः" ।। वही, 8.40.35-36.

4. "न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ।।" वही, 59.14.

5. वही, 59.15-16.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बार-बार दुहरायी गयी है ।[1] महाभारत में कहा गया है कि सदा उन्नति की इच्छा करने वाले देश को अपनी रक्षा के लिए किसी को अवश्य राजा बना लेना चाहिए क्योंकि जिनके राज्य में अराजकता है, उनके धन और स्त्रियों पर उन्हीं का अधिकार बना रहे, यह सम्भव नहीं है ।[2] अराजकता की स्थिति में स्वतंत्र व्यक्ति को दास बना लिया जाता है और स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है ।[3]

यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत् में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घर-बार कोई भी ऐसा संग्रह संभव नहीं हो सकता जिसके लिए कोई कह सके कि यह मेरा है, सब ओर सबकी सम्पत्ति का लोप हो जाता है ।[4] इसी प्रकार यदि राजा रक्षा न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकार के रत्न लूट ले जांय ।[5]

रामायण में भी अराजक राज्य की स्थिति का इसी प्रकार वर्णन किया गया है । राजा-विहीन राज्य में न तो पुत्र पिता के वश में रहते हैं और न तो पत्नी पति के वश में रहती है ।[6] न तो धन अपना रह जाता है और न तो पत्नी ही अपनी रह जाती है । इस प्रकार राज्य में महान् भय बना रहता है ।[7] अराजक राज्य में किसी मनुष्य की कोई भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती । जैसे जल की मछलियाँ एक दूसरे को खा जाती हैं, वैसे ही

1. महाभारत, शा० प०, अध्याय 68, वाल्मीकीय रामायण, अयोध्या काण्ड, अध्याय 67, एवं विष्णु धर्मोत्तर पुराण, द्वितीय खण्ड, अध्याय 11 (श्रीजगदीशलाल शास्त्री द्वारा लिखित—पोलिटिकल थाट, इन दी पुराणाज़, पृ० 120-21) पर उद्धृत ।
2. "तस्मा राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छताः ।
   न धनार्थो न दरार्थस्तेषां येषामराजकम् ।।" शा० प० 67.12.
3. "अदासः क्रियते दासो ह्रियते च बलात् स्त्रियः" वही, 67.15.
4. "ममेदमिति लोकेऽस्मिन् न भवेत् सम्परिग्रहः ।
   न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ।।
   विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ।।" वहीं, 68.15.
5. शा० प०, 68.16.
6. "नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे" । अयो० का० 67.10.
7. "अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके ।
   इदमत्याहितं चान्यत् कुतः सत्यमराजके ।।" वही, 67.11.
   यहाँ तुलनीय है—'अराजकेहि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्" मनु० 7.3.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अराजक राज्य के लोग सदा एक दूसरे को खाते, लूटते-खसोटते रहते हैं ।[1] महाभारत में भी अराजक राज्य में व्याप्त मात्स्यन्याय की स्थिति का उल्लेख किया गया है ।[2]

इस प्रकार अराजक राज्य में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते रहते हैं ।[3] प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जाती है । यज्ञ दानादि क्रियायें लुप्त हो जाती हैं । ऐसे राज्य में न तो वर्षा होती है और न तो देवता ही निवास करते हैं ।[4] वैवाहिक जीवन-यापन करने की सम्भावना समाप्त हो जाती है[5] और लोगों में व्यभिचार के प्रति कोई घृणा-भाव नहीं रह जाता । कृषि नष्ट हो जाती है, व्यापार समाप्त हो जाता है, धर्म विलुप्त हो जाता है और तीनों वेदों का कहीं पता नहीं चलता ।[6] चतुर्दिक् अन्याय और अत्याचार फैल जाता है, वर्णसंकर सन्तानें उत्पन्न होने लगती हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र में अकाल पड़ जाता है ।[7] इसीलिए विष्णु धर्मोत्तरपुराण में कहा गया है कि अराजक राष्ट्र में कन्या का विवाह नहीं करना चाहिए ।[8] महारभारत में इस प्रकार के राज्य की निन्दा की गयी क्योंकि इसमें धर्म की व्यवस्था नहीं हो पाती और लोग परस्पर एक दूसरे को लूटते-खसोटते हैं ।[9]

---

1. "नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
   मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ।" अयो० का० 67.31.
2. "राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः ।
   जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ।।
   अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
   परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ।।"—शा० प० 67.16-17.
3. "अराजके जनपदे दोषा जायन्ति वै सदा" । म० भा०, आ० प० 41.27.
4. "अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजानाथा विनश्यति ।
   नश्यन्ति क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता" । वही, 104.44.
5. "न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्" । शा० प० 68.22.
6. "न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः ।
   मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत् ।।" वही, 68.21.
7. "अनयाः सम्प्रवर्तेरन् भवेद् वै वर्णसंकरः ।
   दुर्भिक्षमाविशेद् राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत्" ।। वही, 68.29.
8. "अराजकेषु राष्ट्रेषु नैव कन्या प्रदीयते" । विष्णुधर्मोत्तर पुराण, श्री जगदीशलाल शास्त्री द्वारा लिखित 'पोलिटिकल थाट् इन दी पुराणाज़, पृ० 120 पर उद्धृत ।
9. "अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते ।
   परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ।।" शा० प० 67.3.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धनवान सुरक्षित नहीं रहते, कृषि एवं गोरक्षा से जीवन-यापन करने वाले वैश्य अपना द्वार खोलकर सो नहीं पाते ।[1] स्वभावत: यज्ञ करने वाले द्विज और कठोर व्रत का पालन करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण उन बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते जिनमें सभी ऋत्विज्, और सभी यजमान होते हैं ।[2] इस प्रकार पापपूर्ण अराजकता से बढ़कर कोई दूसरा पाप नहीं है ।[3] इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य को अराजक राज्य में निवास नहीं करना चाहिए ।[4]

महाभारत में दण्ड और राजा में सादृश्य दिखाया गया है । दण्ड की अनुपस्थिति में भी अराजक राज्य के प्राय: सभी दोषों के उपस्थित होने की सम्भावना व्यक्त की गयी है । महाभारत में कहा गया है कि दण्ड ही समस्त प्रजा पर शासन करता है । दण्ड ही उनकी सब ओर से रक्षा करता है । सबके सो जाने पर भी दण्ड जागता रहता है । इसीलिए विद्वान् पुरुषों ने दण्ड को ही धर्म कहा है ।[5] दण्ड ही धर्म, अर्थ और काम का रक्षक है, इसलिए इसको त्रिवर्ग रूप कहा जाता है ।[6] दण्ड से ही धान्य और धन की रक्षा होती है ।[7] दण्ड के ही भय से मनुष्य परस्पर एक दूसरे को खा नहीं जाते । यदि दण्ड रक्षा न करे तो लोग घोर अन्धकार में डूब जायँ ।[8] संसार में कुछ लोग राजदण्ड के भय से, कुछ यमदण्ड के भय से, कुछ लोग परलोक के भय से और बहुत से लोग परस्पर एक दूसरे के भय से पाप नहीं करते हैं । इस प्रकार सब कुछ दण्ड में ही प्रतिष्ठित हैं ।[9]

---

1. नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
   शेरते विवृतद्वाराः कृषि गोरक्षजीविनः ।।" अयो० का० 67.18.
2. अयो०का० 67.13.
3. "न हि पापात् परतरमस्ति किंचिदराजकात्" । शा० प० 67.7.
4, "नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये" । वही, 67.5
5. "दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
   दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डें धर्मं विदुर्बुधाः" ।। वही, 15.2.
6. "दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप ।
   कामं संरक्षते दण्ड स्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ।।" वही, 15.3.
7. "दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते" । वही, 15.3.
8. "दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम् ।
   अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डेन पालयेत् ।।" वही, 15.7.
9. वही, 15.5-6.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

चारों आश्रमों के निवासी दण्ड के भय से ही अपने-अपने मार्ग पर स्थिर रहते हैं ।[1] संसार में यदि दण्ड का भय न रहे तो सारी प्रजा नष्ट हो जाय । जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं वैसे ही प्रबल जीव दुर्बल जीवों को अपना आहार बना लेते हैं ।[2] इस प्रकार सारी प्रजा दण्ड पर टिकी हुई है और मनुष्यों का इहलोक और स्वर्गलोक दण्ड पर ही प्रतिष्ठित है ।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त दोषों का निराकरण राजा के अस्तित्व एवं उसके द्वारा किये गये दण्ड के सम्यक् प्रयोग में निहित था । अतः महाभारतकार का निर्देश है कि मनुष्य को भार्या के परिग्रह एवं धन के संग्रह के पूर्व राजा की प्राप्ति करनी चाहिए क्योंकि लोकरक्षक राजा के न होने पर न तो भार्या ही सुरक्षित रह सकती है और न तो धन ही ।[4] मनु के अनुसार अराजक राज्य में सर्वत्र व्याप्त भय से समस्त लोगों की रक्षा के लिए ही ईश्वर ने राजा की रचना की ।[5]

वैराज्य : कामचार एवं विवाह-संस्था का अभाव

महाभारत में मद्रदेश की सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति को किसी राजाविहीन एवं दण्डविहीन राज्य की सामाजिक और धार्मिक स्थिति की तरह शिथिल चित्रित किया गया है । कर्ण ने शल्य को कुदेशज और पापदेशज कहकर प्रकारान्तर से मद्र देश को कुदेश और पापदेश की संज्ञा प्रदान की है ।[6] मद्रनिवासियों के घरों में पिता, पुत्र, माता, सास, श्वसुर, मामा, बेटी, दामाद, भाई, नाती, पोते, अन्यान्य अतिथि और दास-दासी, ये सभी अपनी इच्छानुसार एक दूसरे से मिलते हैं । परिचित अपरिचित सभी स्त्रियाँ सभी पुरुषों से सम्पर्क स्थापित करती हैं और गोमांस सहित मदिरा पीकर रोती,

1. "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ।।" वही, 15.12.
2. म० भा०, शा० प० 15.30.
3. "दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डेविदुर्बुधाः ।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोको यं सुप्रतिष्ठतः ।।" वही, 15.43.
4. "राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ।।" वही, 57.41.
5. "अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत प्रभुः ।" मनु० 7.3.
6. म० भा० कर्ण प० 40.16-17.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हँसती, गाती, असंगत बातें करतीं तथा काम-भाव से किये जाने वाले कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। जिनके यहाँ सभी स्त्री-पुरुष एक-दूसरे से काम-सम्बन्धी प्रलाप करते हैं तथा जिनके पापकर्म सर्वत्र विख्यात हैं, उन मद्रनिवासियों में कैसे धर्म स्थापित हो सकता है।[1]

अन्यत्र मद्रदेश के बारे में कहा गया है कि वहाँ सब नारियाँ अपनी इच्छा से पुरुषों से मिलती हैं, शराब से मस्त होकर अपने कपड़े फेंक कर नाचती हैं, मैथुन में किसी प्रकार का संयम अथवा बन्धन नहीं रखतीं, जिसके पास चाहती हैं, चली जाती हैं।[2] इसी प्रकार मद्रदेश में वर्ण-व्यवस्था के लोप का भी उल्लेख महाभारत में किया गया है। कहा गया है कि गांधार, मद्र और वाहीक देशों में एक ही कुल में कुछ लोग ब्राह्मण और कुछ लोग स्वेच्छाचारी वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले होते हैं।[3] इसका तात्पर्य यह है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था एवं परिवार नामक संस्था यहाँ कालान्तर में व्यवस्थित हुईं। हमें ज्ञात है कि परिवार एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना का राज्य के विकास में अनिवार्य योग रहा है।[4] अथर्ववेद में वर्णित अराजक स्थिति का उत्तर कुरु और उत्तर मद्र में दीर्घकाल तक विद्यमान रहना असम्भव नहीं प्रतीत होता। इस अराजक स्थिति में सार्वजनिक समस्याओं पर जनपद की सम्पूर्ण जनता विचार करती होगी। सम्भवतः इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में महाभिषेक के प्रसंग में वैराज्य के लिए सम्पूर्ण जनपद के अभिषेक की बात कही गयी है।

इस प्रकार के वैराज्य जनपद के अवशेष ईसा पूर्व चतुर्थ शती में भी उपलब्ध थे, जिसका निश्चयात्मक साक्ष्य सिकन्दर के साथ भारत आये हुए यवन लेखक देते हैं। स्ट्रेबो 'म्युसिकनस' जनपद के प्रसंग में लिखता है—"Peculiar to them is the fact that they have a common kind of Laconian common mess where they eat in public and use as food the meat of animals taken in the chase, and they do not use gold or silver, although they have mines"[5].

1. वही, 40.25-28.
2. वही, 40.35-36.
3. "भवन्त्येक कुले विप्राः प्रसृष्टाः कामचारिणः।
गान्धारा मद्रकाश्चैव वाहीकाश्चाल्पचेतसः" ॥ वही, 45.8.
4. राकहिल—दी लाइफ आफ दी बुद्ध, पृ० 4-7, उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, एक अध्ययन, पृ० 167 पर उद्धृत।
5. आर० सी० मजूमदार—दी क्लासिकल एकाउण्ट्स आफ इंडिया, पृ० 261-62.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इससे स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त जनपद के निवासियों में साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा का अभाव था। स्ट्रैबो के इस कथन "And that instead of slaves they use young men in the vigour of life, as the Cretans use Aphamiotae and the Laconians the Helots"[1]. से उनमें सामाजिक स्तरीकरण अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अभाव का हमें ज्ञान होता है। और इसी प्रकार उसके इस उल्लेख "and that they make no accurate study of the of sciences except that of medicine, for they regard too much training in some of them as wickedness; for example military science and the like and that they have no process at law except for murder and outrage, for it is not in one's power to avoid suffering these, whereas the contents for contracts is in the power of each man himself, so that he is required to endure it if anyone breaks faith with him, and also to consider carefully who should be trusted and not to fill the city with law-suits"[2]. से उक्त जनपद में दण्ड संहिता की अनुपस्थिति का भी हमें ज्ञान प्राप्त होता है।

इस प्रकार साम्पत्तिक स्वत्त्व की अवधारणा, सामाजिक स्तरीकरण अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था और दण्ड संहिता के अभाव में उपर्युक्त जनपद का वैराज्य जनपद होना निश्चयात्मक रूप से सिद्ध होता है।

अतः स्पष्ट होता है कि 'वैराज्य' शब्द का तात्पर्य उस अराजक स्थिति अथवा राजा-विहीन स्थिति से था, जिसमें दण्ड, धर्म संहिता, साम्पत्तिक स्वत्व की अवधारणा, विवाह-संस्कार, कौटुम्बिक व्यवस्था तथा सामाजिक स्तरीकरण का सर्वथा अभाव था।

1. तत्रैव,
2. तत्रैव,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट तृतीय

प्रशासन आदि कारणों से ग्रामों के अवान्तरकालीन विकास का विवरण

प्रशाशन के आधार पर ग्रामों का निर्माण :

कौटिल्य ने प्रशासनिक निपुणता के लिए राजा को अपने सम्पूर्ण राज्य में ग्रामों को बसाने की सलाह दी है। इस कार्य के लिए उसने दो उपाय बतलाये हैं—(1) विदेशियों को अनुप्रेरित करके नये ग्रामों में बसाना तथा (2) स्वदेशवासियों की अतिरिक्त जनसंख्या को नये ग्रामों में बसाना।[1] कौटिल्य के अनुसार राजा को नये ग्रामों को बसाने वाले व्यक्तियों को अन्न, पशु और स्वर्ण आदि प्रदान कर प्रोत्साहित करना चाहिए। इतना ही नहीं वरन् उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए अन्न के चतुर्थांश को स्वर्ण देकर खरीदना चाहिए तथा शेष उत्पादन को उनके भरण-पोषण एवं बीज के लिए छोड़ देना चाहिए।[2] कौटिल्य ने ग्रामों की जनसंख्या और उनके विस्तार की सीमा भी निश्चित की है। उनके अनुसार प्रत्येक ग्राम में शूद्र जाति के कम से कम एक सौ और अधिक से अधिक पाँच सौ परिवारों को बसाना चाहिए तथा इसकी सीमा एक क्रोश अथवा दो क्रोश की होनी चाहिए।[3]

प्राचीन भारत में कभी-कभी सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी विभिन्न

---

1. "भूतपूर्वमभूतपूर्वम् वा जनपदं परदेशाय वाहनेन स्वदेशाभिष्यन्द वमनेन वा निवेशयेत्।" अर्थशास्त्र (शामशास्त्री), पृ० 45.
2. "धान्यपशुहिरण्यादि निविशमानाय दद्यात्। चतुर्थमंशं धान्यानां बीजभक्त शुद्धं च हिरण्येन क्रीणीयात्।" तत्रैव, पृ० 271.
3. "शूद्रकर्षकप्रायं कुल शतावरं पंचशतकुलपरं ग्रामं क्रोशाद्विक्रोश सीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्।" तत्रैव, पृ० 45. 'क्रोशद्विक्रोश सीमानम्' की व्याख्या दो अर्थों में की जा सकती है। पहला, ग्राम की सीमा का विस्तार एक क्रोश से दो क्रोश तक होनी चाहिए। दूसरा, एक ग्राम और दूसरे ग्राम की सीमा में एक क्रोश अथवा दो क्रोश का अन्तर होना चाहिए। डॉ० शामशास्त्री ने पहले अर्थ को स्वीकार किया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्रामों को बसाया जाता था । उम्मग्ग जातक से ज्ञात होता है कि सामरिक अभियान के लिए प्रस्थान करने के पूर्व राजा ने अपने वषट् नामक मंत्री को अभियान-मार्ग पर विभिन्न ग्रामों को बसाने का आदेश दिया था । ग्रामों को विधिवत् बसाने के बाद मंत्री ने राजा से तुरत सामरिक अभियान के लिए प्रस्थान करने का आग्रह किया । उसने राजा को सूचित किया कि सात योजन का अन्तर देकर अभियान-मार्ग पर सैकड़ों ग्रामों को बसा दिया गया है । इन सभी ग्रामों को वस्त्राभूषणों, पेय और खाद्य पदार्थों से परिपूर्ण कर दिया गया है । समरस्थली में सहायक होने वाले हाथियों, अश्वों तथा विविध प्रकार के वाहनों को भी इन ग्रामों में रखा गया है, जिससे आवश्यकतानुसार इन ग्रामों में विश्राम किया जा सके और अनुपयोगी हाथियों, अश्वों तथा अन्य पशुओं और वाहनों को बदलकर उपयोगी हाथियों, अश्वों एवं वाहनों को कार्य में लगाया जा सके ।[1]

राजस्व के आधार पर ग्रामों का वर्गीकरण :

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें राजस्व के आधार पर ग्रामों के वर्गीकरण की सूचना मिलती है । इसमें समाहर्ता नामक राजकीय कर्मचारी को सुझाव दिया गया है कि प्रथमतः उसे सम्पूर्ण राज्य को चार जनपदों में विभाजित करना चाहिए । तत्पश्चात् इन जनपदों को ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ वर्गों में विभाजित करना चाहिए । इन वर्गों में आने वाले ग्रामों का विभाजन इनके वैशिष्ट्य के आधार पर करना चाहिए । यथा कर-मुक्त ग्राम (परिहारकम्), राजकीय सेना में सैनिकों को भेजने वाले ग्राम (आयुधीयम्), राज्य को धान्य, पशु, स्वर्ण, कच्चामाल देने वाले ग्रामों, राजकीय प्रासादों तथा अन्य राजकीय भवनों के निर्माण में कार्य करने वाले श्रमिकों को कर के रूप में देने वाले ग्राम (धान्य पशुहिरण्यकुप्यविष्टि प्रतिकरम्) में विभक्त करना चाहिए तथा उनका विस्तृत विवरण रखना चाहिए ।[2] इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने पाँच-पाँच अथवा दस-दस गाँवों के केन्द्रों के प्रबन्ध का भार गोप नामक अधिकारी को दिया है । उसने गोप को समाहर्ता के आदेशानुसार इन केन्द्रों का प्रबन्ध करने का निर्देश दिया है ।[3] शाम-

1. उम्मग्ग जातक—यतवर द्वारा अनूदित, पृ० 187.
2. "समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यम कनिष्ठ विभागेन ग्रामाग्रं परिहार-कमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टि प्रतिकरमिदमेतावदिति निबन्धयेत् ।।' अर्थशास्त्र, (शामशास्त्री), पृ० 158.
3. "तत्प्रदिष्टः पंचग्रामीं दशग्रामीं गोपश्चिन्तयेत्" । तत्रैव

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शास्त्री ने गोप नामक अधिकारी को ग्रामों का आय-व्यय अधिकारी माना है ।[1] इस अधिकारी से इस बात की भी अपेक्षा की जाती थी कि वह दस, बीस अथवा चालीस कुलों की स्त्रियों एवं पुरुषों की न केवल जाति, गोत्र, नाम और व्यवसाय का ही विवरण रखे वरन् उनकी आय-व्यय का भी विवरण रखे ।[2]

कौटिल्य ने निर्देश दिया है कि करदाता कृषक को अपनी भूमि का विक्रय अथवा आधान किसी करदाता के ही हाथ करना चाहिए। इसी प्रकार ब्राह्मण को अपनी ब्रह्मदेय-भूमि का विक्रय अथवा आधान किसी ऐसे ब्राह्मण के हाथ करनी चाहिए जो ब्रह्मदेय-भूमि-युक्त हो । इतना ही नहीं वरन् करदाता कृषकों को केवल ऐसे ही ग्रामों में निवास करना चाहिए जिसमें करदाता निवास करते हों । ऐसा न करने वालों को पूर्व साहस दण्ड देना चाहिए ।[3]

प्राचीन काल में कुलीन और विद्वान् ब्राह्मणों को दिये जाने वाले ग्राम-दान को अग्रहार,[4] मंगल अथवा ब्रह्मदेय के नाम से पुकारा जाता था । कौटिल्य ने राजा को निर्देश दिया है कि वह ब्राह्मणों को सोम उगाने, धार्मिक ज्ञान की प्राप्ति तथा तपस्या करने के लिए न केवल अरण्यों और वनों को प्रदान करे वरन् भयंकर पशुओं से उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करे । ऐसे अरण्यों और वनों का नामकरण उनमें निवास करने वाले ब्राह्मणों के गोत्रों पर होना चाहिए ।[5] ध्रुवसेन द्वितीय के नोगवा शासन में 'उदम्बर अग्रहार' का उल्लेख किया गया है ।[6] उदम्बर सम्भवतः ब्राह्मणों का एक गोत्र था । यहाँ यह ध्यातव्य है कि भवभूति ने अपने को उदम्बर तथा विदर्भ का निवासी कहा है । 'अगस्तिक

---

1. तत्रैव
2. "दशकुलीं गोपो विंशति कुलीं चत्वारिंशतक्लींवा । स तस्यां स्त्री पुरुषाणाम् जाति गोत्रनाम् कर्मभिः जंघागमाय व्ययौ च विद्यात् ।।"
   कौ० अर्थ० 55 प्रकरण, नागरिक प्रणिधिः, 2 अधिकरण०, 36 अध्याय ।
3. "करदाः करदेष्वाधानं विक्रयं वा कुर्युः । ब्रह्मदेयिका ब्रह्मदेयिकेषु, अन्यथा पूर्व साहस दण्डः, करदस्य वाऽकरदग्रामं प्रविशतः" अर्थशास्त्र (शामशास्त्री), पृ० 195.
4. (अ) "क्षेत्रोत्पन्नशस्यादुद्धृत्य ब्राह्मणोद्देशेन स्थाप्ये धान्यादौ गुरु कुलादावृत्त-ब्रह्मचारिणे देये क्षेत्रादौ, ग्रामभेदेच ।। (बाचस्पत्यम्)
   (ब) मानसार, अध्याय 9, मयमतम, अध्याय 9.1.61.
5. "प्रदिष्टाभय स्थावर जंगमानि च ब्राह्मणेभ्यो ब्रह्म सोमारण्यानि तपो वनानि च, तपस्विभ्यो गोत्र (त) पराणि प्रयच्छेत् ।" अर्थशास्त्र, पृ० 48.
6. ई० आई० viii. 193, 198.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अग्रहार' का उल्लेख ध्रुवसेन द्वितीय के नोगवा शासन में किया गया है।[1] सम्भवत: इस ग्राम में अगस्त्य गोत्रीय ब्राह्मण निवास करते थे। इसी प्रकार रत्नदेव द्वितीय के सरखो शासन से ज्ञात होता है कि सोणभद्र ग्राम का नामकरण महासोण नामक ब्राह्मण के नाम पर हुआ था ।[2] देवताओं के मन्दिरों, यज्ञ-स्थलों एवं तीर्थ स्थानों की ही भाँति राज्य की ओर से उन अरण्यों में भी कृषि-कर्म नहीं किया जाता था जहाँ ब्राह्मण निवास करते थे अथवा सोम के पौधे उगाते थे।[3] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'अकरदा: परत्र वसन्तो भोगमुपजीवयेयु:'[4] का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ है कि कर न देने वाले कृषक दूर रहते हुए भी अपनी भूमि पर अपना स्वामित्व (भोगम्) बनाये रख सकते थे। सम्भवत: यह एक विशेषाधिकार था, जो केवल अकरद व्यक्तियों को ही प्राप्त था। कर्ण के गोहरवा शासन से ज्ञात होता है कि राजाओं द्वारा प्रदत्त अग्रहार दान में न केवल कृषि-योग्य भूमि वरन् गोचर भूमि, वन, वन में उत्पन्न होने वाली लकड़ियाँ, आम और मधूक के वृक्ष तथा लोहा एवं नमक जैसे खनिज पदार्थ भी होते थे।[5] अग्रहार दान में दिये जाने वाले ग्रामों की सीमाओं का भी प्राय: उल्लेख किया जाता था।[6] सम्भवत: सामान्य नागरिकों द्वारा दिये जाने वाले ब्रह्मदेय दानों पर शासकों की अनुमति आवश्यक होती थी।[7] रुद्रदास के सिरपुर शासन में हम रुद्रदास को भट्टि वैद्य द्वारा प्रदत्त घोटकतल क्षेत्र पर अपनी सहमति देते हुए देखते हैं।[8]

पालि-साहित्य में 'गाम',[9] 'गामक',[10] 'द्वारग्राम'[11], और पच्चन्तग्राम'[12] का उल्लेख

1. तत्रैव
2. सी० आई० आई०, खण्ड 4 भाग, 2, पृ० 429.
3. "ब्रह्मसोमारण्य देव यजन पुण्य स्थान वर्जा: स्थलप्रदेशा:"।
   अर्थशास्त्र (शामशास्त्री), पृ० 192.
4. तत्रैव, पृ० 195.
5. सी० आई० आई०, खण्ड 4, भाग 1, पृ० 258-59.
6. तत्रैव
7. स्वामीदास का इन्दौर शासन, सी० आई० आई०, खण्ड 4, भाग 1, पृ० 7.
8. तत्रैव, पृ० 10-11.
9. दीघनिकाय I, 193, मज्झिम निकाय I, 189, II, 40, अंगुत्तर निकाय IV 365, सुत्तनिकाय I, 4.
10. जातक I, 283, 378, II 68.
11. जातक III, 33.
12. जातक I, 478, II 76; IV, 326, 31

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विभिन्न प्रकार के ग्रामों के अर्थ में किया गया है। 'गाम' और 'गामक' शब्दों का प्रयोग सम्भवत: उनके स्वरूप के आधार पर क्रमश: साधारण और क्षुद्रग्राम के अर्थ में किया जाता था। 'द्वारगाम' से तात्पर्य उन ग्रामों से था जो नगरों के द्वार पर स्थित थे। इनमें से अधिकांश औद्योगिक ग्राम होते थे।[1] बौद्ध[2] और जैन[3] ग्रन्थों से नगरों के बाहर औद्योगिक ग्रामों की स्थिति की सूचना मिलती है। इन ग्रामों में निवास करने वाले कर्मी अपने उत्पादनों से नगर-निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। जातक ग्रन्थों में उल्लिखित द्वारगामवासी वढ्ढ़की[4], द्वारगामवासी कुम्भकार[5] आदि शब्द ऐसे ही द्वार-ग्रामवासियों की ओर संकेत करते हैं। 'पच्चन्तगाम' संस्कृत भाषा के 'प्रत्यन्तग्राम' शब्द का पालि रूप है। ऐसे ग्राम राज्य की सीमा पर स्थित होते थे। अपनी विचित्र स्थिति के कारण ऐसे ग्रामों को जहाँ एक ओर बाह्य आक्रामकों के आक्रमण का शिकार होना पड़ता था वहीं दूसरी ओर डाकुओं के लूट का भी शिकार होना पड़ता था। परिणाम-स्वरूप ऐसे ग्रामों के निवासियों का जीवन सर्वथा असुरक्षित रहता था। इसीलिए ये 'प्रत्यन्तग्राम' प्राय: विनष्ट हो जाते थे। सम्भवत: ऐसे ही विनष्ट ग्रामों के लिए पालि साहित्य में 'पुराणगामत्थान' (पुराणग्रामस्थान) शब्द का प्रयोग किया गया है।[6]

छठी शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य हमें ग्राम-सन्निवेश की दो मुख्य विशेषताओं का दर्शन होता है। प्रथमत:, औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप अनेक ऐसे औद्योगिक ग्रामों का उदय हुआ जिनमें प्राय: एक ही व्यवसाय अथवा शिल्प के लोग निवास करने लगे। इसीलिए जातकों में हमें बढ़इयों[7], लोहारों,[8] तथा शिकारियों[9]

---

1 मदन मोहन सिंह—पूर्वोक्त, पृ० 194.
2. ई० जी०, जातक चार, 207 में नगर के बाहर स्थित बढ़ई ग्राम की सूचना मिलती है।
3. उवासगदसाव IV, 184 में पलासपुर नगर के बाहर 500 कुम्भकारों के ग्राम की स्थिति का उल्लेख किया गया है।
4. जातक IV, 344.
5. जातक III, 376.
6. महावग्ग III, 10, जातक I, 478; II 102.
7. जातक II 18, 405, IV 159, 207.
8. जातक III 281.
9. जातक IV, संख्या 501, रोहन्तमिग जातक, पृ० 257. (इ० बी० कावेल द्वारा सम्पादित) तथा जातक द्वितीय खण्ड, संख्या 159, मोर जातक, पृ० 202 (भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा सम्पादित एवं हिन्दी-साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आदि के ग्रामों की स्थिति की सूचना मिलती है। सत्तिगुम्ब जातक से ज्ञात होता है कि डाकुओं की अलग बस्ती होती थी, जिसे 'डाकूगाम' के नाम से पुकारा जाता था। ऐसे ग्रामों में कभी-कभी पाँच-पाँच सौ डाकू निवास करते थे।[1] सूचीजातक[2] से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वाराणसी के समीप एक सहस्र परिवार वाले लोहारों का एक ग्राम था। ये लोहार कृषि-कर्म में प्रयुक्त होने वाले औजार यथा छुरी, कुल्हाड़ी, फरसा और फाल आदि बनाते थे। अन्यत्र 'चोर गामक'[3] का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में 'आरामिकगाम'[4] का भी उल्लेख मिलता है। विनय पिटक से ज्ञात होता है कि मगधराज सेनिय बिम्बिसार के मंत्री ने सम्मान्य पिलिन्दवक्ख को पाँच सौ आरामिक प्रदान किया। इन आरामिकों के निवास हेतु एक नये ग्राम का निर्माण कराया गया और उस ग्राम को आरामिक ग्राम की संज्ञा दी गई। इस ग्राम को 'पिलिन्दगाम' भी कहा गया क्योंकि इन आरामिकों को पिलिन्दवक्ख के प्रति समर्पित किया गया था।[5]

द्वितीयतः, इस काल में कुछ ऐसे ग्रामों का विकास हुआ जिनमें केवल एक ही जाति के लोग निवास करते थे। उदाहरणार्थ ब्राह्मणग्राम[6] का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में अनेकत्र मिलता है। कोकल्लदेव के गौरी प्रस्तर अभिलेख में बाह्मन गाँव[7] (ब्राह्मण-ग्राम) का उल्लेख किया गया है जिसका तादात्म्य प्रोफेसर मिराशी ने गुर्गी के सात मील पश्चिम

---

1. जातक चतुर्थ खण्ड संख्या 502 सत्तिगुम्ब जातक, पृ० 268 (ई० बी० कावेल द्वारा सम्पादित)।
2. जातक तृतीय खण्ड, संख्या 387, सूची जातक पृ० 435. (भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा सम्पादित)।
3. जातक IV, 430. 'पब्बतस्स उपरिवाते चोरगामको अहोसि'।
4. महावग्ग VI, 15.4.
5. सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट, विनय टेक्स्ट्स, द्वितीय भाग, पृ० 63. (मैक्समूलर द्वारा सम्पादित)।
6. बौद्ध-साक्ष्यों से हमें मगध राज्य के विभिन्न ब्राह्मण ग्रामों की स्थिति की सूचना मिलती है, यथा—खानुमत (दीघनिकाय, I, 127), अम्बसण्डा (दीघनिकाय II, 263-64) एकनाल (दी बुक आफ किण्ड्रेड सेइंग्स–I, 216) पंचशाला (दी बुक आफ किण्ड्रेड सेइंग्स, I. 143) तथा सांडिल्य (जातक II, 293, IV 276) आदि। मदन मोहन सिंह—पूर्वोक्त, पृ० 195 की पाद-टिप्पणी में उद्धृत।
7. सी० आई० आई०, खण्ड 4, भाग–I, पृ० 227.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्थित 'ब्रह्मपुरी' नामक स्थान से किया है। इसी प्रकार व्याघ्रसेन के सूरत शासन से 'पुरोहित पल्लिका'[1] (पुरोहित-ग्राम) की स्थिति की सूचना मिलती है। पृथिवीदेव द्वितीय के रतनपुर प्रस्तर अभिलेख में 'वह्मणीग्राम' का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य स्पष्टतः 'ब्राह्मणीग्राम' से ही है।[2] प्राचीन भारत में क्षत्रिय ग्राम[3] एवं बनिया-ग्राम[4] की स्थिति की भी सूचना मिलती है। महाभारत के कर्ण पर्व में वैश्यों के ऐसे ग्रामों[5] की स्थिति का उल्लेख किया गया है, जो समृद्धिशाली तथा धनसम्पन्न थे, जिनके आस-पास जंगलों की स्थिति थी एवं जल की सुविधा थी। ऐसे ग्रामों में किसी भी प्रकार का भय न था।

बौद्ध ग्रन्थों में 'चाण्डालगाम'[6] और 'निषादगाम'[7] की स्थिति का भी उल्लेख किया गया है। सामजातक से पाँच सौ परिवारों वाले निषाद-ग्राम की स्थिति की सूचना मिलती है। ये निषाद मछली मार कर अपना जीविकोपार्जन करते थे तथा स्वयं भी मत्स्य-भोजी होते थे।[8] ये लोग प्रायः नदियों के किनारे निवास करते थे तथा लोगों को नावों से पार उतार कर अपना जीविकोपार्जन करते थे।[9]

---

1. तत्रैव, पृ० 28—"श्रीमहाराज व्याघ्रसेनः सर्व्वानेवेक्षक्याहारान्तर्गत पुरोहित पल्लिका प्रतिवासीनोस्समाज्ञापयति।"
2. सी० आई० आई०, खण्ड 4, भाग 2, पृ० 510.
3. वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 85-86; मदन मोहन सिंह—पूर्वोक्त, पृ० 195 पर उद्धृत।
4. तत्रैव
5. अन्यदस्मै वरं दद्यां वैश्यग्रामांश्चतुर्दश।
   सुस्फीतान् धनसंयुक्तान् प्रत्यासन्नवनोदकान्॥
   अकुतोभयान् सुसम्पन्नान् राजभोज्यांश्चतुर्दश॥ महाभारत, चतुर्थ खण्ड, कर्ण पर्व, अध्याय 38, पृ० 3874, श्लोक 17 (गीताप्रेस)।
6. जातक IV, 200, 376, 390, महावंश V, 41 में पाटलिपुत्र के पूर्व में स्थित एक चाण्डाल ग्राम की स्थिति की सूचना मिलती है।
7. जातक II, 36; IV, 413; VI, 71.
8. जातक, षष्ठ खंड, संख्या 540, सामजातक, पृष्ठ 82 (भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा सम्पादित)।
9. जातक, तृतीय खण्ड, संख्या 376, आवारिय जातक, पृ० 390. (भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा सम्पादित)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जातकों में छोटे-छोटे ग्रामों को 'मुचलगाम' कहा गया है। ऐसे ग्रामों में तीस-तीस परिवारों के लोग निवास करते थे।[1] मनुष्यालय चन्द्रिका नामक ग्रन्थ में उस ग्राम को "एकभोग" कहा गया है जिसमें एक ही पितृसत्तात्मक कुल का कुलपति अपने परिवार के सदस्यों एवं भृत्यों के साथ निवास करता था।[2] जातक ग्रन्थों से ऐसे बड़े ग्रामों की स्थिति की भी हमें सूचना मिलती है जिसमें पाँच सौ अथवा एक सहस्र परिवारों के लोग निवास करते थे।[3]

प्राचीन भारत में कुछ ग्रामों का नामकरण उनकी भौगोलिक स्थिति के आधार पर होता था। उदाहरणार्थ पर्वतों के समीप स्थित ऐसे ग्रामों के नाम के अन्त में पर्वत अथवा गिरि शब्द का उल्लेख किया जाता था। एहवूल चन्तमूल के नागार्जुनी कोण्ड अभिलेख में 'स्यन्दक पर्वत' ग्राम का उल्लेख किया गया है, जो स्यन्दक पर्वत के समीप स्थित था।[4] नागार्जुनी कोण्ड से ही प्राप्त होने वाले एक अन्य अभिलेख में 'श्री पर्वत' नामक स्थान का उल्लेख किया गया है। फाहियान के भारत आगमन के समय भी यह स्थान इसी नाम से ज्ञात था किन्तु उस समय तक यह उजड़ चुका था और वहाँ कृषि-कर्म भी नहीं होता था।[5] इसी प्रकार नागार्जुनी कोण्ड से प्राप्त होने वाले एक अन्य अभिलेख[6] में 'चड़क पर्वत' नामक ग्राम के एक निवासी का उल्लेख किया गया है। कतिपय ग्रामों के अन्त में पर्वत की ही भाँति गिरि शब्द का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ जग्गयपेट अभिलेख[7] में

---

1. जातक, 1.199 "तस्मिं च गामे तिंस एवं कुलानि होन्ति"।
2. "एक विप्रवरागारतत् कुटुम्बसमन्वितम् ।
   एकभोगं भवेद् ग्रामं तद्भृत्यायतनावृतम् ।।"
   मनुष्यालय चन्द्रिका, अध्याय 3 श्लोक 19.
3. 'कुल सहस्सवासे केवट्ट गामे" ई० जी०, जातक I, 234।
   इसी प्रकार समुद्दवाणिज जातक से हमें बढ़इयों के हजार परिवारों वाले महाग्राम की स्थिति की सूचना मिलती है। ये बढ़ई चारपाई, पीढ़ा अथवा घर बनाने के उपलक्ष में अपने ग्राहकों से अग्रिम मजदूरी भी लेते थे। जातक, चतुर्थ खण्ड, सं० 466, समुद्दजातक, पृ० 358 (भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा सम्पादित)।
4. ई० आई० XXXV. 13.
5. जे० ए० एच० एस०, X, 110, 111.
6. ई० आई०, XX, 25
7. जयनाथ का खोह शासन, ई० आई० XVII, 63.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'वलगिरि' अथवा 'वेलगिरि' नामक एक ग्राम का उल्लेख मिलता है जिसमें स्तूपों का निर्माण हुआ था । आपस्तम्ब विरचित चरणव्यूह भाष्य में 'मोरगिरि' नामक स्थान का उल्लेख है, जिसका तादात्म्य भरहुत अभिलेख में उल्लिखित 'मोर गिरि' के साथ किया जा सकता है ।[1]

प्राचीन कालीन अभिलेखों से हमें वन में स्थित कतिपय ग्रामों की सूचना मिलती है । मधुवर्मा के तालगनि प्रस्तर अभिलेख में 'सौम्यवन' नामक स्थान का उल्लेख मिलता है ।[2] साँची स्तूप अभिलेख[3] में 'मधुवन' नामक स्थान का उल्लेख मिलता है जिसका तादात्म्य साँची के समीप स्थित मधुवनी ग्राम से किया गया है ।

इसी प्रकार एक बौद्ध मूर्ति अभिलेख[4] में 'देवपार वन' नामक एक स्थान का उल्लेख किया गया है । भट्टिसोम के नन्दसा अभिलेख[5] में 'तपसाश्रमवन' का उल्लेख किया गया है । नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इस वन में तपस्वी निवास करते थे । कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से अरण्य जन-जातियों तथा श्रोत्रिय ब्राह्मणों के वन में निवास करने की सूचना मिलती है । कौटिल्य ने समाहर्ता के कर्मचारियों को आदेश दिया है कि वे सामान्यतया अरण्य-जात श्रोत्रिय ब्राह्मणों की सम्पत्ति न छूयें । यदि किसी कारणवश उनकी सम्पत्ति का क्रय करना राज्य हित में आवश्यक ही हो तो उन्हें अधिक मूल्य देकर खरीदना चाहिए तथा कृषकों को ग्रीष्मकालीन फसल को उत्पन्न करने के लिए उत्प्रेरित करना चाहिए ।[6] जातक ग्रन्थों से भी जंगलों के किनारे जंगल-रक्षकों की बस्ती की स्थिति की सूचना मिलती है । ये जंगल-रक्षक मजदूरी लेकर लोगों को जंगल पार कराते थे । कभी-कभी जंगलों में विचरने वाले चोरों और डाकुओं से इन रक्षकों की मुठभेड़ हो जाया करती थी । ये रक्षक अपनी जान की बाजी लगाकर जंगल पार करने वाले लोगों और व्यापारियों की रक्षा करते थे ।[7]

---

1. आई० ए०, XXI, 234.
2. ई० आई० VII, 105.
3. इ० आई० II 98.
4. ए० एस० एस० आई० 1, पृ० 90 (पाद टिप्पणी) ।
5. ई० आई० XXVII, 267.
6. "अरण्यजातं श्रोत्रियस्वं च परिहरेत् । तदप्यनुग्रहणे क्रीणीयात् । तस्याकरणे वा समाहर्तृपुरुषा ग्रीष्मे कर्षकाणामुद्वायं कारयेयु: ।।" शामशास्त्री, कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, पृ० 271.
7. जातक, तृतीय खण्ड, संख्या 265, खुरप्प जातक, पृ० 61. (भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा सम्पादित) ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कतिपय अभिलेखों से नदियों के किनारे बसे हुए कुछ ग्रामों की सूचना मिलती है। शंकरगण प्रथम के छोटी देवरी प्रस्तर अभिलेख[1] में 'छोटी देवरी' नामक स्थान का उल्लेख मिलता है जो जबलपुर जनपद में केन नदी के तट पर स्थित है। इस स्थान को देवरी नाम से इसलिए पुकारा जाता है क्योंकि वहाँ तीस-चालीस देव-मन्दिर हैं। ईशानवर्मन् के हरहा अभिलेख[2] में 'गर्गराकोट' नामक स्थान के एक निवासी का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः यह घाघरा नदी के तट पर स्थित कोई कोट था, जिसका अपना सैनिक महत्त्व था। सोधदेव के कहला शासन में उल्लिखित 'धुलियाघट्ट' नामक स्थान का तादात्म्य प्रोफेसर मिराशी ने घाघरा के तट पर स्थित दोहरीघाट नामक स्थान से किया है।[3] बौद्धग्रन्थ विनय पिटक[4] में उरुवेला ग्राम का उल्लेख मिलता है, जो नेरांगरा नदी के तट पर स्थित था। नेरांगरा नदी का तादात्म्य बिहार के लिलयन अथवा फाल्गु नदी के साथ किया गया है।

नदियों पर बसे हुए ग्रामों के अन्त में 'तीर्थ' शब्द का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ भट्टिसोम के नन्दसा यूप अभिलेख में 'कोटितीर्थ' नामक एक पवित्र स्थान का उल्लेख किया गया है।[5] किन्तु प्रसंग से यह स्पष्ट नहीं होता कि यहाँ वाराणसी, मथुरा तथा कुरुक्षेत्र आदि में स्थित किस कोटितीर्थ की ओर संकेत है। विष्णुवर्धन प्रथम के सतारा शासन[6] में 'अलन्दतीर्थ' नामक एक अन्य पवित्र स्थान का उल्लेख किया गया है जो भीमरथी नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित था। बा० गं० शास्त्री ने इस ग्राम का तादात्म्य पूना से बारह मील उत्तर इन्द्रायणी नदी के उत्तरी तट पर स्थित अलन्दी नामक स्थान के साथ किया है। इन्द्रायणी भीमानदी की एक सहायक नदी है।[7] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि फ्लीट महोदय ने 'अलन्दतीर्थ' नामक इस स्थान का तादात्म्य शिवगंगा नदी के तट पर स्थित अलन्दह नामक स्थान के साथ किया है। शिवगंगा नीरा नदी की एक

1. सी० आई० आई०, खण्ड 4, भाग I, पृ० 176.
2. ई० आई० XIV, 118.
3. सी० आई० आई०, खण्ड 4, भाग 2, पृ० 385.
4. सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट, खण्ड XIII, विनय टेक्स्ट्स, भाग-1, पृ० 74 (मैक्स-मूलर द्वारा सम्पादित)।
5. ई० आई०, XVII, 267.
6. आई० ए०, XIX, 309, जे० बी० बी० आर० ए० एस० II, पृ० 11.
7. जे० बी० बी० आर० ए० एस० II, पृ० 2.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सहायक नदी है। नीरा पुनः भीम नदी में जाकर मिल जाती है।[1] इसी प्रकार माधववर्मन् के खानपुर शासन[2] में 'तम्बतीर्थ' नामक स्थान का उल्लेख किया गया है, जो कृष्णा नदी के दाहिने तट पर स्थित था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक और संग्रहण नामक जन-सन्निवेशों की स्थापना का निर्देश दिया गया है।

स्थानीय :

कौटिल्य के अनुसार स्थानीय नामक जनसन्निवेश की स्थापना आठ सौ ग्रामों के मध्य में करनी चाहिए।[3] क्षीरस्वामी की टीका में भी आठ सौ ग्रामों के मध्य में स्थित जन-सन्निवेश को स्थानीय कहा गया है।[4] कौटिल्य के अनुसार ग्रामों की सीमा एक कोस से लेकर दो कोस तक होनी चाहिए।[5] तथा उन ग्रामों में निवास करने वाले शूद्र परिवारों की संख्या एक सौ से लेकर पाँच सौ तक होनी चाहिए।[6] अतः आठ सौ ग्रामों वाला यह भाग निश्चय ही कोई बड़ा राजनीतिक भाग रहा होगा। डॉक्टर उदय नारायण राय का मत है कि अर्थशास्त्र में स्थानीय शब्द का प्रयोग जनपद के प्रधान अधिष्ठान के रूप में हुआ है जिसमें कई सौ ग्राम सम्मिलित होते थे।[7] मयमतम् के अनुसार स्थानीय की स्थापना किसी नदी के किनारे अथवा किसी पर्वत की तलहटी में की जाती थी। इसमें राजाओं के भवन स्थित होते थे तथा बहुत से रक्षक निवास करते थे।[8]

1. फ्लीट—डाइनेस्टीज आफ कन्नरीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० 357.
2. ई० आई० XXVII. 317.
3. "अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयम्"। अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री), पृ० 46.
4. "तिष्ठन्त्यस्मिन्नित्यष्टशतग्रामीमध्ये स्थानीयम्"।
   अमरकोश, (शर्मा-संपादित), पृ० 74
5. "क्रोशद्विक्रोशसीमानम्"। अर्थशास्त्र (शामशास्त्री) पृ० 45.
6. "शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामम्"। अर्थशास्त्र (शामशास्त्री) पृ० 45.
7. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 23.
8. "नद्याद्रि पार्श्वयुक्तं नृपभवनयुतम् सबहुरक्षम्।
   यन्नृपति स्थापितम् तत् स्थानीयं समुद्दिष्टम्।। मयमतम्, अ० 10.
   मानसार में कहा गया है कि यहाँ रक्षकों की एक सेना रहती थी (बहुरक्षसमायुक्तम्) जिसके कारण यहाँ के निवासी बहुत अधिक सुरक्षा एवं सुख का अनुभव करते थे (बहु-

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्भवत: इसी सैनिक आवश्यकता के कारण कौटिल्य ने राजाओं को आठ सौ ग्रामों के मध्य 'स्थानीय' नामक सन्निवेश की स्थापना के लिए निर्देश दिया ।

द्रोणमुख :

कौटिल्य के अनुसार 'द्रोणमुख' नामक जनसन्निवेश को चार सौ ग्रामों के मध्य में बसाना चाहिए ।[1] अत: स्पष्ट है कि यह सन्निवेश स्थानीय से छोटा था । मयमतम् के अनुसार द्रोणमुख नदी तथा समुद्र के सन्धि-स्थल अर्थात् नदी के मुहाने पर स्थित होता

सुखावहम्) । मानसार, अध्याय 10 (प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 23 पर उद्धृत) ।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में स्थानीय शब्द का प्रयोग पुलिस चौकी के अर्थ में किया जाने लगा । इस बात की पुष्टि पुलिस चौकी के लिए सम्प्रति प्रयुक्त होने वाले थाना शब्द से होती है । वर्तमान समय के थाना को हम प्राचीन स्थानीय का परवर्ती रूप मान सकते हैं क्योंकि आज भी थाना (पुलिस चौकी) की स्थापना कई सौ गाँवों के मध्य होती है ।

सोलहवीं शताब्दी में लिखे जाने वाले ग्रन्थ 'शिल्परत्न' से स्थानीय नामक जन-सन्निवेश के सम्बन्ध में हमें जो सूचनाएं मिलती हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह रक्षकों का स्थान था (राजबलान्वितम्) तथा सीमा की रक्षा से सम्बन्धित प्रमुख अधिकारी भी वहीं निवास करता था—

"पर्व्वतस्याथवा नद्या: पार्श्वे राजबलान्वितम् ।

राष्ट्रस्यान्तकपालाय वा तत् स्थानीयं विदुर्बुधा:" ।। शिल्परत्न, अध्याय 5.

अत: इस सन्निवेश को राष्ट्र के अन्तपालों का मुख्यालय माना जा सकता है । श्री विनोद विहारी दत्त के अनुसार स्थानीय शब्द का प्रयोग भारतीय इतिहास के उस अशान्त एवं अव्यवस्थित काल की ओर संकेत करता है, जिस समय न तो राजाओं की सम्प्रभुता ही स्थायी थी और न तो उनकी सम्प्रभुता का क्षेत्र ही निश्चित था । सम्भवत: उन्हें राज्य में होने वाले विद्रोहों को शान्त करने के लिए अपने रक्षकों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थानों पर निवास करना पड़ता था । इस प्रसंग में टाउन प्लानिंग इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 281 द्रष्टव्य है ।

---

1. "चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखम्" । अर्थशास्त्र (शामशास्त्री), पृ० 45.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

है और इसमें वणिगादि विशेष रूप से निवास करते हैं।[1] मयमतम् के अनुसार विभिन्न ग्रामों के मध्य में स्थित अधिक जनसंख्या वाले द्रोणमुख को विडम्ब के नाम से पुकारा जाता था।[2] मानसार में इसके लिए द्रोणान्तर शब्द का प्रयोग किया गया है (द्रोणान्तर-मुदाहृतम्)। इस ग्रन्थ के अनुसार यह जन-सन्निवेश समुद्रतट के पास नदी के मुहाने पर स्थित होता है (समुद्रतटनीयुक्तम्)। इसमें वणिगादि नाना जाति के लोग निवास करते हैं (वणिग्भिःसहनानाभिर्जनैर्युक्तं जनास्पदम्) तथा ये लोग वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हैं (क्रय-विक्रय संयुक्तम्)।[3] सार्थवाह में कहा गया है कि यहाँ जलमार्ग तथा स्थल मार्ग दोनों से माल उतरते हैं।[4] द्रोणमुख शब्द का प्रयोग ऐसे ही जन-सन्निवेश के अर्थ में कालान्तर तक किया जाता रहा।[5] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि द्रोणमुख नामक जन-सन्निवेश अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण जलमार्ग तथा स्थलमार्ग दोनों से सम्बद्ध होता था।

खार्वटिकः

कौटिल्य के अनुसार खार्वटिक की स्थापना दो सौ ग्रामों के मध्य में करनी चाहिए।[6] अर्थशास्त्र में इस सन्निवेश के लिए पाठान्तर के साथ खार्वटिक तथा कार्वटिक दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।[7] क्षीरस्वामी ने इस सन्निवेश के लिए खर्वट शब्द का उल्लेख किया है और इसको चार सौ ग्रामों का प्रधान केन्द्र माना है।[8] विष्णुपुराण में खार्वटिक

---

1. "नद्याब्धिदक्षिणादक्षिणमार्गं वणिगादि संयुक्तम्।
सर्व्वजनावास यद् द्रोणमुखं प्रोक्तमाचार्य्यैः॥" मयमतम्, अ० 10.
2. "ग्रामसमीपे जनतालयमिदमुदितं विडम्बमिति"॥ मयमतम्, अ० 10.
3. मानसार, अ० 10. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 20 पर उद्धृत।
4. सार्थवाह, पृ० 163.
5. "सोलहवीं शताब्दी में लिखे जाने वाले 'शिल्परत्न' में द्रोणमुख को नदी तथा समुद्र के संगम पर स्थित बतलाया गया है, जो दूरस्थ द्वीपों से अपने पोतों सहित आये हुए व्यापारियों से परिपूर्ण रहता है।" तदेवाब्धेश्च नद्याश्च संगमागतपोतकम्।
द्वीपान्तरवणिग्जुष्टं विदुर्द्रोणीमुखं बुधाः॥ शिल्परत्न, अ० 5.
6. "द्विशतग्राम्या खार्वटिकम्"। अर्थशास्त्र (शामशास्त्री), पृ० 45.
7. तत्रैव
8. "खर्वटश्चतुःशतग्रामाणां संग्रहस्थानम्"। अमरकोश, (शर्मा सम्पादित) पृ० 354.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के लिए खर्वट शव्द आता है ।[1] वात्स्यायन ने खर्वट को सज्जनाश्रय अर्थात् सभ्य नागरिकों के निवास के अनुकूल कहा है ।[2] समरांगण-सूत्रधार में इसे कर्वट कहा गया है, तथा इस सन्निवेश में नगरतत्त्व को अधिक बतलाया गया है ।[3] शिल्पशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में इसे प्राय: खर्वट ही कहा गया है तथा इसके सन्निवेश पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है । मानसार के अनुसार खर्वट प्राय: पर्वत के सन्निकट स्थित होता है (परित: पर्वतैर्युक्तम्) तथा इसमें विभिन्न जाति के लोगों के गृह विद्यमान रहते हैं (नानाजातिगृहैर्वृतम्) ।[4] मयमतम् में भी खर्वट को पर्वत के समीप स्थित तथा सब प्रकार के लोगों से परिपूर्ण बताया गया है ।[5] शिल्परत्न के अनुसार जिस प्रकार ग्रामों के मध्य में खेट की स्थापना की जाती है उसी प्रकार राष्ट्र के मध्य में खर्वट की स्थापना करनी चाहिए ।[6] डॉ० उदय नारायण राय के अनुसार पर्वत के समीप स्थित होने के कारण खर्वट को सुरक्षा का एक प्राकृतिक साधन मिल जाता था और इसीलिए इसमें प्राय: सभी वर्गों के लोग निवास करते थे ।[7]

संग्रहण :

कौटिल्य द्वारा वर्णित जन-सन्निवेशों में यह सबसे छोटा जन-सन्निवेश था क्योंकि इसकी स्थापना दस ग्रामों के मध्य में की जाती थी ।[8] सम्भवत: यह वर्तमान समय की पंचायती अदालत जैसे किसी राजनीतिक भू-भाग का मुख्य केन्द्र था ।

खेट, खेड, खेटक अथवा खेडा :

प्राचीन ग्रन्थों में इन शव्दों का प्रयोग ग्राम-भेद के अर्थ में किया गया है । भागवत में खेड शव्द का प्रयोग जन-सन्निवेश के अर्थ में किया गया है ।[9] पाणिनि ने खेट को गर्हित

---

1. "कृत्रिमं च तथा दुर्गंपुरखर्वटकादिकम्" । विष्णुपुराण, अंश 1, अ० 6, पं० 36.
2. कामसूत्र, पृ० 42, सूत्र 2 (प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 24 पर उद्धृत) ।
3. "कर्वटं नगरोपमम्" समरांगण सूत्रधार, पृ० 86.
4. मानसार, अध्याय 10.
5. "परित: पर्वतयुक्तं खर्वटकं सर्वजनसहितम्" । मयमतम्, अध्याय-10.
6. "ग्रामयो: खेटकं मध्ये राष्ट्रमध्येतु खर्वटम्" । शिल्परत्न, अध्याय 5.
7. पूर्वोक्त, पृ० 25.
8. "दशग्रामी संग्रहेण संग्रहणं स्थापयेत्" । अर्थशास्त्र, (शामशास्त्री), पृ० 45.
9. भागवत, 1.6.11.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नगर कहा है ।[1] अमरकोश में इसे 'कुत्सित' तथा 'अवद्य' स्थान कहा गया है ।[2] मेदिनी ने भी खेट शब्द का प्रयोग ग्राम के एक प्रकार के अर्थ में किया है ।[3] मानसार में कहा गया है कि इस सन्निवेश में प्रायः शूद्र ही निवास करते हैं ।[4] इसी प्रकार मयमतम् में कहा गया है कि इसमें शूद्रों की संख्या अधिक होती है ।[5] शिल्परत्न से ज्ञात होता है कि खेट की स्थिति प्रायः ग्रामों के मध्य में होती थी ।[6] डॉ० राय के अनुसार ग्रामों के मध्य में स्थित होने के कारण खेट में ग्राम-तत्त्व का भी सम्मिश्रण रहता होगा ।[7] डॉ० अग्रवाल का मत है कि आधुनिक खेड़ा शब्द इसी खेट से निकला है ।[8] इस स्थान पर उल्लेखनीय कि पश्चिमी जिलों में खेड़ा नामक कई गांव मिलते हैं । इससे भी यही प्रमाणित होता है कि प्राचीन खेट (जिसका अपभ्रंश खेड़ा है) कोई महत्त्वपूर्ण सन्निवेश नहीं था ।[9]

पल्ली :

अमरकोश में पल्ली शब्द का अर्थ आभीरों की बस्ती, गोपग्राम तथा कुटिग्राम बतलाया गया है ।[10] घोष शब्द को पल्लि शब्द का पर्यायवाची बतलाया गया है ।[11] पाणिनि ने भी घोष शब्द का प्रयोग आभीरों की पल्ली के अर्थ में किया है ।[12] उनके अनुसार पशुओं के रहने के स्थान को 'गोष्ठ'[13] अथवा 'व्रज'[14] कहा जाता था ।[15] सम्प्रति पूर्वी उत्तर प्रदेश

1. "चेटखेट कटुकाण्डं गर्हायाम्" । अष्टाध्यायी, 6.2.126.
2. अमरकोश, (शर्मा सम्पादित), पृ० 247.
3. "खेटः कफे ग्रामभेदे चर्मण्यस्त्रयर्वति त्रिषु" (इति मेदिनी) । अमरकोश, (दीक्षित सम्पादित) पृ० 367.
4. "शूद्रालय समन्वितम्·······खेटमुक्तं पुरातनैः" । मानसार, अ० 5.
5. "शूद्रैरधिष्ठितम् यन्नद्यचलावेष्टितं तु तत्खेटम्" । मयमतम्, अ० 10.
6. "ग्रामयोः खेटकम् मध्ये" । शिल्परत्न, अध्याय 5.
7. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० 25.
8. पाणिनि कालीन भारत, पृ० 78.
9. पूर्वोक्त, पृ० 25.
10. "आभीराणां पल्लिः"—"कुटिग्रामकयोः पल्लिः", "गोपग्रामस्य" । अमरकोश, (दीक्षित सम्पादित), पृ० 123, श्लोक 19.
11. "घोष आभीरपल्ली स्यात्" । तत्रैव
12. अष्टाध्यायी 2.85.
13. वही, 2.18.
14. वही, 3.119.
15. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० 142.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में पशुओं के रहने के स्थान के लिए प्रयुक्त होने वाला 'घोठा' शब्द सम्भवत: 'गोष्ठ' शब्द का ही परवर्ती और अपभ्रंश रूप है। डॉ० अग्रवाल के अनुसार पशुओं के रहने के स्थान को चारा की आवश्यकता और उसकी सुलभता के आधार पर प्राय: बदल दिया जाता था।[1] पाणिनि ने उस स्थान को 'गोष्ठीन्' की संज्ञा प्रदान की हैं, जहाँ पर पहले कभी गोष्ठ की स्थिति रही हो और बाद में किसी कारणवश वहाँ से गोष्ठ हटा दिया गया हो। इसी प्रकार जिस क्षेत्र का चारा पशुओं द्वारा समाप्त कर दिया जाता था, उसको 'आशितङ्गवीन,[2] की संज्ञा दी जाती थी। ऐसी स्थिति में गोपालक अपने पशुओं सहित उस क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में चले जाते थे। पाणिनि ने ऐसे क्षेत्र को 'गोष्पददेश'[3] की संज्ञा प्रदान की है। उन्होंने महावनों को 'अगोष्पद' कहा है, क्योंकि सघन होने के कारण पशु चरने के निमित्त इसमें प्रवेश नहीं कर पाते थे।

इस प्रसंग में प्राचीन नगरों के द्वारों के लिए प्रयुक्त 'गोपुर' शब्द का विवेचन मनोरंजक है। हावेल महोदय के अनुसार यह शब्द दो शब्दों गो (गाय) और पुर (नगर अथवा किला) के योग से बना है। अत: इसका सम्मिलित अर्थ हुआ गायों का नगर, किला अथवा स्थान। श्री हावेल महोदय ने इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि ग्राम को चतुर्दिक् आवेष्टित करने वाली कृषि-भूमि एवं गोचर-भूमि पर ग्राम के सम्पूर्ण कृषकों का सामूहिक स्वामित्व होता था। ये कृषक वहाँ सामूहिक रूप से कृषि-कर्म करते थे तथा अपने पशुओं को चराते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'ग्राम्य पशु संघ'[4] का उल्लेख किया गया है जिसके आधार पर डॉक्टर अग्रवाल ने गोचर-भूमि पर सम्पूर्ण ग्रामवासियों के सामूहिक स्वामित्व का अनुमान लगाया है।[5] श्री हावेल के अनुसार जंगली पशुओं तथा वाह्य आक्रामकों से ऐसी कृषि-भूमि तथा गोचर-भूमि की रक्षा का भार मुख्य रूप से गोपालकों तथा ग्राम-द्वारों के गुम्बदों पर नियुक्त रक्षकों के ऊपर होता था।[6] इसीलिए कालान्तर में जिस प्रकार पशुओं के रहने के स्थान के लिए प्रयुक्त घोष शब्द का अर्थ आभीरों की पल्ली के रूप में विकसित हुआ ठीक उसी प्रकार गायों की रक्षा के निमित्त निर्मित होने वाले द्वारों को गोपुर के नाम से पुकारा जाने लगा। कालान्तर

1. अष्टाध्यायी 2.18.
2. वही, 4.7.
3. वही, 1.145.
4. वही, 1.2.72.
5. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल—इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० 142.
6. बी० बी० दत्त—पूर्वोक्त, पृ० 99-100.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में हिन्दू-मन्दिरों के द्वारों को भी इसी नाम से पुकारा जाने लगा। शब्द कल्पद्रुम के लेखक ने 'गोपुर' शब्द की व्युत्पत्ति गुप् धातु (रक्षा करने के अर्थ) से की है। डॉ० दत्त ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गोपुर शब्द का प्रयोग उस रक्षात्मक भवन के लिए किया जाता था जो भारतीय आर्यों के नगर का ही एक भाग होता था।[1]

कथासरित्सागर में पल्लि शब्द का प्रयोग स्वल्पग्राम के अर्थ में किया गया है।[2] वाचस्पत्यम् में पल्लि शब्द का अर्थ क्षुद्रग्राम, कुटग्राम तथा गेह बताया गया है। हेमचन्द्र ने 'पल्लि' शब्द का प्रयोग 'गृह गोधिका' के अर्थ में किया है। इसी प्रकार राजनिर्घण्ट के अनुसार भी पल्लि शब्द का अर्थ गृहगोधिका होता है। शब्द रत्नावली में 'पल्लि' शब्द का प्रयोग नगर-भेद के अर्थ में किया गया है—उदाहरणार्थ दक्षिण भारत में स्थित 'त्रिचनापल्लि'। कभी-कभी दूसरे प्रकार के व्यवसाय करने वालों की छोटी बस्तियों को भी पल्लि नाम से पुकारा जाता था। उदाहरणार्थ व्याघ्रसेन के सूरत शासन से ज्ञात होता है कि इक्षरकी आहार के अन्तर्गत पुरोहितों की पल्लि स्थित थी।[3]

ग्रामों की सीमा :

प्राचीन काल के ग्रामों की सीमा के निर्धारण के सम्बन्ध में हमें विभिन्न ग्रन्थों से सूचनायें मिलती हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय के ग्रामों की सीमा का विस्तार एक कोस से दो कोस तक होता था।[4] कौटिल्य के अनुसार ग्रामों की सीमा का निर्धारण नदी, पर्वत वन, गृष्टि तथा गुफाओं जैसी प्राकृतिक वस्तुओं तथा मानव-कृत भवनों की सहायता से करना चाहिए। इतना ही नहीं वरन् दो ग्रामों की सीमा के अंत में शालमली, शमी और क्षीर वृक्षों को लगाना चाहिए।[5] मनुस्मृति में भी सीमा पर बहुत दिनों तक बने रहने वाले दूधदार वृक्षों यथा—वट, पीपल, ढाक, सेमल, साल तथा ताड़ आदि के वृक्षों को लगाने की सलाह दी गयी है।[6] मनु का कथन है कि

1. तत्रैव, पृ० 100.
2 कथासरित सागर, 10.135.
3 "श्रीमहाराज व्याघ्रसेनः सर्व्वानि वेक्षक्याहारान्तर्गत पुरोहित पल्लिका प्रतिवासीनो समाज्ञापयति।" व्याघ्रसेन का सूरत शासन, सी० आई० आई०, खण्ड 4, भाग 1, पृ० 28
4. "क्रोशद्विक्रोश सीमानम्" अर्थशास्त्र, (शामशास्त्री), पृ० 45.
5. "नदी शैलवन गृष्टिदरी सेतुबन्ध शाल्मलीशमी क्षीरवृक्षानन्तेपुसीम्ना स्थापयेत्।" तत्रैव
6. मनुस्मृति, 8.246.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सीमा पर गुल्मों, बांसो और कांटेदार वृक्षों यथा शमी आदि को लगाना चाहिए क्योंकि इनके लगाने से सीमा नष्ट नहीं होती है ।[1] इसी प्रकार सीमा पर तालाब, बावड़ी, कुओं, पौसरा तथा देवालयों के निर्माण से भी दो ग्रामों के बीच की सीमा नष्ट नहीं होती है ।[2] मनु ने आगे यह भी लिखा है कि पत्थर, अस्थि, भस्म, गोबर, पकी ईंट और कोयला आदि वस्तुओं को, जो बहुत समय तक नष्ट नहीं होती हैं, घड़ों में भर कर सीमा में गाड़ देनी चाहिए ।[3] पाणिनि के अनुसार भी विभिन्न ग्रामों की सीमा का निर्धारण प्राकृतिक वस्तुओं यथा—वन, कठिन,[4] गिरि, जंगल[5] और प्रस्तर[6] के आधार पर होना चाहिए ।

दो ग्रामों की सीमा-विवाद के निपटारे के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है । मनु के अनसार दो ग्रामों के मध्य सीमा सम्बन्धी विवाद के उत्पन्न होने पर राजा को चाहिए कि ज्येष्ठ मास में जब पृथ्वी सूख जाय, चिन्हों को देख कर सीमा का निर्धारण करें ।[7] किन्तु यदि इन गुप्त अथवा प्रकट चिह्नों से भी सीमा-विवाद का निपटारा न हो सके तो साक्ष्य के आधार पर निर्णय करना चाहिए ।[8] अथवा दोनों के प्रतिनिधियों को बुलाकर सबके सामने गवाही लेकर निर्णय करना चाहिए ।[9] कौटिल्य के अनुसार पाँच अथवा दस ग्रामों के पड़ोसियों अथवा वृद्धों को प्राकृतिक अथवा कृत्रिम सीमा-चिह्नों के अधार पर निर्णय करना चाहिए ।[10] कौटिल्य के अनुसार तपोवन, चरागाह, महापथ, श्मशान, देवस्थान अथवा यज्ञस्थान के सीमा-विवाद के सम्बन्ध में इसी नियम के अनुसार निर्णय

1. "गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमी वल्ली स्थलानि च ।
   शरान्कुब्धकगुल्मांश्च यथा सीमा न नश्यति ।।" वही, 8.247.
2. वही, 8.248.
3. वही, 8.251-52.
4. अष्टाध्यायी 4.4.72.
5. वही, 7.3.25.
6. वही, 4.4.72.
7. "सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
   ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ।।" मनु० 8.4.285.
8. "यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने । साक्षि प्रत्यय एव स्यात्सीमावाद विनिर्णयः" । वही, 8.253.
9. वही, 8.254.
10. "सीमाविवादं ग्रामयोः उभयोः सामन्ता पंचग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थावरैः कृतिमैर्वा कुर्यात् ।" कौ० अर्थशास्त्र, 3 आधि० 65, प्रकरण, 9 अध्याय ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

करना चाहिए । कौटिल्य ने क्षेत्रों की सीमा के विवाद के निपटारा पर भी विचार किया है । उनके अनुसार क्षेत्र के सीमा-विवाद का निर्णय पड़ोसी ग्राम के अथवा अपने ग्राम के वृद्धों द्वारा कराना चाहिए । वृद्धों में मतैक्य न होने पर बहुमत के आधार पर सीमा-निर्धारण करना चाहिए अथवा विवाद-ग्रस्त क्षेत्र को दोनों दावेदारों के मध्य बराबर-बराबर बांट देना चाहिए । किन्तु यदि इन दोनों उपायों से काम न चले तो राजा को चाहिए कि वह सम्पूर्ण विवाद-ग्रस्त क्षेत्र को अपने अधिकार में ले ले ।[2]

1. "तेनतपोवन विवीत महापथश्मशान देवकुल यजनपुण्यस्थान विवादाव्याख्याताः ।" अर्थशास्त्र, (शामशास्त्री) पृ० 192.
2. "क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः । तेषां द्वैधीभावे यतो वहवः शुचयोऽनुमता वा ततो नियच्छेयुः । मध्यं वा ग्रह्णीयुः । तदभयं परोक्तं वास्तु राजा हरेत प्रनष्ट स्वामिकं च ।" कौ० अर्थशास्त्र, 3 अधि० 65 प्रकरण, 9 अध्याय ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

ऋग्वेद—संहिता और पद, सायण-भाष्य सहित, सम्पादक—एफ० मैक्समूलर, द्वितीय संस्करण, 1890-2.

संहिता और पद, सायण-भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933-5.

(आंग्ल अनुवाद) आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस, 1896-97.

(अनुवाद) ग्रॉसमान, लीपझिग, 1876-77.

(आंग्ल अनुवाद) एच० ओल्डेनवर्ग, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, खण्ड XLVI, ऑक्सफोर्ड, 1897.

हिन्दी ऋग्वेद—भाषान्तरकार और सम्पादक—रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रयाग, 1954.

ऋग्वेद का सुबोध भाष्य—दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, पारडी, 1958.

ऋग्वेद संहिता—भाषा-भाष्य—जयदेव शर्मा, अजमेर.

सामवेद—(आंग्ल-अनुवाद) आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस, 1893. सम्पादक—टी० वेनफे, लीपझिंग, 1848. सत्यव्रत समाश्रमी, कलकत्ता, 1873.

यजुर्वेद—वाजसनेयि-माध्यन्दिन शुक्ल-यजुर्वेद संहिता, उवट एवं महीधर-भाष्य सहित, सम्पादक—जगदीशलाल शास्त्री, प्रथम संस्करण, वाराणसी, 1971.

यजुर्वेद—भाषा-भाष्य—जयदेव शर्मा, अजमेर.

अथर्ववेद—सम्पादक—आर० रॉथ और डब्ल्यू० डी० ह्विटने, बर्लिन, 1856.

सायण-भाष्य सहित, सम्पादक—एस० पी० पण्डित, बम्बई 1895-98.

अथर्ववेद—(आंग्ल-अनुवाद) डब्ल्यू० डी० ह्विटने, संयुक्त राज्य अमेरिका, 1905.

(आंग्ल-अनुवाद) एम० ब्लूमफील्ड, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, वालूम XLII, ऑक्सफोर्ड, 1897.

(आंग्ल अनुवाद) आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस, 1916-17.

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य—दामोदर सातवलेकर, आनन्दाश्रम, पारडी, 1950.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अवेस्ता (खण्ड 1 तथा 2) वैदिक संशोधन मंडल, पूना, 1962.

(अनुवाद, खण्ड 1 तथा 2) अनुवादक—जेम्स उरमिस्टेटर, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज (पुनर्मुद्रित) 1965.

अनुवाद (खण्ड 3) अनुवादक एल० एच० मिल्स, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज, (पुनर्मुद्रित) 1965.

पहलवी टेक्ट्स—(पाँच जिल्दों में) अनुवादक, ई० डब्ल्यू० वेस्ट, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज़.

ओल्ड पर्शियन—रॉलैण्ड जी० केण्ट, न्यू हवेन, 1953.

काठक संहिता—सम्पादक—वॉन श्राडर, लीपझिग 1900-11.

तैत्तिरीय संहिता—माधव-भाष्य सहित, सम्पादक—ए० बेवर, बर्लिन, 1871-72.

मैत्रायणी संहिता—सम्पादक—वॉन श्राडर, लीपझिंग, 1881-86.

वाजसनेयी संहिता—महीधर-भाष्य सहित, संपादक—ए० बेबर, लंदन 1882. निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, 1912.

निरुक्त, व्याकरण, कोष एवं सूची-ग्रन्थ

निरुक्त—(दुर्गाचार्य की टीका सहित) सम्पादक—वी के० राजवाड़े, पूना, 1921-26.

(दुर्गाचार्य की टीका सहित), गुरु मंडल ग्रन्थमाला, कलकत्ता-1952.

(आंग्ल अनुवाद सहित) दो खण्डों, में सम्पादक लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर.

निघण्टु तथा निरुक्त—सम्पादक, लक्ष्मण सरूप,

हिन्दी भाषान्तर—सत्यभूषण योगी तथा शशिकुमार द्वारा, प्रथम संस्करण, वाराणसी, 1967.

निघण्टु तथा निरुक्त—अनूदित, निर्णय सागर, बम्बई, 1930.

(देवराज यज्वा की टीका सहित, गुरुमंडल ग्रन्थ माला, कलकत्ता-1952.

निरुक्त मीमांसा—शिवनारायण शास्त्री, प्रथम संस्करण, वाराणसी, पौष संवत् 2027 वि०=1946 ई० ।

निरुक्तसार निदर्शन—कुंवर लाल व्यास शिष्य, दिल्ली, 1978.

दी एटीमालॉजी आफ यास्क—सिद्धेश्वर वर्मा, होशियारपुर, 1953.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

व्याकरण

अष्टाध्यायी––सम्पादक, सतीशचन्द्र बसु, बनारस, 1897.

उणादि कोष––(महादेव वेदान्ती) सम्पादक, के० कुंजुनी राजा, मद्रास, 1956.

उणादि सूत्र (श्वेतवनवासी) सम्पादक––ति० रा० चिन्तामणि, मद्रास, 1933.

उणादि सूत्र––(नारायण भट्ट) सम्पादक, ति० रा० चिन्तामणि, मद्रास, 1933.

ए ग्रामर आफ दी संस्कृत लैंग्वेज––एफ० कीलहॉर्न, वाराणसी, 1970.

काम्परेटिव ग्रामर आफ दी प्राकृत लैंग्वेज––ए० पिशेल (आंग्ल अनुवाद), सुभद्र झा, वाराणसी, 1965.

दशपाद्युणादिवृत्ति––सम्पादक, युधिष्ठिर मीमांसक, वाराणसी, 1943.

पाणिनीयधातुपाठ समीक्षा––भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, वाराणसी, 1965.

पाणिनि-सूत्र-पाठ एवं परिशिष्ट तथा शब्द अनुक्रमणिका––एस० पाठक एवं एस० चित्राव, पूना, 1955.

महाभाष्य––सम्पादक, कीलहॉर्न, बम्बई, 1909.

सिद्धान्त कौमुदी––सम्पादक, भार्गव शास्त्री जोशी, शास्त्राचार्य, बम्बई, 1942.

कोष एवं सूची ग्रन्थ

अमरकोश––सम्पादक, पंडित शिवदत्त, बम्बई, 1929.
(भानुजी दीक्षित––भाष्य सहित), सम्पादक, हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, 1970.

उपनिषद्वाक्यमहाकोश––शास्त्री गजानन शम्भु साधले, वाराणसी, 1940.

उपनिषद् वाक्य कोश––(ए कॉंकोर्डेन्स टु दी प्रिंसिपल उपनिषद्स ऐण्ड दी भगवद् गीता), जी० ए० जैकब.

ए कॉनसाइज एटीमालॉजिकल संस्कृत डिक्शनरी––1-3, एम० मेरहॉफर, हेडेलवर्ग, 1956.

ए डिक्शनरी आफ सेलेक्ट सीनानीम्स इन दी प्रिंसिपल इण्डोयोरोपियन लैंग्वेजेज, सी० डी० बक, शिकागो, 1949.

ए डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स, 1-2, जी० पी० मललसेकर, लंदन, 1937-38.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

एन इण्डेक्स टु दी नेम्स इन दी महाभारत—एस० सोरेन्सन, वाराणसी, 1963.

एन्साइक्लोपीडिया आफ रेलिजन ऐण्ड एथिक्स—सम्पादक, जेम्स हेस्टिंग्स, न्यूयार्क, 1955.

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—सम्पादक, डब्ल्यू० ई० प्रीस, अमेरिका, 1968.

एन्साइक्लोपीडिया आफ सोसल साइन्सेज—सम्पादक, ई० आर० ए० सेलिग्मैन, न्यूयार्क, 1951.

ऋग्वेद-संहिता (सूची खण्ड) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना—1951.

डिक्शनरी आफ माइथोलॉजी, फोकलोर ऐण्ड सीम्बल्स—जी० जोब्स, न्यूयार्क, 1962.

दी स्टुडेन्ट्स इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी—वामन शिवराम आप्टे, वाराणसी, 1963.

दी स्टुडेन्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—वामन शिवराम आप्टे, वाराणसी, 1963.

धर्मकोश (उपनिषद् काण्ड)—संपादक, लक्ष्मणशास्त्री जोशी, सतारा, 1949.

पाइअ-सद्द-महाण्णवो—हरगोविन्द दास विक्रमचन्द्र सेठ, कलकत्ता 1928.

मीमांसा कोश—सम्पादक, केवलानन्द सरस्वती, सतारा, 1956.

हलायुध कोष—(अभिधानरत्नमाला), संपादक, जयशंकर जोशी, लखनऊ, 1967.

वर्‌ग्लेसिन्दिस वोर्टरबुक इण्डोजर्मेनिशेन स्प्राखेनवाल्दे पोकॉर्नी

वाचस्पत्यम्—संकलनकर्त्ता—तारानार्थ भट्टाचार्य, वाराणसी, 1962.

वेदिक इण्डेक्स आफ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स—1-2, ए० ए० मैक्डॉनेल ऐण्ड ए०बी० कीथ, लन्दन, 1912.

वेदिक कॉंकार्डेन्स—एम० ब्लूम्फील्ड, वाराणसी, 1964.

वेदिक बिब्लियोग्राफी—1-3, आर० एन० दांडेकर, पूना, 1973-78.

वैदिक कोश (वैदिक विषयों एवं नामों का), सूर्यकान्त, बनारस, 1963.

वैदिक पदानुक्रम-कोश (पन्द्रह खण्डों में)—विश्वबन्धु, होशियारपुर, 1955

शब्दकल्पद्रुम—सम्पादक, बरदाप्रसाद वसु एवं हरिचरण वसु, दिल्ली, 1961.

श्रौतकोश—सम्पादक, सी० जी० काशिकर, पूना, 1970.

संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—सर एम० मोनिअर विलिअम्स, ऑक्सफोर्ड, 1956.

संस्कृत वार्टरबुक—बोढलिंक एवं रॉथ

ब्राह्मण

ऐतरेय ब्राह्मण—(आंग्ल अनुवाद) सम्पादक, ए० बी० कीथ, एच० ओ० एस० XXV, कैम्ब्रिज, 1920.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सम्पादक, के० एस० आगशे, पूना, 1896.
सम्पादक, टी० आफ्रेत, वॉन, 1879.
(आंग्ल अनुवाद) हॉग, बम्बई, 1863
कौषीतकी ब्राह्मण—सम्पादक, ई० बी० कावेल, कलकत्ता, 1861
(आंग्ल अनुवाद) ए० बी० कीथ, एच० ओ० एस० XXV, कैम्ब्रिज, 1920.
गोपथ ब्राह्मण—सम्पादक, राजेन्द्र लाल मित्र, और एच० विद्याभूषण, कलकत्ता, 1872.
जैमिनीय ब्राह्मण—सम्पादक. रघुवीर और लोकेशचन्द्र, नागपुर, 1954
तैत्तिरीय ब्राह्मण—सम्पादक, राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, 1855-70.
माधव-भाष्य सहित; कलकत्ता, 1854
ताण्ड्यमहाब्राह्मण—सायण-भाष्य सहित, बनारस, 1933.
पंचविंश ब्राह्मण—सम्पादक, ए० वेदान्त, वागीश, कलकत्ता, 1869-74.
षड्विंश ब्राह्मण—सम्पादक, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1881.
शतपथ ब्राह्मण—सायण एवं हरिस्वामी—भाष्य सहित, बम्बई, 1940.
सम्पादक, ए० वेबर, लन्दन, 1924.
(आंग्ल अनुवाद), जे० एगलिंग, ऑक्सफोर्ड, 1882-1900.

उपनिषद्

ईशोपनिषद्—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, 1930.
कठोपनिषद्—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, 1930.
छान्दोग्य उपनिषद्—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, 1930.
सम्पादक, ओ० बोहत्लिंक, लीपझिग, 1889.
सम्पादक, श्रीराम शर्मा, बरेली, 1972.
तैत्तिरीय उपनिषद्—शांकर-भाष्य सहित, पंचम संस्करण, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1929.
बृहदारण्यक उपनिषद्—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, 1930.
आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना
सम्पादक, ओ० बोहत्लिंक, लीपझिग, 1889.
मैत्रायणी उपनिषद्—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई.
श्वेताश्वतर उपनिषद्—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1936.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

श्रौतसूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र—सम्पादक, आर० गार्बे, कलकत्ता, 1882-1902.

आश्वलायन श्रौतसूत्र—सम्पादक, आर० विद्यारत्न, कलकत्ता, 1864-74.
आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1917.

कात्यायन श्रौतसूत्र—सम्पादक, ए० वेबर, लन्दन, 1855.
संपादक, विद्याधर शर्मा, बनारस, 1933-37.

बौधायन श्रौतसूत्र—सम्पादक, डब्ल्यू, कैलेण्ड, कलकत्ता, 1904-23.

शास्त्रायन श्रोतसूत्र—सम्पादक, ए० हिलेब्रान्त, कलकत्ता, 1886-89.

(आंग्ल-अनुवाद) डब्ल्यू० कैलेण्ड, नागपुर, 1953.

गृह्यसूत्र

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र—सम्पादक, चिन्नस्वामी शास्त्री, बनारस, 1928.
सम्पादक, एम० विन्टरनित्ज, वियना, 1887.

आश्वलायन गृह्यसूत्र—सम्पादक, ए० जी० स्टेंज्लर, लीपझिग. 1864.
सम्पादक, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, 1923.
आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1936.

खादिर गृह्यसूत्र—सम्पादक, महादेवशास्त्री एवं एल० श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1913.

गोभिल गृह्यसूत्र—सम्पादक, एफ० नादर, डारपेट, 1884.

बौधायन गृह्यसूत्र—सम्पादक, आर० शामशास्त्री, मैसूर, 1920.
सम्पादक, डब्ल्यू० कैलेण्ड, कलकत्ता, 1904-23.

मानव गृह्यसूत्र—सम्पादक, रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री, बड़ौदा, 1926.

धर्मसूत्र

आपस्तब धर्मसूत्र—सम्पादक, जी० बूलर, बम्बई, 1892, 1894.

गौतम धर्मसूत्र—सम्पादक, स्टेंज्लर, 1876.
(अनुवाद) जी० बूलर, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट।
सम्पादक, हरि नारायण आप्टे, पुण्यास्यपत्तन, 1910.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बौधायन धर्मसूत्र—सम्पादक, ई० हुल्श, लीपझिंग, 1884.
सम्पादक, श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1907.
सम्पादक, एम० एम० ए० चिन्नस्वामी, वाराणसी, 1972.
(अनुवाद) जी० बूलर, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट ।

वाशिष्ट धर्मसूत्र—सम्पादक, ए० ए० फ्यूरर, बम्बई, 1916.
(अनुवाद) जी० बूलर, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट ।

वाल्मीकि रामायण—सम्पादक, चिन्नस्वामी शास्त्री, मद्रास, 1958.
सम्पादक, टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, 1911-13.
गीताप्रस, गोरखपुर सं० 2019.

महाभारत—मद्रास, 1934.
गीताप्रस, गोरखपुर, सं० 2021.

अग्निपुराण—सम्पादक, बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, 1966.

गरुड़ पुराण—क्षेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, 1906.

पद्मपुराण—सम्पादक, विष्णु नारायण, पूना, 1893.

मार्कण्डेय पुराण—वेंकटश्वर प्रेस, बम्बई,

वराह पुराण—सम्पादक, पं० हृषीकेश शास्त्री, कलकत्ता.

वायुपुराण—सम्पादक, राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, 1880.

विष्णुपुराण, (आंग्ल अनुवाद), एच० एच० विल्सन, कलकत्ता, 1961.
वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—क्षेमराज़ कृष्णप्रेस, बम्बई, 1934.

श्रीमद्भागवत पुराण—(अनुवाद) एस० सुब्बाराव, 1928.

स्कन्दपुराण—क्षेमराज कृष्णप्रेस, बम्बई, 1909.

नारद स्मृति—सम्पादक, यौली, कलकत्ता, 1885.

मनुस्मृति—सम्पादक, पी० एच० पाण्ड्या, बम्बई, 1913.
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1909.

याज्ञवल्क्य स्मृति—सम्पादक, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, बम्बई, 1926.
सम्पादक, नारायण शास्त्री, बनारस ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कामन्दकनीतिसार (आंग्ल अनुवाद), एम० एन० दत्त, कलकत्ता, 1896.

पतंजलि योगसूत्र (अनुवाद), रामप्रसाद, 1912.

वात्स्यायन कामसूत्र—सम्पादक, गोस्वामी, दामोदर शास्त्री, बनारस, 1919.

बृहत्संहिता (आंग्ल-अनुवाद) एन० चिदम्बर अय्यर, मदुरा, 1884.
सम्पादक, सुधाकर द्विवेदी, बनारस, 1895.

शुक्रनीतिसार (आंग्ल अनुवाद), बी० के० सरकार, इलाहाबाद।

सामान्य आधुनिक ग्रन्थ

अग्रवाल, धर्मपाल एवं अग्रवाल, पन्नालाल—भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व, लखनऊ, 1975.

अग्रवाल, वासुदेव शरण—इण्डिया ऐज़ नोट टु पाणिनि, वाराणसी, 1953.
—भारतीय कला, वाराणसी, 1965.
—कला और संस्कृति, इलाहाबाद, 1958.
—इव्यूलूशन आफ दी हिन्दू टेम्पुल ऐण्ड अदर एसेज़, वाराणसी।
—स्पार्कस फ्राम दी वैदिक फायर, वाराणसी, 1965.

अग्रवाल, पृथ्वीकुमार—पूर्ण कलश, वाराणसी, 1965.

अय्यर, के० वी० नारायण—एग्रिकल्चर ऐण्ड एलायड आर्ट्स इन वेदिक इंडिया, बंगलौर, 1919.

अल्चिन, आर०—निओलिथिक कैटिल कीपर्स आफ साउथ इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1963.

अल्चिन, आर० एण्ड ब्रिजेट—वर्थ आफ इण्डियन सिविलिजेशन, ग्रेट ब्रिटेन, 1968.

अवस्थी, गिरीशचन्द्र—वेदधरातल, लखनऊ, 1953.

आल्तेकर, अनन्त सदाशिव—एजुकेशन इन एन्श्येण्ट इण्डिया, बनारस, 1934.
—दी पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, बनारस, 1956.
—स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1958.
—हिस्ट्री आफ विलेज कम्युनिटीज इन वेस्टर्न इण्डिया, बम्बई, 1927.

आप्टे, वी० एम०—सोसल ऐण्ड रेलिजस लाइफ इन दी गृह्यसूत्राज, अहमदाबाद, 1939.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आयंगर, के० वी० आर० रंगस्वामी––आस्पेक्ट्स आफ इण्डियन एकोनामिक थॉट, वाराणसी, 1934.

आयंगर, पी० टी० एस०––लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, मद्रास, 1912.

आयंगर, एस० के०––इव्यूलूशन आफ हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीच्यूशन्स इन साउथ इण्डिया, मद्रास, 1931.

आयन्स, वैरोनिका––इण्डियन माइथोलॉजी. लन्दन, 1967.

उपाध्याय, बलदेव––आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ, वाराणसी, 1962.

एञ्जिलस, एफ०––दी ओरिजिन आफ फेमिली, प्रापर्टी एण्ड दी स्टेट, मास्को, 1948.

कनिंघम, ए०––एन्श्येण्ट जिऑग्रफी आफ इण्डिया, लन्दन, 1871.

काणे, पुण्डरीक वामन––हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, 1-5, पूना, 1930, 1941, 1946, 1953.

कावेल, के० बी०––जातक वालूम्स, कैम्ब्रिज, 1895-97.

कार्वे, इरावती––किन्शिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया, लन्दन, 1965.

कीथ, ए० बी०––रेलिजन ऐण्ड फिलॉसफी आफ दी वेद ऐण्ड दी उपनिषद्, हार्ववर्ड ओरियेण्टल सीरीज, 31-32, लन्दन, 1925.

––ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, 1928.

कुमारस्वामी, आनन्द के०––ए न्यू अप्रोच टु दी वेदाज, लन्दन, 1934.

––दी ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट, लन्दन, 1934.

––एलीमेण्ट्स आफ बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी, लन्दन, 1935.

––दी डान्स आफ शिव, न्यूयार्क, 1957.

––स्पिरिचुअल एथॉरिटी ऐण्ड टेम्पोरल पावर इन दी इण्डियन थिअरी आफ गवर्नमेण्ट, दिल्ली, 1978.

––दी ऋग्वेद ऐज लैण्ड-नामा-बुक, लन्दन, 1935.

कूली, सी० एच०––सोसल आर्गनाइजेशन, न्यूयार्क, 1929.

क्रूक––पापुलर रेजिलन ऐण्ड फोकलोर आफ नार्दर्न इण्डिया, 1-2, 1886.

क्रैम्रिश, स्टेला––दी हिन्दू टेम्पुल, 1-2, कलकत्ता, 1946.

कोसम्बी, डी० डी०––मिथ ऐण्ड रियलिटी, बम्बई, 1962.

––इण्ट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

खोन्दा, जे०—आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, उत्रेक्त, 1954.

—एपिथेट्स इन दी ऋग्वेद, दी हॉग, 1959.

—दी विजन आफ दी वेदिक पोयेट्स, दी हॉग, 1963.

—एन्श्येण्ट इण्डियन किंगशिप फ्राम दी रेलिजस प्वाइण्ट आफ व्यू, लीडेन, 1969.

—फोर स्टडीज इन दी लैंग्वेज आफ दी वेद, एस ग्रवेन्हेग, 1959.

गुर्ने, ओ० आर०—दी हिटाइट्स, पेलिकन, 1952.

गैरोला, वाचस्पति—कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वाराणसी, 1962.

घुरिये, जी० एस०—कास्ट ऐण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, 1950.

घोषाल, यू० एन०—कान्ट्रिब्यूशन टु दी हिस्ट्री आफ हिन्दू रेविन्यू सिस्टेम, कलकत्ता, 1921.

—हिन्दू पोलिटिकल थिअरीज, कलकत्ता, 1923.

—दी एग्रेरिअन सिस्टेम इन एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1940.

—ए हिस्ट्री आफ हिन्दू पब्लिक लाइफ, कलकत्ता, 1945.

—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडिआज़, बम्बई, 1959.

चट्टोपाध्याय, सुधाकर—सोसल लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1968.

चाकलदार, हरेनचन्द्र—सोशल लाइफ इन एन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता 1929.

चाइल्ड, वी० गार्डन—मैन मेक्स हिमसेल्फ, लन्दन, 1948.

—दी आर्यन्स, ए स्टडी आफ इण्डोयोरोपियन ओरिजिन्स, लन्दन, 1926.

—प्रीहिस्टारिक वैकग्राउण्ड आफ इण्डियन कल्चर, बम्बई, 1958.

चौधरी, जे० वी०—दी पोजिशन आफ वीमेन इन दी वेदिक रिचुअल, कलकत्ता, 1956.

चौधरी, एस० वी०—एथनिक सेटिलमेण्ट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1955.

जार्ज कार्डोन, हेमरी एम० हेनिंग्स्वाल्ड ऐण्ड अल्फ्रेड सेन—इण्डोयोरोपियन ऐण्ड इण्डो-योरोपियन्स, पेन्सीलवानिया, 1970

जायसवाल, काशी प्रसाद—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930.

—हिन्दू पालिटी, बंगलौर, 1943.

जायसवाल, सुवीरा—दी ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेंट आफ वैष्णविज्म, दिल्ली, 1967.

ज़िमर, एच०—दी आर्ट आफ इण्डियन एशिया, 1-2 न्यूयार्क, 1960.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जैन, जगदीशचन्द्र——लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया एज डिपक्टेड इन जैन कैनन्स, बम्बई, 1947.

जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम——मथुरा की मूर्तिकला, मथुरा, 1965.

डांगे, सदाशिव अम्बादास——लीजेण्ड्स इन दी महाभारत, दिल्ली, 1969.
——कल्चरल सोर्सेज फ्राम दी वेद, बम्बई, 1977.
——पेस्टोरल सीम्बालिज्म फ्राम दी ऋग्वेद, पूना, 1970.
——इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी, बम्बई, 1949.

डेविड्स, टी० डब्ल्यू०——बुद्धिस्ट इण्डिया, लन्दन, 1911.

ड्रेकमीअर, चार्ल्स——किन्शिप ऐण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया, स्टेन्फोर्ड युनिर्वसिटी प्रेस, 1962

तिलक, बी० जी०——दी आर्कटिक होम इन दी वेदाज, पूना, 1925.

थर्स्टन, ई० ऐण्ड रंगाचारी, के०-ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आफ सादर्न इण्डिया, 1-2, मद्रास, 1929.

थापर, रोमिला——इन्श्येण्ट इण्डियन सोसल हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1978.

थाम्सन, जार्ज——स्टडीज़ इन एन्श्येण्ट ग्रीक सोसाइटी, लन्दन, 1949.

थीमे पॉल——"डेर फ्रेंलिग इन ऋग्वेद, 1966.

दत्त, एन० के०——ओरिजिन ऐण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया, कलकत्ता, 1931.
——आर्यनाइजेशन आफ इण्डिया, कलकत्ता, 1925.

दत्ता, बी० एन०——स्टडीज इन इण्डियन सोसल पालिटी, कलकत्ता, 1944.
——डायलेक्टिक्स आफ हिन्दू रिचुअलिज्म, कलकत्ता, 1952.
——हिन्दू ला आफ इन्हेरिटेन्स, कलकत्ता, 1957.

दत्त, बी० बी०——टाउन प्लैनिंग इन एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1925.

दास, ए० सी०——ऋग्वेदिक कल्चर, कलकत्ता, 1925.

दास, एस० के०——एजुकेशनल सिस्टेम आफ एन्श्येण्ट हिन्दूज, कलकत्ता, 1930.
——इकोनॉमिक हिस्ट्री आफ एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1925.

दासगुप्ता, एस० एन०——हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी.

दीक्षितार, बी० आर० आर०——दी गुप्त पालिटी, मद्रास, 1952.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

——हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन्स, मद्रास, 1929.

——मौर्यन पालिटी, मद्रास, 1932.

दुबे, एस० सी०——इण्डियाज चेंजिंग विलेजेज, लन्दन, 1958.

——इण्डियन विलेज, 1961.

दुबोइस, ए० जे० ए० ऐण्ड ब्युशैम्प, एच० के०——हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरिमोनीज, ऑक्सफोर्ड, 1906.

निम्कॉफ, एम० एफ०——मैरेज ऐण्ड दी फेमिली, वोस्टन, 1947.

प्रभु, पी० एच०——हिन्दू सोसल आर्गनाइजेशन, बम्बई, 1963.

——हिन्दू सोशल फिलॉसफी, बम्बई, 1941.

——सोशल इफेक्ट्स आफ अर्वनाइजेशन, यूनेस्को, रिसर्च सेंटर, कलकत्ता, 1956.

पाठक, विश्वम्भर शरण——एन्श्येण्ट हिस्टोरियन्स आफ इण्डिया, बम्बई, 1966.

——शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी, 1960.

पाण्डेय, राजबली——हिन्दू-संस्कार, बनारस, 1969.

पावरी, जलदस्तूर कर्सेतजी——(संपादक) ओरियेण्टल स्टडीज, लन्दन, 1933.

पिगट, स्टुअर्ट——ऐन्श्येण्ट योरोप : फ्राम दी बिग्निंग्स आफ एग्रिकल्चर टु क्लासिकल ऐन्टीक्विटी, शिकागो 1965.

पिगट, स्टुअर्ट एण्ड क्लार्क, ग्राहम——प्री-हिस्टारिक सोसाइटीज, लन्दन, 1976.

पार्जिटर, एफ० ई०——एन्श्येण्ट हिस्टारिकल ट्रेडिशन, बनारस, 1962.

——डायनेस्टीज आफ कलि एज़, लन्दन, 1913.

फिक, रिचर्ड——दी सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, कलकत्ता, 1920.

फ्रेजर, जे० जी०——दी गोल्डेन बाऊ, 1-7, लन्दन, 1960.

बनर्जी, ए० सी०——स्टडीज इन दी ब्राह्मणाज, प्रथम संस्करण, वाराणसी, 1963.

बनर्जी, पी० एन०——इण्टरनेशनल ला ऐण्ड पोलिटिकल कस्टम इन एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1920.

——पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्श्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1916.

बनर्जी, एस० सी०——धर्मसूत्र, कलकत्ता, 1962.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बनर्जी, एस०—हिन्दू ला आफ मैरेज ऐण्ड स्त्री-धन, कलकत्ता, 1896.

बन्दोपाध्याय, एन० सी०—डेवलपमेंट आफ हिन्दू पालिटी एण्ट पोलिटिकल थिअरीज़, कलकत्ता, 1927.

—कौटिल्य आर एन एक्सपोजिशन आफ हिज सोशल ऐण्ड पोलिटिकल थिअरी, कलकत्ता, 1927.

बार्नेट, एल० डी०—एण्टिक्विटीज़ आफ इण्डिया, लन्दन, 1913.

ब्राउन, पर्सी—इण्डियन आर्किटेक्चर, बम्बई, 1942.

ब्लूम्फील्ड, एम०—दी रेलिजन आफ दी वेद, न्यूयार्क, 1908.

बुद्ध प्रकाश—ऋग्वेद ऐण्ड दी इण्डस वैली सिविलिज़ेशन, होशिआरपुर, 1966.

बेली, एफ० जी०—कास्ट ऐण्ड दी इकोनॉमिक फ्रन्टिअर, मैन्चेस्टर, 1957.

बोस, अतीन्द्रनाथ—सोशल ऐण्ड रूरल इकोनामी आफ नार्दर्न इण्डिया (600 ई० पू० से ईस्वी सन् 200 तक) 1-2, कलकत्ता, 1945.

बैडेन पावेल, बी० एच०—इण्डियन विलेज कम्युनिटी, दिल्ली, 1972.

बैशम, ए० एल०—दी वण्टर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, 1954.

—सम आस्फेक्ट्स आफ एन्श्येण्ट इण्डियन कल्चर, मद्रास, 1940.

मजुमदार, आर० सी०—कारपोरेट लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1918.

मजुमदार, आर०सी० एण्ड पुसालकर, ए० डी०—दी हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर आफ दी इण्डियन पीपुल—दी वेदिक एज, लन्दन, 1951.

मार्शल, सर जॉन—मोहेनजोदारो ऐण्ड इण्डस सिविलिजेसन, 1-3, वाराणसी, 1973.

मिश्र, राजछत्र—अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व, इलाहाबाद, 1968.

मिश्र, शिवनन्दन—एन्श्येण्ट इण्डियन रिपब्लिक्स, लखनऊ, 1976.

मिश्र, विकास—हिन्दुइज़्म ऐण्ड इकोनॉमिक ग्रोथ. बम्बई, 1962.

मुकर्जी, राधाकुमुद—लोकल गवर्नमेंट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1920.

मूर्ति, सी० शिवराम—संस्कृत लिटरेचर ऐण्ड आर्ट, मिरर्स आफ इण्डियन कल्चर, दिल्ली, 1970.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मेन, एच ० एस०—विलेज कम्युनिटीज़ इन दी ईस्ट ऐण्ड वेस्ट, लन्दन, 1876.

मैके, ई० जे० एच०—फरदर एक्सकवेशन्स ऐट मोहेनजोदारो, दिल्ली, 1936.

मैक्डॉनेल, ए० ए०—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, 1900.

—वेदिक माइथोलॉजी, स्ट्रेसवर्ग, 1877.

—हिन्दी अनुवाद—रामकुमार राय, वाराणसी, 1962.

मैती, एस० के०—दी एकोनॉमिक लाइफ इन दी गुप्ता पीरियड, कलकत्ता, 1957.

मैक्समूलर, एफ०—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, 1958.

—ओरिजिन ऐण्ड ग्रोथ ऑफ रेलिजन, वाराणसी, 1964.

मोतीचन्द्र—सार्थवाह, पटना, 1953.

मोनिअर विलिअम्स, एम०—रेलिजस थॉट ऐण्ड लाइफ इन इण्डिया, लंदन, 1891.

यादव, ब्रजनाथ सिंह—सम आस्पेक्ट्स आफ सोसाइटी इन नार्दर्न इण्डिया इन ट्वेल्थ सेंचुरी ए० डी०, इलाहाबाद, 1973.

रंधावा, एम० एस०—दी कल्ट आफ ट्रीज ऐण्ड ट्री वरशिप इन वुद्धिस्ट हिन्दू स्कलपचर, नई दिल्ली, 1964.

राडस, स्टैन्ली—हिन्दू कस्टम्स ऐण्ड देअर ओरिजिन्स, लन्दन, 1937.

राधाकृष्णन, एस०—रेजिजन ऐण्ड सोसाइटी, लन्दन, 1947.

—इण्डियन फिलॉसफी, न्यूयार्क, 1927.

—दी हिन्दू व्यू आफ लाइफ, लन्दन, 1927.

रामचन्द्र राव, एस० के०—सोशल इन्स्टिच्युशन्स अमांग हिन्दूज, मैसूर, 1969.

राय, उदय नारायण—प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, इलाहाबाद, 1965.

—शालभंजिका, इलाहाबाद, 1979.

राय, गोविन्दचन्द्र—प्राचीन भारत में लक्ष्मी-प्रतिमा, वाराणसी

राय, चौधरी, एस० पी०—एग्रिकल्चर इन एन्श्येण्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 1964.

राय, जयमल—दी रूरल—अर्वन इकोनॉमी ऐण्ड सोशल चेजेंज इन एन्श्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1974.

राव, विजय वहादुर—उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, एक अध्ययन, वाराणसी, 1966.

रिज़ले, एच० एच०—दी पीपुल आफ इण्डिया, लन्दन, 1915.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रैप्सन, ई० जें०—दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग 1, कैम्ब्रिज, 1922.

ला, बी० सी०—ट्राइब्स इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पूना, 1943.

लैंग, एण्ड्रू—कस्टम ऐण्ड मिथ, लन्दन, 1884.

—मिथ, रिचुअल ऐण्ड रेलिजन, 1-2, 1887, 1913.

लोवी, राबर्ट एच०, सोशल आर्गनाइज़ेशन, 1962.

वत्स, माधव स्वरूप—एक्सकवेशन्स ऐट हरप्पा, कलकत्ता, 1940.

वाइज़र, डब्ल्यू० एच०—दी हिन्दू जज़मानी सिस्टेम, लखनऊ, 1969.

विन्टरनित्ज, एम०—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (आंग्ल अनुवाद), द्वारा श्रीमती एस० केटकर, 1, कलकत्ता, 1927.

वेस्टरमार्क, ई०—हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरेज, 1-3, लन्दन, 1926.

—ओरिजिन ऐण्ड डेवेलपमेंट, आफ मारल आइडिआज़, 1-2, लन्दन, 1924.

शर्मा, जी० आर०—एक्सकवेशन्स एट, कौसाम्बी, इलाहाबाद, 1960.

शर्मा, जे० पी०—रिपब्लिक्स इन एन्श्यण्ट इण्डिया, 1500 ई० पू०-500 ई० पू०, लीडेन, 1968.

शर्मा, आर० एस०—सम इकोनामिक आस्पेक्ट्स आफ दी कास्ट इन एन्श्येंट इण्डिया, पटना, 1952.

—शूद्राज़ इन एन्श्येंट इण्डिया, दिल्ली, 1958.

—आस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज़ ऐण्ड इन्स्टिच्युशन्स इन एन्श्येन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1959.

—लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी ऐण्ड इकोनॉमी, बम्बई, 1966.

शास्त्री, शामशास्त्री—सम्पादक, कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, मैसूर, 1919.

शास्त्री, हेरम्ब चटर्जी—स्टडीज़ इन दी सोशल बकग्राउण्ड आफ दी फार्म्स आफ मैरेज इन एन्श्येंट इण्डिया, कलकत्ता, 1972.

शास्त्री, ए० बनर्जी—असुर इण्डिया, पटना, 1926.

श्रीवास्तव, बलराम—ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन एन्श्येंट इण्डिया—फ्राम अर्लियेस्ट टाइम्स, टु 300 ए० डी०; बनारस, 1968.

सरकार, दिनेशचन्द्र—सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, कलकत्ता, 1942.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

—सोशल लाइफ इन एन्श्येंट इण्डिया (सम्पादित) कलकत्ता, 1971.

समदर, जे० एन०—इकोनॉमिक कंडीशन आफ एन्श्येंट इण्डिया कलकत्ता, 1922.

सरकार, बी० के०—पोलिटिकल इन्स्टिट्च्युशन्स, कलकत्ता 1939.

श्रेडर, ओ०—प्री हिस्टारिक ऐन्टिक्विटीज़ आफ दी आर्यन पीपुल्स, ए मैनुअल आफ कम्परेटिव फिलोलॉजी ऐण्ड दी अर्लियेस्ट कल्चर, अनुवादक-फ्रैंक बाइरन, जेवन्स, लन्दन, 1890

सरकार, एस० सी०—सम आस्पेक्टस आफ दी अर्लियेस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इण्डिया, लन्दन, 1928.

सिन्हा, एच० एन०—सावेरेण्टी इन एन्श्येण्ट इण्डियन पालिटी, लन्दन, 1936.

सेन, अशीस—एनिमल मोटिफ्स इन एन्श्येण्ट इण्डियन आर्ट, कलकत्ता, 1972

सेनगुप्ता, नीलाक्षी—एव्यूलूशन आफ हिन्दू मैरेज, बम्बई, 1965.

सेनगुप्त, शंकर—ट्री सीम्बल वरशिप इन इण्डिया, कलकत्ता,

हाजरा, आर० सी०—स्टडीज़ इन दी पुराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, ढ़ाका, 1940.

हटन, जे० एच०—कास्ट इन इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1946.

हाप्किन्स, ई० डब्ल्यू०—दी ग्रेट एपिक आफ इण्डिया, कलकत्ता, 1969.

—दी म्युचुअल रिलेशन्स आफ दी फोर कास्ट्स एकार्डिंग टु दि मानव धर्मशास्त्र, लीपझिंग, 1881.

—दी रेलिजन आफ इण्डिया, बास्टन, 1895.

—दी सोशल ऐण्ड मिलिटरी पोजिशन आफ दी रूलिंग क्लास इन एन्श्येंट इण्डिया, वाराणसी, 1972.

हिलेब्रान्त—रिचुअल लिटरेचर, स्ट्रेसवर्ग, 1915.

ह्वीलर, आई० ई० एम०—दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1953.

हीस्टरमन, जे० सी०—दी एन्श्येंट इण्डियन रॉयल कान्सिक्रीशन, दी हॉग, 1957.

अनुसंधान-पत्रिकाओं के लेख

अग्रवाल, वासुदेव शरण—"पतञ्जलि ऐण्ड वाहीक ग्रामाज" इण्डियन कल्चर, 6, 1939-40.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आयंगर, पी० टी० एस०—"आर्य ऐण्ड द्रविड़", जर्नल आफ ओरियेंटल रिसर्च, मद्रास, 3, 1929.

आयंगर, टी० के० गोपालस्वामी—"एग्रिकल्चर इन दी वेदाज़"—वेद-समीक्षा, तिरुपति, 1967, पृ० 99-102.

उपाध्याय, बलदेव—"वैदिक आर्यों का आर्थिक जीवन", नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 1958, पृ० 215-230.

कपाडिआ, बी० एच०—"दी वर्ड गर्त्त ऐण्ड इट्स डेरोवेटिव्स" गंगानाथ रीसर्च इन्स्टि-च्यूट, इलाहाबाद, 1970, पृ० 521-526.

—"पस्त्य इन ऋग्वेद" विक्रम यूनिवर्सिटी, उज्जैन, 1961, पृ० 27-31.

कर्मवेल्कर, वी० डब्ल्यू" ब्रह्म ऐण्ड पुरोहित इन अथर्ववेद", इण्डियन हिस्टारिक क्वाटर्ली, 26 (4) पृ० 293-300.

काणे, पी० वी०—"टाउन्स ऐण्ड सिटीज इन महाभाष्य" जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, दिसम्बर, 1951.

कुमारस्वामी, आनन्द के०—"निरूक्त" कुमार स्वामी वालूम, प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, 1977, पृ० 256.

खोन्दा, जे०—"दी सेक्रेड कैरेक्टर आफ एन्शेण्ट इण्डियन किंगशिप—स्टडीज इन दी हिस्ट्री आफ रेलिजन्स, सप्लीमेंट टु नुमेन, 1959, पृ० 172-80.

—"आभरण" न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, 2 (2), 1939, पृ० 69-75.

गांगुली, डी० के०—"दी विलेज हेडमैन इन एन्श्येण्ट इण्डिया" प्रोसीडिंग आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, (31 वां सेसन), 1970, पृ० 79-84.

गोपाल, लल्लनजी—"एकोनॉमिक ग्रुप्स ऐण्ड कास्ट सिस्टेम इन एन्श्येंट इण्डिया" जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री 43 (3) 1965, पृ० 771-781

—"ओनरशिप आफ एग्रिकल्चरल लैण्ड इन एन्श्येंट इण्डिया", जर्नल आफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, 46, 1960, पृ० 27-44

—"इकोनॉमिक परस्यूट्स इन एन्श्येंट इण्डियन लाइफ" कविराज कामेमोरेशन वालूम, 1967, पृ० 405-417

—"आर्गनाइजेशन आफ इण्डस्ट्रीज इन एन्श्येण्ट इण्डिया" जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 42 (3) 1964, पृ० 887-914

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

घोषाल, यू० एन०—"दी कांस्टिच्युशनल सिग्निफिकेन्स आफ संघगण इन दी पोस्ट वेदिक पीरियड", इण्डियन कल्चर, भाग 7, 1945

चक्रवर्ती, ए० सी०—"वेदिक एविडेन्सेज रिगार्डिग दी फीमेल इन्हेरिटेन्स" कलकत्ता रिव्यू, 174 (3), 1965, पृ० 239-243.

चट्टोपाध्याय, क्षेत्रेशचन्द्र—"दी वर्ड अरि इन दी ऋग्वेद-संहिता" इण्डियन लिंग्विस्टिक वालूम 3, 1933, पृ० 149-156.

चौधरी, राधाकृष्ण—"ओनरशिप आफ लैण्ड इन एन्श्येण्ट इण्डिया" प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस (सताइसवां सेशन), पृ० 118-119.

—"प्राब्लेम्स ऐण्ड मेथड्स आफ सोसिओ-इकोनॉमिक हिस्ट्री आफ एन्श्येण्ट इण्डिया इन न्यू परस्पेक्टिव", जर्नल आफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, 54, 1968, पृ० 76-126.

—"ए कोआपरेटिव इकोनॉमिक सिस्टेम ऐण्ड हिन्दू आइडिअलिज्म" बुलेटिन आफ दी इन्स्टिच्यूट आफ ट्रेडिशनल कल्चर, (मद्रास युनिवर्सिटी), पार्ट 1, 1964, पृ० 35-58.

जोशी, केदारदत्त—"प्राचीन कृषि-विज्ञान", प्रज्ञा 12 (2), 1967, पृ० 17-23.

डांगे, सदाशिव अम्बदास—"फील्ड ऐण्ड रिचुअल हस्बैण्ड", नागपुर युनिवर्सिटी, 19, 1-2.

—"दी बुल आफ मुद्गल" एनुअल नम्बर, विदर्भ संशोधन-मंडल, नागपुर 1967.

—"महानग्नी ऐण्ड अपाला", विदर्भ संशोधन-मंडल, नागपुर, 1966.

—"वर्जिन ऐण्ड दी डिवाइन सीड लेअर", जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 45 (2).

—"दी फील्ड ऐण्ड दी प्लाऊशेयर" जर्नल आफ नागपुर युनिवर्सिटी. 17 (2), 1967, पृ० 158-178.

—"शिप्रिन ऐण्ड शिपिविष्ट" जर्नल आफ दी गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिच्यूट, इलाहाबाद 25, 1969, पृ० 501-510.

—"दी विरिलिटी चार्म फ्राम दी ऋग्वेद" जर्नल आफ नागपुर युनिवर्सिटी, 16 (2), 1965, पृ० 127-145.

थीमे, पॉल—"दी काम्परेटिव मेथड फार रीकान्स्ट्रक्शन्स इन लिंग्विस्टिक्स" लैंग्वेज इन कल्चर ऐण्ड सोसाइटी, सम्पादक, डी० हाइन्स, न्यूयार्क, 1964 पृष्ठ, 584-598.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थीमे, पॉल—"कृष्टि ऐण्ड चर्षणि", के० जेड० 81, 1967, पृ० 233-244.

दास, ए० सी०—"लिमिटेड मोनॉर्की इन एन्श्येण्ट इण्डिया" , माडर्न रिव्यू, 2, 1907.

दीक्षितार, वी० आर० आर०—"नोट्स आन दी पौर-जानपद" हिस्टारिकल क्वाटर्ली 6, 1930.

नन्दी, अजयकुमार—"इव्यूलूशन आफ दी हिन्दू मैरेज सिस्टम", फोकलोर, 10 (5), मई, 1969, पृ० 178-186.

पलिहवदन, एम०—"ए न्यू इन्टरप्रेटेशन आफ ऋग्वेदिक अरि", विजेस्कर फेलिसिटेशन वालूम, 1970, पृ० 88-96.

पाण्डेय, आर० बी०—"लैण्ड प्राब्लेम इन एन्श्येण्ट इण्डिया", (फ्राम दी अर्लियेस्ट टाइम्स टु दी सेकेण्ड सेन्चुरी बी० सी०) भारती, 3, 1959-60, पृ० 147-163.

—"वैदिक ओरिजिन आफ इंडियन रिपलिक्स" प्रोसीडिंग्स आफ दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, (पन्द्रहवां सेशन), 1954, पृ० 79-85.

—"दी हीम आफ इलेक्शन इन दी अथर्ववेद ऐण्ड इट्स पोलिटिकल सिग्निफिकेन्स" प्रोसीडिंग्स आफ दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1951, पृ० 86-91.

पॉल फ्रिडरिक—"प्रोटो-इण्डोयोरोपियन किंगशिप" एथनोलॉजी, V (जनवरी, 1966)

पुरी, बैजनाथ—"सम आस्पेक्ट्स आफ विलेज इकोनॉमी इन एन्श्येण्ट इण्डिया" ईस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट 8 (3-4), पृ० 246-252.

—"एरिगेशन ऐण्ड एग्रिकल्चरल इकोनॉमी इन एन्श्येण्ट इण्डिया, एनल्स आफ भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, 48-49, 1968, पृ० 383-390.

बन्दोपाध्याय, शान्ति—"वीमेन्स राइट टु प्रापर्टी इन दी वेदिक एज" समरी आफ पेपर, आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फरेन्स, 1969, पृ० 339-340.

बरो, टी०—"संस्कृत रजस्", बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन 12, (वार्नेट कामेमोरेशन वालूम), 1958, पृ० 645-651.

—"आन दी सिग्निफिकेन्स आफ दी टर्म अर्म-अर्मक इन दी अर्ली संस्कृत लिटरेचर"— जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री 41 (1), 1963, पृ० 159-166.

वेली, एच० डब्ल्यू०—"ईरानियन अर्य ऐण्ड दह" ट्रान्जेक्शन आफ दी फिलोलॉजिकल सर्वे, आक्सफोर्ड, 1959, पृ० 71-115.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

—"अर्य ।" बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लन्दन, 21, 1958, पृ० 522-545.

—"अर्य 2" बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लन्दन, 22, 1959, पृ० 13-39,

—"अर्य 3", बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लन्दन, 24, 1961, पृ० 470-483.

—"अर्य 4", बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेक्ण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लन्दन, 26, 1963, पृ० 69-91.

वैशम, ए० एल०—"एन्श्येंट इण्डियन किंग्शिप", इण्डिका, (2), 1964, पृ० 119-127.

—इण्डियन सोसाइटी ऐण्ड दी लेगेसी आफ दी पास्ट", आस्ट्रेलियन जर्नल आफ पालिटिक्स ऐण्ड हिस्ट्री, 1966, पृ० 131-145.

भण्डारकर, डी० आर०—"आर्यन इमिग्रेशन इन्टू ईस्टर्न इण्डिया," एनल्स आफ भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, 12, पृ० 103-116.

भारती, के० के०—"इकोनॉमिक ऐण्ड सिविक लाइफ आफ वीमेन इन ऋग्वेद" समरी आफ पेपर, आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फ्रेन्स, 1968, पृ० 5-6.

मजुमदार, बी० के०—"इण्डियन एक्सपेरीमेंट इन रिपब्लिकनिज्म", सी० आर० 154 (1), 1960, पृ० 52-56.

मुकर्जी, राधाकुमुद—"इण्डिया दी क्रैडिल लैण्ड आफ डिमॉक्रेसी, समरी आफ पेपर 19, (9) पृष्ठ, 386-92.

मोतीचन्द्र—"निधि-शृंग" (कॉर्नुकोपिआ), प्रिन्स आफ वेल्स म्युजिअम बुलेटिन, 9.

राइट, जे० सी०—"वैदिक भूष—ईरानियन वूर्शं—वउशं", बुलेटिन आफ दी स्कूल आफ ओरियेण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज़, 25, 1962, पृष्ठ 247 और आगे ।

रंगाचारी, के०—"टाउन प्लैनिंग ऐण्ड हाउस विल्डिंग इन एन्श्येन्ट इण्डिया" इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग 3, 1927.

राय, उदय नारायण—"नगरों का आर्थिक जीवन तथा संगठन" हिन्दुस्तानी, भाग 22, अंक 2, 1961.

—"प्राचीन-भारत में नगर-शासन", हिन्दुस्तानी भाग 24, अंक 3 तथा 4, 1963.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ला, एन० एन०––"रिप्लाई टु मिस्टर दीक्षितार्स नोट आन पौर-जानपद" इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, 6, पृ० 183 और आगे ।

लुइस, ओस्कर—"एन एन्थोपोलॉजिकल एप्रोच टु दी फेमिली स्टडीज", अमेरिकन जर्नल आफ सोसिओलोजी, 4, 1950.

वाजपेयी, राघवेन्द्र—"शासन-विधान के सन्दर्भों में अराजक" नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 1967 (2), पृ० 154-160.

—प्राचीन भारत में लोक-राज्य कल्पना एवं स्वरूप", विश्वज्योति, 14 (1), 1965, पृ० 23-27.

विण्टर, वर्नर—"सम वाइडस्प्रेड इण्डोयोरोपियन टाइटिल्स", इण्डोरोयोरोपियन ऐण्ड इण्डोयोरोपियन्स, 1970, पृष्ठ 44-54

वेंकटरमय्या, एम०––"आन दी वर्ड आर्यक" जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 42 (2), 1964, पृष्ठ 519-23.

वेंकटेश्वरन, सी० एस०—"योग इन ऋग्वेद", प्रोसीडिंग्स आफ आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फ्रेन्स (उन्नीसवां सेशन), 2 पृ० 34-36.

—"क्षेम इन ऋग्वेद" प्रोसीडिंग्स आफ आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फ्रेन्स, (बीसवां सेशन) 1961, पृ० 13-17.

—"आन दी वैदिक वर्डस श्री एण्ड लक्ष्मी" समरी आफ पेपर, इण्टरनेशनल कांग्रेस आफ ओरियेण्टलिस्ट्स, 1964, पृ० 271.

वेंकटसुब्बैह, ए०––"वृजन", अडवार लाइब्रेरी बुलेटिन, 30, 1966, पृ० 44-104.

शर्मा, आर० ऐस०—"रोल आफ प्रापर्टी, फेमिली ऐण्ड कास्ट इन दी ओरिजिन आफ दी स्टेट इन एन्श्येण्ट इण्डिया", जर्नल आफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, 38 (1).

––"दी विदथ"—दी अर्लियेस्ट फॉक-असेम्बली आफ इण्डोआर्यन्स" जर्नल आफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, 39 (4).

––"दी वेदिक गण ऐण्ड दी ओरिजिन आफ पोस्ट वैदिक रिपब्लिक्स" जर्नल आफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, 39 (4) पृष्ठ, 413-426.

—"दी अर्ली परिषद्", प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, (सोलहवां सेशन), पृ० 93 और आगे ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शास्त्री, उदयवीर––"भारतीय साहित्य में लोक-राज्य सम्बन्धी विचार", विश्व ज्योति, 14(1), 1965, पृ० 18-20.

शास्त्री, नीलकण्ठ––"दी प्लेस आफ अर्थशास्त्र इन दी हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटी", एनल्स आफ भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, 34, 1941.

शास्त्री, विद्यानाथ––"प्राचीन भारत की कर-व्यवस्था", विश्व ज्योति, 2, पृ० 626-628.

श्रीकृष्ण शर्मा, ई० आर०––"कर्त एण्ड गर्त्त' इन वेदिक टेक्स्ट्स", विमर्श ।(1) 1972, पृ० 89-92.

श्रीवास्तव, शैल––"प्राचीन भारतीय ग्राम्य शासन का प्रमुख अधिकारी––ग्रामणी", शोध-पत्रिका, 22 (1) 1971, पृ० 19-26.

शुक्ला, एस० एन०––'इण्टरप्रेटेशन आफ ऋग्वेदिक शिप्र', समरी आफ पेपर, (चौबीसवां सेशन) आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फरेन्स, 1968, पृ० 286-287.

सातवलेकर, एस० डी०––"वेदों में लोकराज्य की कल्पना", विश्व-ज्योति, 14 (1) 1965, पृ० 9-10.

सिन्हा, बी० पी०––"आर्गनाइजेशन आफ सिविल सर्विस इन एन्श्येण्ट इण्डिया डाउन टु सेकेण्ड सेंचुरी ए० डी०, पटना युनिवर्सिटी जर्नल 20 (1), 1965, पृ० 156-

सिंह, वी० वी० "चेंजिंग पैटर्न्स आफ इण्डियन विलेज कम्युनिटी", आगरा युनिवर्सिटी जर्नल, 3, पृ० 91-99.

सीतारमैय्या, जी० "किंगशिप ऐण्ड प्रीस्टहुड इन एन्श्येण्ट इण्डिया" समरी आफ पेपर, (उन्नीसवां सेशन) आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फरेन्स, 1957, पृ० 28.

सूर्यकान्त "वैदिकी राज्य-व्यवस्था" गुरुकुल पत्रिका, 18 (1-2) 1965, पृ० 9-10.

हाप्किन्स, ई० डब्ल्यू०––"इन्द्र ऐज़ ए गॉड आफ फर्टिलिटी", जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियेण्टल सोसाइटी, 37, न्यू हवेन ।

हेरास, एच०––"वेअर मोहेनजोडेरिअन्स आर्यन्स आर ड्रवेडिअन्स," जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, 21, पृ० 23-33.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

त्रिपाठी, हरिहरनाथ—"प्राचीन भारत में राज्य और न्याय-पालिका सम्बन्ध", प्रज्ञा 11 (1), 1965. पृ० 98-107.

पुरातत्त्व-पत्रिकायें

इण्डियन आर्क्योलॉजी, ए रिव्यू, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली ।

एन्श्येण्ट इण्डिया, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली ।

पुरातत्त्व, इण्डियन आर्क्योलॉजिकल सोसाइटी, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित ।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अनुक्रमणिका

अकृष्ट अन्न—17;—पच्य—82.

अंकुरार्पण—207, 208, 209.

अंगिरा—85, 87, 115; आंगिरस—59, 163, 164.

अग्नि—39, 40, 41, 42, 43, 44, 48, 57, 59, 74, 77, 79, 83, 86, 88, 98, 99, 110, 111, 112, 115, 116, 117, 118, 125, 127, 128, 136, 138, 139, 140, 141, 145, 152, 153, 157, 175, 180, 181, 201, 204, 205, 207, 210;—देव—131, 132;—पात्र—43;—मण्डल—42;—होत्र—136, 137;

अजमीढ—67, 68.

√अत्—70, 73; अतिथि—180, 181.

अथर्वा—62; आथर्व—30.

अद्वैतवादी—13.

अधिपति—132, 137, 139.

अध्यक्ष—72.

अनस्—44, 45, 47, 89, 216; एनॉस—44; ओनस 44; ओनॉस—44.

अनन्त सदाशिव अल्तेकर—221, 228.

अनार्य—79, 116, 138, 139.

अनुगुंजन—15.

अन्तोदात्त—99, 100, 101.

अन्न—59, 75, 76, 82, 83, 86, 87, 97, 103, 104, 113, 118, 127, 138, 140, 143, 158, 166, 169, 176, 180, 184, 190, 209, 214, 237—दाता—22, 114, 115;—संचयन—15, 17.

अन्वेषक—164.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अपाय—110, 112.

अभिभावक—137.

अभिरक्षक—70.

अमा—80, 83.

अमिता रे—223.

अमित्र—96, 98.

√अर—22, 104, 106, 113, 119; अर—17 (पा. टि.), 22, 99, 104, 106, 113, 119, 120, 198, 200, 213, 214. अरा—104, 125, 129; अरात्रु—104; अरार—104, 120; अरित्र—104; अरो—104, 120; अरोत्रो—104; अरम्—17 (पा. टि.), 22, 46, 104, 105, 106; अरंकृ—109, 110, 119; अरंकृतः—110; अरंघुष—106; अरमायुध—105, 106; अलंकार—112; अलंकृतः—112; अलकृतिः 119; अर्त—119; अर्ति—104, 120; अर्थर—104; आर—104; आरा—104; आरे—104; ईर—95, 100, 104; एर—95, 100; एरिम—104, 120.

अरण्य—17, 79, 80, 82, 214, 239, 240;—निवास—8०, 83, 88.

अराजक—164, 183, 220, 227-233.

अराति—96, 97.

अरि—94-99, 119, 120, 140, 141, 144, 145; कुत्सित एवं भद्र अर्थ में—94, 95, 99; अरिओ—113; अरिगूर्त—93; अरिधाय—93; अरिय—95, अरियक—120; अरिवृन्द—96, अरिष्टॉस—95; अरिष्टुत—93, 97; एदरि—96.

अर्जुन—172, 176.

अर्थ—33, 70 72;—निर्धारण—99;—परिवर्तन—47, 101;—बोधक 31; —विकास—23, 70, 76, 99.

अर्थ-व्यवस्था—22; आर्थिक क्रान्ति—22;—विकास—22;—व्यवस्था—26;

अर्द्धनारीश्वर—33;

अर्म—45, 46, 47, 93, 94, 214; अर्मक—45, 46; अर्मकपाल—46;

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अर्मास—45, 47; अधिकार्म—46; अश्मार्म—46; कज्जलार्म—46; भूतार्म—46; मद्रार्म—46; संजीवार्म—46; स्थूलार्म—28, 46.

अर्य—21, 22, 29, 30, 85, 87, 88, 93, 95, 96, 99, 100, 101, 104, 113, 114, 115, 116, 117, 118, 119, 120, 127, 132, 135, 137, 139, 140, 141, 144, 145, 146, 147, 148, 151, 160, 169, 170, 171, 214, 215; अर्यमा—21, 94, 95, 128, 129, 153, 164, 166, 173, 179, 180; एरिओ—22, 100, 147, 214.

अल्फ्रेड बीडमन—152 (पा. टि.).

अवास्त्र्यो—70

अवेस्ता—20, 21, 29, 30, 32, 48, 50, 69, 70, 71, 104, 115, 119, 147, 151, 153, 160, 165; आवेस्तिक—32, 95.

अश्मन्मयीवाशी—102.

अश्व—50, 113, 114, 115, 157, 161, 175, 177, 238.

अश्वशीर्ष—61, 62, 63.

अश्विओ—113.

अश्विन द्वय—140; अश्विनीकुमार—62, 64, 85, 168.

असुर—40, 41, 43, 62, 130, 133, 136, 139.

अस्थि-संस्थान—14, 15.

अहुरमज़्दा—70.

आख्यान—61; आख्यायिका—40, 41, 42, 43, 61.

आञ्जन गन्ध—82.

आदित्य—39.

आद्योदात्त—99, 100, 101.

आनन्द के० कुमारस्वामी—144 (पा. टि.), 146, 146 (पा. टि.), 147 (पा. टि.), 153 (पा. टि.), 195 (पा. टि.).

आभरण—74, 158, 159, 161, 180 (पा. टि.), 184.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आयर—120.

आयव—125, 132.

आयु—113, 118, 122.

आयुध—76, 105, 106, 138, 158;—जीवी—216.

आर० ए० हल्ल—70.

आर० एस० शर्मा—156 (पा. टि.), 158 (पा. टि.), 223 (पा. टि.).

आर० बी० रसेल—122 (पा. टि.).

आर० मुकर्जी—222 (पा. टि.).

आर० रिले—225 (पा. टि.).

आर० रेडफील्ड—222 (पा. टि.), 223.

आर्जव—173, 174.

आर्जीक—27, 57, 60, 61, 64, 65, 66, 67.

आर्द—104, 119.

आर्य—33, 40, 41, 44, 95, 113, 119, 135, 136, 138, 139, 141, 143, 210, 253; आर्यक—113 (पा. टि.); अय्यक—113 (पा. टि.); आर्यका—113 (पा. टि.); अय्यका—113 (पा. टि.); आर्य-धर्म—189; आर्यन्ति—132; आर्य पुत्र—113 (पा. टि.); आर्य भाषाओं—31;

आवृत स्थान—70, 90.

आसन—52, 53, 54.

इक्ष्वाकी—68;—इक्ष्वाकुओं—46, 47.

इतिहास—13, 14, 20, 33, 62;—कार—13; इतिवृत—23; इतिहास-संरचना—18, 22; ऐतिहासिक परम्परा—67.

इन्द्र—50, 61-64, 72, 73, 75-77, 79, 83, 85-88, 94, 97, 105, 110, 114-118, 124-139, 140, 141, 153, 156, 158, 161, 162, 166-168, 170, 177, 180, 183, 185, 201, 202, 204-208, 210, 213;—कोश—46;—धनुष—14, 15.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इष—99.

इष्कृती—106.

ई० एम० जोप—225 (पा. टि.).

ई० बी० कावेल—221 (पा. टि.).

ईरानी—29, 30, 84, 95, 100, 104, 147, 214.

ईशान—137.

उच्चकुल-जात-वर्ग—95.

उणादि—122.

उत्खनन—14.

उत्तरवेदि—86.

उत्तराधिकार—135.

उत्तराधिकारी—120.

उत्पादन—102;—सामर्थ्य—104, 106, 109; उत्पादिकाशक्ति—99.

उत्स—102.

उदयनारायण राय—247, 250.

उदुम्बर—101.

उद्यान—31, 53.

उपवर्ग—99.

उर्वर—105; उर्वरता—107.

उर्वशी—113.

उव्वट—100, 101, 111.

उषा—44, 45, 73, 85, 145, 169.

ऊर्ज—99.

ऊत्या—123.

ए. आर. देसाई—222 (पा. टि.).

ए. एन. बोस—221.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ए. गॉल्ज—127 (पा. टि.).

एच. ज़िमर—20, (पा. टि.) 50 (पा. टि.) 57,72, 75, 181.

एच. डब्ल्यू. वेली—93, 95. 119, 120.

एन. ओल्ड. पाजंड—155 (पा. टि.).

एन. सी. बन्ध्योपाध्याय—221.

एफ. सी. बेली—222 (पा. टि.).

ए. बी. कीथ—20 (पा. टि.), 57, 60, 65, 67, 103 (पा. टि.), 167, 176, 208 (पा. टि.), 227.

एम. एच. सोमजी—222 (पा. टि.).

एम. एन. श्रीनिवास—222, 223.

एल. टी. एस. दुमेजिल—93, 94, 95 (पा. टि.).

एस. ए. डांगे—112, 196 (पा. टि.), 197 (पा. टि.), 201 (पा. टि.), 203 (पा. टि.), 204 (पा. टि.), 205 (पा. टि.), 206 (पा. टि.).

एस. क्रैमिश—41.

एस. लेवी—193 (पा. टि.).

एस. सी. गुप्ता—222 (पा. टि.).

एस. सी. दुबे—222.

ए. सी. बनर्जी—93, 95 (पा. टि.).

ए. सी. मेयर—222 (पा. टि.).

ऐश्वर्य—102, 165, 168, 169, 172, 184, 193, 194, 208.

ओरेगो—21, 30.

ओ. लेविस—222 (पा. टि.).

ओल्डेन वर्ग—93.

कण्व गोत्रोत्पन्न—161.

कनक—87.

कपोत 16;—कापोतावृत्ति—16.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कबीला—21, 50, 134, 164, 215, 216, 226.

कमल—195, 210.

कर-व्यवस्था—88, 90.

कर्मकाण्डी—55, 56.

कर्मकृत जन—139.

कर्षक—121, 134, 135; —समूह—140.

कर्षण—101, 108, 109, 122, 133, 198, 200, 201, 205-208; —प्रक्रिया—99; —यन्त्र—119, 120; —शील—147; —शीलता—124, 214, 215.

कलश—142, 193, 194, 210, 214.

कवदस—104, 119.

क्यूरिया—30.

कांठे—27, 67.

काउहर्ड—160.

कातन्त्र—49, 165, 172.

कात्यायन—99, 101.

कामेष्टि—28.

कार्नुकोपिया—202, 203.

कार्वटिक—249.

कालिदास—14, 171 (पा. टि.).

काशकृत्स्न—37, 48, 49, 165, 172, 159.

काश्मीर—61, 64.

काशिका—19; —कार—53.

काशी प्रसाद जायसवाल—107, 181, 227.

काष्ठ दण्ड—17, 19; काष्ठ फलक—24; काष्ठ विक्रय—83.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कील—104.

कुथहारि—17.

कुंद्दाल—17; कौद्दाली—16, 17 (पा. टि.).

कुम्भ—193, 194.

कुरु—23, 60, 68;—क्षेत्र 23, 27, 29, 32. 60, 62-64, 66-68.

कुल—72, 101; कुलपा—72.

कुक्षि—104, 210.

कोणार्क—50.

कौटिल्य—228, 229, 237-240, 245, 247-250, 253-255.

कौशिक—163, 164.

√क्षि—30, 48, 89, 147, 157, 164, 165, 171, 186, 215; कुसेई—48; क्षत्र—30, 93, 118, 119, 147, 148, 151, 164-169, 171, 179, 186, 214, 215; क्षत्रा—70, 153, 167; क्षत्रपति—168; क्षथ्र—70, 147, 165, 171, 186, 215; क्षथ्रक्षयथिय—30; क्षय:—47-49, 88, 124, 130, 164, 165, 214, 215; क्षम्य: क्षय:—49, 51 क्षय निवास —214, 215; मानुषी क्षय—48; रण्व : क्षय:—47, 49, 89; क्षितय: —124. 134; क्षिति—121, 123, 124; क्षिति ध्रुवा—20 (पा. टि.), 75; ध्रुवा क्षिति—31, 80, 83, 88, 89, 90, 213, 216, 217; क्षिति निवास—18, 19, 48, 69, 75, 78, 80, 134, 151, 167; सुएइति—48; सुक्षिति—74; क्षेत्र—21, 31, 48, 59, 104, 117, 164, 169, 177, 214; क्षेत्रज—196; क्षेम—18, 19, 38, 39, 40, 51, 57, 89, 215; क्षेम्य—18, 19, 51, 52, 164, 213;—जीवन—40; क्षेम्या प्रजा—18, 38, 89.

क्षीरस्वामी—37, 48, 49, 159, 165, 172, 249.

क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय—93 (पा. टि.).

कृकवाकु—101.

कृणुध्वं—105.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कृतयोनि—105, 213.

कृत्त्वदेश—61, 65.

√कृष्—121, 122, 133, 134.

कृषक—22, 70, 115, 118, 124, 239, 240, 252.

कृषि—80, 82, 115, 190, 191, 192, 221, 225, 226, 232, 233;—कर्म—16, 17, 22, 26, 28, 29, 90, 102, 106, 125, 164, 210, 217, 225, 226, 240, 242,;—कर्म-कल्प—103, 109;—क्रांति—22;—जन्य—147;—यन्त्र 108, 109;—क्षेत्र 22.

कृष्टि—29, 30, 93, 95, 97, 121, 122 (पा. टि.), 124, 133-141, 144-146 (पा. टि.), 147, 171, 214; कृष्टीनांपतिः—139; अनग्नित्रा कृष्टि—136; अनार्य कृष्टि—137; क्रिस्टिजानि—30, 134; क्रिस्टिरजनु—30, 134; क्रेस्टजनिन—30, 134; ख्रिस्टियानोस—30, 134; पञ्च कृष्टी—124, 133, 136; पूर्वी कृष्टी—124, 127, 133, 135, 136; मानुषी कृष्टी—135, 136, 139; शत्रु सम्बन्धिनी कृष्टी—136.

कृष्ण—25, 102 (पा. टि.).

के. एल. शर्मा—222 (पा. टि.).

के. जी. काग—205 (पा. टि.)

कैवर्त—81, 82.

खर्वट—249, 250; खार्वटिक—247, 250; खेट—250, 251; खेटक—250; खेड़ा—250.

खाण्डव—66.

खुर्द अवेस्ता—69.

खेमा—18, 38, 40, 52, 57.

गंगा—65.

गण—97, 142, 151, 156-158, 161-163, 165, 171, 215, 216;—पति—158, 159, 216;—राज्य—215, 229; गेर—156.

गणेश—50 (पा. टि.).

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गणेश चौबे—196 (पा. टि.).

गमनशील निवास—49.

गर्भ—73, 83, 104, 107, 196, 197, 199 (पा. टि.), 209, 210.

गर्भिणी—83.

गर्त्त—19, 31, 47, 48, 52-56, 89, 214, 216, 225; कार्ट—31, 53; कार्त्र 53; क्रतो—54; क्रेत—53; खोर्तोस—31, 53; गद्दी—31; गाड़ी—18, 31, 44, 52, 54-56; गोर्त—31, 53; गोरोद—31, 53; चक्रगर्त्त—19; त्रिगर्त—53; बहुगर्त्त—53, वृकगर्त्त—19, 53; शृगाल गर्त्त—53.

गतिशील निवास—48.

√ग्रस्—37;

गाम—240, 241; गामक—240, 241; गांव—38, 55; ग्राम—15, 18, 33, 37, 38. 47, 48, 55, 57, 58, 70-72, 80, 88, 89, 93, 102, 145, 216, 217, 220, 222, 223, 237, 251, 253, 254; अगेरिया—37; अस्थायी ग्राम—223; आरामिक ग्राम—90, 242; उजड़े ग्राम—46; कृषक ग्राम—223; चाण्डाल गाम—243; चोर गामक—242; डाकू ग्राम—242; द्वार ग्राम—240, 241; निषाद ग्राम—242; पच्चन्त ग्राम—240, 241; पिलिन्द ग्राम—242; पुराण ग्रामत्थान—241; 241; प्रत्यन्त ग्राम—241; प्राचीन ग्राम—47; ब्राह्मण गांव—90, 242; भ्रमणशील ग्राम—18, 223; महाग्राम—244; मुचल गाम—244; विनष्ट ग्राम—46, 47; शून्य ग्राम—46; संग्राम—74, 76, 114, 116, 127, 128; स्थायी ग्राम—223; क्षुद्रग्राम—241; ग्रामद—37; ग्रामणी—72; ग्रामवासी—70, 223; ग्राम सन्निवेश—44, 99; ग्रेमियम—37; ग्राम्यजीवन—18, 180, 220-224; ग्राम्य श्रमिक—70.

गार्थ—53.

गार्हपत्यस्थल—43

गुल्म—82.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुहा—79, 80, 88, 93, 214;—गुहानिवास—78;— गुहासदन—78, 79;—गुहाक्षय—78, 79.

गूर्त—97.

गृह—33, 43, 48, 49, 52, 53, 56, 57, 59, 60, 72, 74, 80, 82, 85, 86, 89, 99, 162, 216;—निर्माण—19, 69;—निवासी—15, 58;—पति—72, 98, 99, 118; —पत्नी—73; —पालक—127; —सन्निवेश—24, 25, 26, 26 (पा. टि.);—सेवक—134 (पा. टि.);—स्वामी—94, 98.; गृहस्थ—59;

गेल्डनर—72, 93 (पा. टि.).

गैरिक मृद्‌भाण्ड—23, 29;—संस्कृति—23.

गोचारक—47, 57, 69, 75, 82, 90; गोचारण—27, 28, 47, 60, 75, 80, 82;—अर्थवृत्ति—29; गोचरभूमि—20, 72, 79, 80, 82, 84.

गोत्र—239.

गोथिक—33, 84.

√गुप् (रक्षणे)—75; गोप—238, 239;—वन—82; गोपयितार—76; गोपा—20. 74, 75, 76, 152, 153, 154; गोपाल—75; गोपालक—152, 252, गोपालकत्त्व—154; गोपालिका—154 गोपी—154; गोधन—87, 88; गोवंश—75, 76; गो-समूह—78, 79, 87, 115, 130, 138; गो-सम्वर्द्धन—27; गोष्ठ—71, 72, 73, 75, 87, 119, 251, 252.

गोवर्द्धन राय शर्मा—26 (पा. टि.), 224.

गोविन्द स्वामी—15.

गोष्टोम यज्ञ—27.

ग्राहम क्लार्क—225.

चक्र (यान)—40; चक्रचर—15, 213; चक्रनेमि—104, 125.

√चर्—121, 123, 133; √चाय्—121, 124; √चृष्—122, 133; चर्षणी—93, 95, 121-125, 127, 129, 131, 132, 140, 141, 146 (पा. टि.), 147,171,214; चर्षणयः—123, 132, 34; चर्षणिभ्यः—

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

126, 133; चर्षणीनां—48, 123, 125, 126, 179; पञ्चचर्षणी—133; पूर्वी चर्षणी—124, 126, 127, 130, 133; चरणशीलतां—214; चरणशील प्रजा—124; चर्षणी सहं—126, 128; शत्रुभूत चर्षणी—126.

चोपनीमांडो—26.

छर्दि—24-26.

जजमानी प्रथा—145.

जन—81, 97, 122; जनक—60, 105, 113, 213; जनपद—143, 151, 227, 235, 236; जनजाति—23, 72, 75;—जातीय—223;—जीवन—224; —निवास—54; —संख्या—80, 90; —समुदाय—74 134 (पा. टि.),—समूह—18, 38, 58, 70, 89, 117;—सन्निवेश—18, 19, 20, 31, 33, 41, 46. 52, 53, 63, 68, 216, 247-250; अल्पकालिक जन सन्निवेश—29; पञ्चजन—61, 65, 27, सामान्य जन—49, 80, 122, 124, 125, 126, 140, 147.

जठर—213, 214.

जल—72, 80, 102, 112; जलाशय—17, 46.

जॉन एलन—50 (पा. टि.), 152.

जॉन मार्शल—107, 198.

जामदग्नि—46, 47.

जीवन—70; आदिम जीवन—33; जीवन पद्धति—39.

जे. एगलिंग—111.

जे. एन. बनर्जी—106 (पा. टि.), 107, 198 (पा. टि.).

जे. खोन्दा—192 (पा. टि.), 193, 200 (पा. टि.), 206 (पा. टि.), 209 (पा. टि.).

जे. जी. फ्रेजर—199 (पा. टि.).

जेन्स—30.

जेमेरन्यो—127 (पा. टि.).

जैकोबी—24.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जोसेफ हटचिन्सन—225 (पा. टि.).

जोहन फ्रेडरिख—127 (पा. टि.).

झझान—71.

टी. बरो—46, 48.

टी. एन. मदन—222 (पा. टि.).

डी. एन. मजुमदार—222.

डी. डी. कोसम्बी—55, 56, 198 (पा. टि.).

डी. आर. पाटिल—192 (पा. टि.).

तया जिंकिन—222 (पा. टि').

त्वष्टा—59.

ताप संदीप्तिक-तिथि—23, 29.

तीक्ष्णाग्रदण्ड—22, 104, 106, 113, 119, 120, 198, 200, 213.

तूर्घ्न—66.

तोखारी—104.

त्रिवर्ण—215.

दधीचि—61, 63.

दध्यङ्—61, 62, 64.

दण्ड—232—234, 236, 239;—संहिता—164.

दयानन्द—189.

दर्—33, 84; दरवाजा—84; तोर—33, 84; द्वार—33, 78, 84;—युक्तगृह—33, 84;—विहीन—73, 76; दुर—32, 33, 84, 85, 86, 87, 88, 217;—युक्त—85; दुरिन—33, 84; दुरु—33, 84; दुरोण—31, 84-88, 99, 214, 217; दुवार—33, 84; देरे—33, 84; दोर—33, 84; दोरस—33, 84; दौर—33, 84; फोर 33, 84; फोरेस—33, 84; विदुर—73, 76, 217.

दान—135; दानी—98, 99; प्रतिदान—146, 147.

दामोदर सातवलेकर—136 (पा. टि.).

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

दाय—145;—भाग—214.

दिनेश चंद्र सरकार—113 (पा. टि.), 171 (पा. टि.).

द्विजमीढ़—68.

दुर्गाचार्य—19, 53, 65, 98, 123.

देव—55, 59, 74, 97, 99, 113, 136, 140, 141;—गण—40, 42;—यज्ञ—83.

देवराज यज्वा—98.

देशीनाममाला—122.

दैहिक संगठन—14.

द्रष्टा—121.

द्रोणमुख—90, 247, 248.

धर्मपाल अग्रवाल—23, 68.

धातु—14;—निर्मित—102.

धेनु—85;—समूह—73, 76.

नगर—20, 57, 58, 70, 71, 88; नागर क्रान्ति—22;—सभ्यता—16.

नदी—57, 59, 60, 68;—वर्ती—58.

नन्द—68.

नमी—28.

नागलोक—45.

नारायण भट्ट—122.

निकष—23.

निक्षेप—85.

निघण्टु—24, 24 (पा. टि.).

निर्देशक—21.

निरुक्त—19, 26, 84, 89, 90, 96, 121, 123, 160 (पा. टि.);—कार—165, 180; नैरुक्त—98.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

निवास—32, 33, 39, 47-50, 60, 69-71, 73, 74, 76, 78-80, 89, 90, 99, 121, 142, 151, 162, 164, 165, 168; अल्पकालिक निवास—31, 32, 47, 49-52, 147, 151, 213, 214, 216; निवास गृह—75; निवासनीय रथ—50; निवास भूमि—153; निवासी—123; निवास-स्थान—24, 42, 72; सामूहिक निवास—38; स्थायी निवास—31, 50, 52, 223, 226; चिरन्तन ग्राम निवास—48; मानव निवास—32, 49; वाहन निवास—47.

नीसर—93 (पा. टि.).

नेता—21, 96, 128, 140, 151, 163, 176, 178-180, 215.

नैयायिकों—13.

पंडित युधिष्ठिर मीमांसक—121 (पा. टि.).

पज्रा—59.

पणि—79, 85, 132, 133.

पदार्थ—224; पदार्थी परम्परा—13, 18.

पन्नालाल अग्रवाल—23, 68.

पर्यवेक्षक—130.

पर्वत—79; —निवास—88; पर्वतीय प्रदेश—46.

पर्सी ब्राउन—50 (पा. टि.).

परिणह—66.

√परिभूष्—112; भूषन्ति—112; भूषण—112.

परीक्षित—68.

पल्ली—251; पल्लिका—243.

पशु—25, 32, 39, 43, 46, 48, 59, 60, 69, 71, 73, 76, 78, 79, 80, 102, 103, 191, 195, 214, 225, 237; —चारक—216; —चारण—164; —निवास—73; —पति 151; —पालक—20, 82, 89, 90, 152-154; —पालकत्त्व—155; —पालन—22, 151, 152, 160, 189, 190, 210, 221, 226; —वृजन—73; —समूह—20, 72, 80, 155.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पस्त्य—23-26, 28, 29, 31, 32, 48, 56-60, 64, 65, 66, 67, 90, 93, 214, 216; अश्व पस्त्य—58; पस्त्यावत्—61, 64, 67; पस्ति—59;—पस्तिविस्के—60; पस्त्य संस्कृति—22, 27,-29, 32,69; पासेरे—59; पास्चर—60.

पाञ्चाल—144.

पांजिष्ठ—81.

पाणिनि—19, 46, 53, 63, 99, 101, 252, 253.

पाद-निक्षेप—39.

पॉलथीमे—93 (पा. टि.), 94 (पा. टि.),

पाषाण—14, 15;—खण्ड—78, 80;—मुद्रा—107.

पिशेल—57, 58, 60, 64.

पी. के. मुकर्जी—222 (पा. टि.).

पुंश्चली—122.

पुण्ड्रवर्द्धन—33, 70.

पुरातत्त्व—13-15; पुरातत्त्वज्ञ—15; पुरातत्त्वविद्—23, 69; पुरातात्विक उत्खनन—26; पुरातात्त्विक साक्ष्य—29, 98.

पुरूमीढ़—23, 25, 28, 67, 68.

पुरुरवा—113.

पुरुवंशीय—25, 28, 60.

पुरुषमेघ यज्ञ—81.

पुरोहित—99, 113, 114, 116, 118, 133, 140, 185.

पूर्वी सरस्वती—61.

पूषा—72, 96.

पृतना—132, 133.

पृतना—132, 133.

पृथिवी—28, 29, 51, 62, 66, 76, 101, 102, 156, 198, 200, 207, 208, 213, 214.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पृथिवी कुमार अग्रवाल—195 (पा. टि.).

पृथु—28.

पेरोकियलाइजेशन—223.

प्लक्षक्षेत्र—47.

प्लक्षप्रास्रवण—27, 28, 66, 67.

प्रजनन—108, 109;—सामर्थ्य—104, 106, 109, 111, 112, 119; प्रजा—38, 51, 77, 103, 115, 118, 125, 126, 128, 129, 132-134, 137, 138, 147, 162. 180. 191, 192, 213, 214, 232-234; प्रजाति—134 (पा. टि.); प्रजापति—39, 42, 209, 210; प्रजापालक—77 (पा. टि.); प्रजापोषक—114; पुरातन प्रजा—127; पूर्वतन्या प्रजा—127;—शत्रु सम्बन्धिनी प्रजा—140; सामान्य प्रजा—132.

प्राजापत्य पद—40.

प्रेक्षण कल्प—111.

फर्वर—105.

फादर फॉन ट्राय—223 (पा. टि.').

फाल—17, 22, 101-103, 105, 213, 242.

फ्लीट—247 (पा. टि.).

बल—75, 76, 167, 173, 176.

वलस्य—102 (पा. टि.).

बाड़ा—73, 90, 124, 225.

बाण—63, 81.

बार्थलोमी—24.

बीज—43, 103, 105, 113, 164; 245,—वपन—105, 106, 108.

बुद्ध प्रकाश—178 (पा. टि.).

वृहस्पति—117, 156, 170.

बेहस्तून अभिलेख—20 (पा. टि.), 71.

बैडेन पॉवेल—221.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बैल—45, 58, 78, 102; महाबैलस्थ—45.
बी. आर. चौहान—222 (पा. टि.).
बी. बी. दत्त—252 (पा. टि.).
बी. सिंह—222 (पा. टि.).
ब्रह्म—13, 30, 87, 88, 93, 118, 147, 165, 171, 215.
ब्रह्मदेय—239.
ब्रह्मयोनि—64.
ब्रह्मवेदी—64.
ब्रह्मसर—64
भग—98
भट्ट भास्कर मिश्र—100, 121-123.
भदन्त आनन्द कौसत्यायन—241 (पा. टि.), 243 (पा. टि.), 244, (पा. टि.).
भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी—48, 49.
भारद्वाज—25.
भारोपीय—30, 31, 32, 37, 38, 44, 48, 53, 84, 100, 104, 106;—काल—32, 33;—भाषा—29, 32, 50, 69;—शब्द—59, 99.
भीम—50 (पा. टि.).
भूति—112.
भूमि—51, 74, 101, 102, 103, 108, 118, 135, 195, 196, 200, 201, 206, 208, 209, 239, 240.
भूस्वामी—22, 100, 102, 147, 221.
भूस्वामित्त्व—101.
भर्तृहरि—13.
भ्रमणशील—15, 133;—कबीले—19.
मदन मोहन सिंह—241 (पा. टि.), 242 (पा. टि.), 243 (पा. टि.).
मधु—105, 209;—विद्या—62, 63, 64.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मनु—29.

मन्दिर—50, 55.

मय—41.

मरुत—61, 64, 65, 73, 75, 156, 157, 158, 159, 161-163, 175, 204, 205, 206, 208.

मल्लिनाथ—21, 172.

महादेव वेदान्ती—122.

महानग्नी—101, 102, 198, 199.

महाराज—181, 184, 185.

महाश्मशान—45.

महीधर—100, 101, 111.

माधव—165.

मानव-समूह—42, 93.

मामल्लपुरम्—50, 50 (पा. टि.).

मार्गार—81.

मित्र—21, 48, 52, 73, 125.

मीमांसकों—13.

मुद्गलानी—196.

मृगया—226.

मृगयु—81.

मृण्मुद्रा—108, 197, 198.

मृद्भाण्ड—68, 69, 81.

मेकिम मैरियट—223,

मेधावी—116, 133.

मैक्डॉनेल—20 (पा. टि.), 57, 60, 65, 67, 167, 176, 208 (पा. टि), 227

मैक्समूलर—60, 174 (पा. टि.), 189, 242 (पा. टि.).

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मैत्रय—37, 48, 49, 159, 165.

मैले—134 (पा. टि.).

मोहेनजोदड़ो—107. 202.

यज्ञ—27, 28, 47, 48, 59, 67, 74, 76, 87, 111, 115, 118, 128, 158, 160, 167, 192, 194, 233;—गृह—86.

यजमान—125, 128, 167, 174, 175, 176, 181, 185, 193, 233.

यमुना—65.

यतवर—233, (पा. टि.).

यव—74.

यायावर—15, 39, 40, 47, 51, 70, 93, 123, 164, 213;—गोचारक—47; यायावरीय जन समूह—18, 38; यायावरीय जीवन—15, 18, 43, 48, 49, 50, 54, 56, 57, 69, 75, 78, 80; यायावरीय निवास—147, 151; यायावरीय प्रजा—18, 39; यायावरीय स्थिति—39; यायावरीय वृत्ति—16, 39.

यास्क—19, 65, 84, 89, 98, 121, 174, 176 (पा. टि.), 180.

युद्ध—72, 76, 77, 114, 116, 117, 126, 133, 146, 147, 148, 164, 169, 170, 180.

युनिवर्सलाइजेशन—223.

यू. एन. घोषाल—221.

यूनानी—30-33, 37, 47, 48, 50, 53, 69, 84, 100, 104, 105, 120, 134, 147, 214;—भाषा—30; यूनानी रोमन स्तरीकरण—30.

यूप—47, 111.

योक—18; योग—18, 19, 38, 39, 89, 213; योगक्षेम—41.

योगेश अटल—222 (पा. टि.).

योनि—108.

रथ—18, 19, 31, 32, 44, 47, 50, 52, 54, 123, 162, 170, 180, 216;—एस्ता—30, 171;—क्षय:—19, 32, 47, 49, 51, 54, 89;—निवास—

State Museum Library Lucknow (7149)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

19, 50, (पा. टि.), 51; रथाकार भवन—19, 50; रथारूढ़—87, 161, 167, 180; रथष्ट—115, 170; रेथ—32, 50; रेथिम—32, 50; रोत—32, 50.

रमेश चन्द्र मजुमदार—227, 235 (पा. टि.), 236 (पा. टि.).

रॉक हिल—235 (पा. :ट.).

राक्षस—136.

राजा—20, 21, 30, 74, 76, 77, 99, 115, 123, 125, 128, 129, 133, 138, 139, 151, 154, 155, 159, 161, 167-176, 178-181, 185, 186, 215, 227, 228, 230, 231, 233, 234, 237, 238, 181, 254, 255; रजस्—123; रश्त—30; राश्त—21, 30; राजाधिराज—186; महाराजाधिराज—186; रेक्स—21, 30, 172; रेग—21, 173, 174, 176; रेगो—30, 173, 174, 176; रोथ—50; रोद् 32, 50; राज्य 21, 123, 151, 176, 177, 181, 215, 229, 230-232, 240, 241, 245; राज्यक्षेत्र—166, 167, 179; राजत्व—147, 154, 155, 167; राजन्—87, 88; राजन्य—140, 148, 165, 170, 171; राजनीतिक संस्था—30; राजनीतिक स्थिति—33; राज राज-शब्दोपजीवी—216; भौज्य—215;—वैराज्य—215, 220, 227-230, 234; साम्राज्य—181.

रॉथ—20 (पा. टि.), 57, 64, 72, 75, 93 (पा. टि.), 94 (पा. टि.).

रॉलैण्ड जी. केण्ट—71 (पा. टि.).

रिसेसिव एक्सेंचुरेशन—101.

रीस डेविड्स—24 (पा. टि.), 124 (पा. टि.).

रुद्र—156, 205

रोमिलाथापर—146, 147 (पा टि.).

लक्ष्मण सरूप—98.

लांगल—197, 200, 213.

लिंग—101, 108.

लिंगाकार—107.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिटिल ट्रेडिशन—223.

लुडविग—61.

लेंगडन—95.

लेनार्डबूली—152 (पा. टि.).

लैटिन—32, 33, 37, 44, 50, 59, 84, 104, 120.

लोक—123.

वज्र—79, 85.

वर्ण—88, 160, 165.

वर्नरविण्टर—154 (पा. टि.).

वन—102, 239, 240, 245, 253, 254; वनी—40-43; वनस्पति—101, 102, 106; वानप्रस्थ—15, 16.

वरुण—21, 48, 52, 59, 71, 72, 73, 97, 125, 128, 129, 132, 134, 140, 153, 161, 162, 164, 166-169, 173, 178, 179.

वरूथ—26.

वसिष्ठ—113.

व्याकरण परम्परा—33.

व्यास नदी—27, 64, 65.

वास्चपति गैरोला—220 (पा. टि.).

वाण—158; —सन्धान—14.

वाणिज्य-व्यापार—22.

वात्सप्र—19, 39-43, 51, 89.

वान्यावृत्ति—17.

वायु—39, 40, 162.

वाल्दे पोकॉर्नी—47, 48, 50 (पा. टि.), 54, 104, 151, 156, 165, 177 (पा. टि.).

वासुदेव शरण अग्रवाल—46, 53, 88 (पा. टि.), 194 (पा. टि.), 203 (पा. टि), 252 (पा टि.).

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वास्तुकला—41.

वास्तु-परम्परा—40.

वास्तु-शास्त्र प्रणोता—40.

वास्त्र्य—30, 70.

वाहन—32, 44, 47, 48, 50, 53, 56, 89.

वाहीक प्रदेश—88.

विचार परम्परा—18.

विजय बहादुर राव—228 (पा. टि.), 229 (पा टि.).

विनशन—27.

विन्फ्रेड पी. लेहमन—127, 147 (पा. टि.).

विप्र—73, 132, 133.

विराज—182, 183, 190, 191, 210, 214.

विराट्—87, 181, 183, 184, 190, 215, 227, 228.

विल्व—101.

विवर—98.

विवेकानन्द—189.

वि. वि. इवानोव—127 (पा. टि.).

विश्—30, 38 (पा. टि.), 93, 118, 125, 126, 132, 147, 165, 171, 215; विश्पति—20, 74, 76, 77, 87, 88; मानुषी विश्—80.

विश्व—39, 43, 72, 74, 123, 128.

विश्वकर्मा—41.

विश्वामित्र—46, 47

विष्णु—39, 48, 209.

विष्णुक्रम—10, 39, 40, 42, 89, 213.

वी. एस. पाठक—93 (पा. टि.).

वीवथ—17.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वी. वी. मिराशी—242.

वुलर समुद्र—61.

√वृज् (वर्जने)—20; वृजन—19, 20, 31, 32, 48, 69, 70, 73-78, 90, 93; अवम वृजन—73; निकृष्ट वृजन—73; प्राचीन वृजन—73; मानुष वृजन—73, 74; वॅरॅजॅन—20, 69, 70, 71; वॅरॅजॅने—70; वॅरॅजान—20, 32, 69; वॅरॅजॅन्य—70; वॅरॅजॅन्यो—70; वर्ज—20; वर्जेन—100; वर्दन—20, 32, 33, 69, 70, 71; वर्धन—32, 33, 70; वर्दोन—32, 70; वार्डेन—70; वृजनस्यगोपा—153; वृजनस्य राजा—153.

वृत्र—61; —हन्ता—87.

वृषभ—59, 73, 130, 137, 139; —नीड—58.

वृहस्पति—59, 79, 116.

वेन्द—81.

वेल्श—50, 53.

वोपदेव—14, 49.

वैचित्र्यी—14, 15.

वैदेह—47.

वैण्ड—82.

वैराज्य—151, 164, 181, 182, 234-236.

वैलस्थान—45.

वैश्य—22, 100, 101, 118, 119, 132, 140, 148, 171, 215, 232, 243.

वैश्वानर—43, 45.

√व्रज् (गतौ)—20, 71; एर्गो—20, 69; गोनाम व्रजम्—72; गोव्रज—71 (पा. टि.); व्रज—19, 20, 32, 48, 69, 72, 90, 214, 216, 251; व्रजन—73, 216; व्राजपति—72, 90.

शंकराचार्य—14.

शकट—41, 42, 44, 82, 89; —नीड—42.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

शम्या—101, 108.

शर्यणावत्—27, 60-63, 66, 67.

शयणावन्त—61.

शाकटायन—48, 49, 165.

शाट्यायन—62.

शॉपेन हॉवर—189.

शाम शास्त्री—237, 238 (पा. टि.), 239, 240 (पा. टि.), 245 (पा. टि.), 247 (पा.टि.), 248 (पा. टि.), 249 (पा. टि.), 250 (पा. टि.), 253 (पा. टि.), 255 (पा. टि.).

शाला—44; शालीन—15, 18, 40; शालेय—40, 41, 43;—जीवन—48, 84.

शिप्र—203, 204, 205, 213.

शिलर—189.

√शृध्—159, 160; शर्ध—31, 45, 151, 159, 161, 162, 163, 165, 171, 215; अग्निशर्ध—160; इन्द्रवरुण शर्ध—160; उग्र शर्ध—161; उदगूर्त शर्ध—161; दिव्यशर्ध—160; मनुष्यों के शर्ध—160; मारुत शर्ध—160, 161, 162; राक्षसी शर्ध—160; सर्द—31, 60; हर्ट—31; हर्टि—31; हर्ड—31.

शेफर्ड—151, 152, 160.

श्मशान—45, 52.

श्री—190-193, 195, 199, 210, 214.

श्रृंग—201-206, 213; श्रृंगी—201, 202; भूरि श्रृंग—210, 214.

श्रेष्ठी—22.

षण्णिवर्त्तनी—16.

संग्रहण—247, 250.

संचरण—39, 42;—शील—147;—शीलता—18, 38, 39, 40, 41, 49, 50, 89; संचरण शील ग्राम—89; संचरणशील निवास—31, 32, 44, 47, 89, 216; संचरणशील यान—44.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संतानोत्पत्ति—101; संतानोत्पादन 195, 197.

संस्कृताइजेशन—243.

सजात—100.

सप्य—47.

सभा भवन—56; सभा स्थाणु—54; सभा स्थान—56.

समुद्रगुप्त—14.

सम्राट्—87, 128, 131, 132, 137, 138, 139, 167.

सरस्वती—27, 28, 58, 61, 65, 66, 67;—क्षेत्र—58.

सरहिन्द—66.

सर्वोक्रेटियन—59.

सवन—67.

सविता—72, 98, 140.

सस्य—109; सस्योत्पत्ति—101; सस्योतपादन—90, 195, 197, 200, 207, 208, 210, 213.

सहदेव—50 (पा. टि.);—रथ—50.

सामाजिक वर्ग—95.

सामाजिक संगठन—33.

सामाजिक स्तरीकरण—30, 146, 147, 148, 164, 215, 221, 230.

साम्राज्य—51, 59, 151.

सायण—37, 48-50, 53, 57-60, 62-65, 72, 74, 75-77, 82, 85, 87, 88, 90, 94, 96, 98, 100, 106, 114-117, 123-136, 138, 139, 143, 153, 156, 160-163, 165-170, 173-175, 177- 204, 208.

सारस्वत प्रदेश—27, 47, 67.

सासानी—30;—काल—130.

सिद्धेश्वर वर्मा—53, 84, 121, 124 (पा टि.), 134 (पा टि.), 165 (पा. टि.), 173 (पा. टि.), 176 (पा. टि.), 178 (पा. टि.), 181 (पा. टि.).

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सिनीवाली—209, 210.

सिन्धु—27, 67;—नदी—66;—प्रदेश—27, 29, 66.

सी. डी. बक—18, 24 (पा. टि.), 38 (पा. टि.), 50 (पा. टि.), 53, 60, 84 (पा. टि.), 120 (पा. टि.), 134 (पा. टि.), 151 (पा. टि.), 160 (पा. टि.), 172 (पा. टि.),

सीर—105, 106.

सुदास—168.

सुमेरीय चित्रांक—95.

सुरभित अन्न—82, 83.

सुशोम—27, 60, 61, 64, 65. 66, 67.

सुहोत्र—68.

स्रुवा—204.

सूसा अभिलेख—71.

सेना—74-76, 122, 124, 125, 133, 161, 162, 163, 167, 180, 185;—नायक—172;—पति—163; सैनिक—117, 161, 170, 238, 246;—वर्ग—152, 160, 161, 163, 165, 171, 215;—समूह—31; सैन्य दल—166, 167;—बल—169.

सैन्धव सभ्यता—46

सोम—61, 64-66, 76, 77, 86, 94, 102, 112, 117, 126, 130, 142, 157, 161, 162, 173, 193, 194, 201, 204, 209, 240;—पान—114;—रस—64, 142, 204.

सोहोत्र—68.

सौहोत्र—67.

स्कन्द स्वामी—121, 165.

स्टाइन गॉस—141 (पा. टि.).

स्तम्भ—55, 56, 195, 225.

स्तरीकरण—99, 146-148, 164, 170, 215, 221, 230.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

स्तुतिकर्ता—116, 118.

स्तोता—114, 116, 117, 162.

स्थानीय—247, 248.

स्थायी जीवन—54, 56.

स्थूण—52, 55, 169.

स्पैरियो—105.

स्वराधात्—100, 101.

स्वराज—77, 157, 159.

स्वराट्—20, 76, 87, 88, 175, 181.

स्वरित्—99, 100.

हक्सटेबल—68.

हरिहर नाथ त्रिपाठी—228.

हर्मेन लोमेल—71, 152 (पा. टि.).

हल—101, 102, 103, 104, 105, 106, 122, 196, 197, 200, 205, 207, 213;—वाहा—122;—विदारित भूमिरेखा—122.

हवि—83, 86, 110, 112, 163, 175; हविरन्न—86; हविर्लक्षण—87, 129.

हस्तिनापुर—87, 129.

हस्ती—23, 68.

हाखामनी अभिलेख—71.

हावेल—252.

हिलेब्रान्त—60, 61, 64.

ह्विटने—72, 106, 172 (पा. टि.).

ह्रद—46.

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लखनऊ

State Museum Library
7149
Lucknow

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)